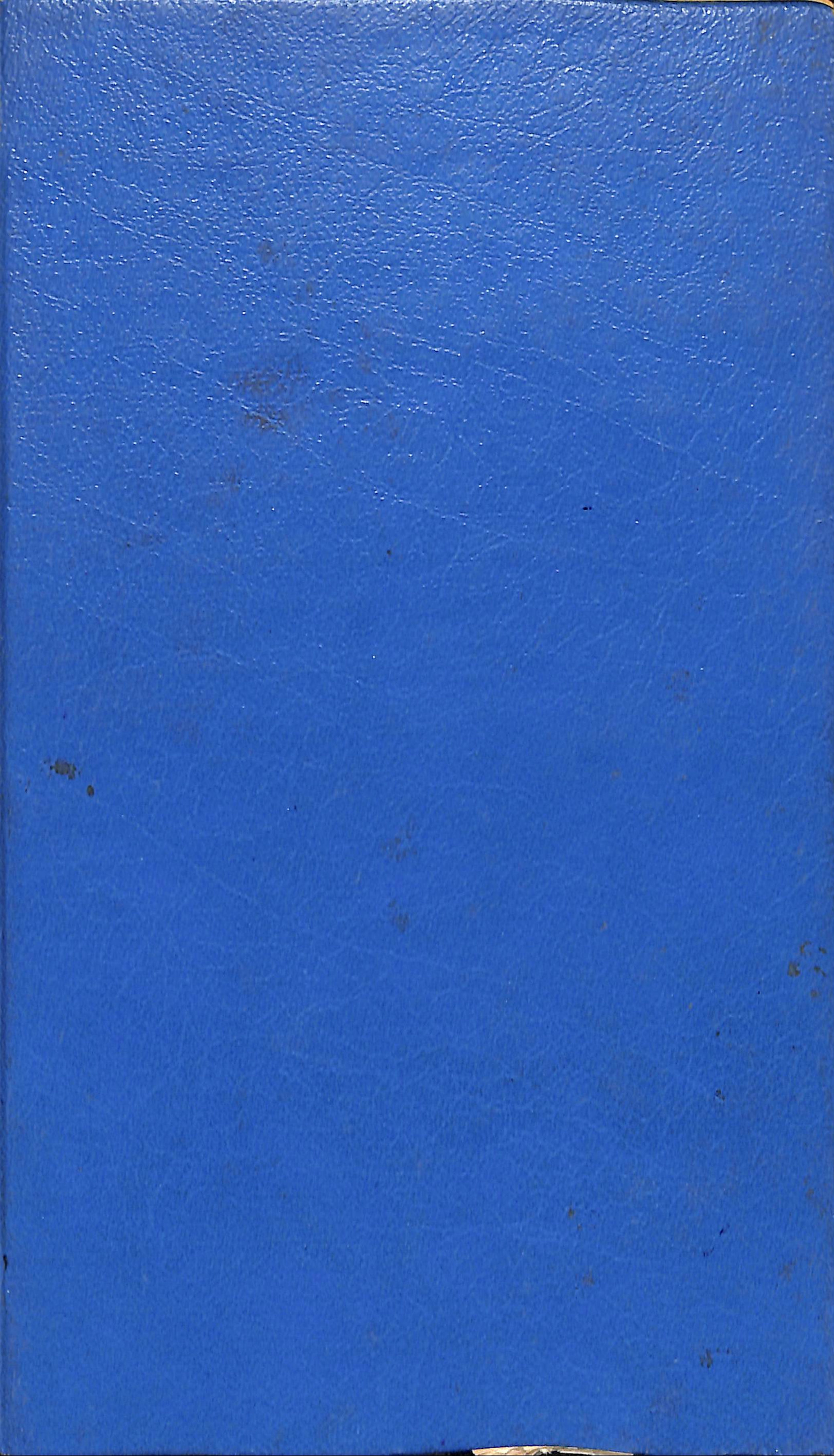


भाषा-विज्ञान



भोलानाथ तिवारी

भूमिका

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा डी० लिट् (पेरिस)
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय



किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५१

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।

मुद्रक—ए० डब्ल्यू० आर० प्रेस, इलाहाबाद।

श्रद्धेय गुरुवर

डॉ० रामकुमार वर्मा

को

सादर

परिचय

हिंदी में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी साहित्य इतना कम है कि इस विषय पर लिखी गई प्रत्येक पुस्तक का हिंदी भाषा-प्रेमी स्वागत करेंगे। जैसा कि भूमिका में स्पष्ट किया गया है, सुयोग्य लेखक का प्रस्तुत पुस्तक में विशेष मौलिकता का दावा तो नहीं है, किंतु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इस विषय सम्बन्धी सामग्री का संचय करने तथा उसे क्रमबद्ध रूप से सजाने में पूर्ण परिश्रम किया है। साथ ही भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नवीन खोज तथा दृष्टिकोण का यथास्थान समावेश करने पर भी पूरा ध्यान दिया है।

लेखक ने इस विषय का अध्ययन नियमित रूप से विश्वविद्यालय में किया था। यह प्रसन्नता की बात है कि इस जटिल विषय के प्रति उनका अनुराग बना रहा और वे अपने अध्ययन को अधिक व्यापक तथा पूर्ण बनाने में निरंतर यत्नशील रहे। वर्तमान पुस्तक उनके इस दिशा में सतत् परिश्रम का परिणाम है। मेरा विश्वास है कि पुस्तक उच्च कक्षा के विद्यार्थियों और इस विषय के प्रति अनुराग तथा जिज्ञासा रखने वाले साधारण पाठकों, दोनों के लिये हितकर सिद्ध होगी।

हिंदी प्रेमियों को आशा करनी चाहिये कि हिंदी साहित्य के इस आवश्यक किंतु साथ ही जटिल अंग की पूर्ति में सुयोग्य लेखक हाथ बटाते रहेंगे और उनकी लेखनी द्वारा लिखा भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अधिकाधिक प्रौढ़ साहित्य भविष्य में प्रकाश में आता रहेगा।

हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

धीरेन्द्र वर्मा
स्वतंत्रता दिवस, १९५१

लेखक की ओर से

एम० ए० के लिए भाषा-विज्ञान का अध्ययन करते हुए मैंने अनुभव किया था कि हिन्दी या अंग्रेज़ी में इस विषय पर बहुत अच्छी-अच्छी और विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों के होते हुए भी कोई एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें साधारण पाठकों तथा एम० ए० आदि के विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित सारी सामग्री एक स्थान पर सुलभ हो तथा जो विद्यार्थियों, विशेषतः हिंदी के विद्यार्थियों की कठिनाइयों का पूर्णतः ध्यान देते हुए लिखी गई हो। इसी अनुभव ने इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा दी। किन्तु प्रेरणा प्रेरणा ही रह जाती यदि प्रिय मित्र सत्येन्द्र शरत् की कल्पना का प्रोत्साहन न मिलता।

निश्चित हो जाने पर कार्य प्रारंभ हुआ। देशी-विदेशी सभी तरह की ईंटें लाई गईं, कुछ थोड़ी अपनी भी थीं। धीरे-धीरे जोड़ाई आरम्भ हुई और परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए किसी प्रकार यह मकान खड़ा हुआ। खड़ा होने पर ध्यान गया तो देखा कि चूना, गारा, चुनाई-जोड़ाई और काट-छाँट के अतिरिक्त यदि ईमानदारी और सच्चाई के साथ कहा जाय तो अपनी चीज बहुत कम है। उसी वक्त याद आया 'ऑल ओरिजिनैलिटी इज़ अनडिटेक्टेड थेफ़्ट'। संतोष हुआ। मित्रों ने देखा। उपयोगी बतलाया। कुछ और संतोष हुआ। विद्यार्थियों ने देखा। उपयोग किया। विश्वास हुआ। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने देखा। आशीर्वाद देने का आश्वासन दिया। संतोष, विश्वास और प्रसन्नता हुई।

और आज यह पुस्तक छप गई है। ईश्वर के आशीर्वाद से नहीं। अपने गुरुजनों के, मित्रों के, प्रकाशक के और अपने आशीर्वाद से।

पुस्तक लिखने में ग्रील, मैक्समूलर, ह्विटनी, बोवर, कार्लग्रेन, वेन्द्रिए, जेस्पर्सन, ब्लूमफील्ड, टक्कर, ग्रीयर्सन, टर्नर, बेलवेलकर, वुलनर, भंडारकर, ओझा, गुणे, चटर्जी, तारापूरवाला, श्यामसुन्दरदास, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, उदयनारायण तिवारी, मंगलदेव शास्त्री तथा नलिनी मोहन सान्याल आदि विद्वानों के ग्रन्थों, लेखों या भाषणों से सहायता ली गई है, जिसके लिए इनका चिर ऋणी हूँ। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, हिंदी विश्वभारती, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, हिंदुस्तानी तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी कुछ लेखों से सहायता मिली है! उनके लेखकों का भी आभारी हूँ।

'परिचय', लिखकर गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने मेरी पुस्तक को जो महत्व प्रदान किया है उसके विषय में मेरा और मेरी पुस्तक का मौन ही कृतज्ञता प्रकाशन कर सकता है। अपनी कल्पना को इस प्रकार पुस्तकाकार होते देखकर सत्येन्द्र शरत् को जो खुशी होगी, धन्यवाद सुनकर उसे समाप्त हो जाने की बहुत आशंका है, इसलिए इसकी कंजूसी ही अच्छी। उपयोगी सामग्री के चयन तथा उसके कुछ विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में पारसनाथ तिवारी, जयचंद राय, माताबदल जायसवाल, भोलानाथ, 'भ्रमर' तथा लक्ष्मीनारायण लाल आदि अभिन्न मित्रों से लड़ने-झगड़ने से भी बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिए जैसा कि उन लोगों का कहना है, वे मुझसे कम आभारी नहीं हैं।

पुस्तक के लेखन और प्रकाशन दोनों ही में श्री रामचन्द्र टन्डन तथा श्री विश्वंभर 'मानव' ने मेरी अमूल्य सहायता की है जिसके लिए मैं उन लोगों का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। पुस्तक के प्रकाशक, किताब महल के अध्यक्ष श्री श्रीनिवास अग्रवाल का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ जिनकी लगन एवं कृपा से कागज़ के इस संकट-काल में भी पुस्तक निकल सकी है, तथा जिन्होंने सत्तर से भी ऊपर ब्लाक देना स्वीकार कर पुस्तक की रोचकता एवं सुबोधता में वृद्धि की है। छपाई के लिए राम प्रेस के कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं।

वर्तनी की दृष्टि से 'कर्ता' 'वर्तमान' 'पुलिंग' आदि को ही हिंदी के शुद्ध शब्द मानकर मैंने प्रयुक्त किए हैं। यदि 'कर्त्ता' 'वर्त्तमान' या 'पुल्लिग' आदि शब्द मिलें तो वह प्रेस की उदारता मात्र है। काफ़ी स्थानों पर बेचारों ने मुझे अशुद्धियों से बचाने का प्रयास किया है। राजनीतिक तथा अंताराष्ट्रीय की अपेक्षा राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय ही मुझे हिंदी के शब्द लगते हैं, अतः इनका ही प्रयोग मिलेगा। अंत में रहीं छापे की अशुद्धियाँ तो उनके बिना हिंदी की पुस्तकों से हिंदीपन निकल जाता है! और इसे शायद कोई भी न चाहेगा!

सम्मति और सुझावों के लिए अपने पाठकों का सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

पुनर्जन्म दिवस, १२ अगस्त, १९५१
हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग। भोलानाथ तिवारी

विषय तालिका

६. अर्थ विचार

पहला अध्याय

प्रवेश

भाषा किसे कहते हैं ?

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में रहने के नाते उसे सर्वदा आपस में विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी हम स्फुट शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं तो कभी केवल सर हिलाने से हमारा काम चल जाता है। समाज के धनी-वर्ग में निमंत्रण देने के लिए पत्र लिखे या छपवाए जाते हैं तो गरीबों में हल्दी या सुपारी देना ही पर्याप्त होता है। स्काउट लोगों का विचार-विनिमय झंडियों द्वारा होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करते हैं नयनन ही सों बात'। चोर लोग अँधेरे में एक दूसरे का हाथ दबाकर ही अपने को प्रकट कर लिया करते हैं। इसी प्रकार करतल-ध्वनि, चुटकी बजाना, आँख घुमाना, आँख दबाना, खाँसना, उँगली दिखाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों द्वारा हमारे विचार-विनिमय का कार्य चलता है। इन साधनों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहले वर्ग में वे साधन आते हैं जिनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों का ग्रहण **स्पर्श** द्वारा होता है। जैसे चोरों का हाथ दबाना आदि। दूसरे वर्ग में वे साधन आयेंगे जिनके विचारों के समझने के लिए **आँख** की आवश्कता होती है। हल्दी बाँटना आदि इसी वर्ग के हैं। तीसरे वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण साधन आ जाते हैं, जिनके भावों का ग्रहण **कान** द्वारा होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि तीसरे वर्ग में केवल वे ही साधन आते हैं जिनसे किसी प्रकार सुनने योग्य ध्वनि उत्पन्न होती है।

व्यापक रूप से विचार-विनिमय के उपर्युक्त तीनों ही साधनों को **भाषा** कहा जा सकता है, पर साधारणतया **भाषा** का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लिया

जाता। वह केवल साधनों के अंतिम या तीसरे वर्ग तक ही सीमित मानी जाती है। बल्कि उसका रूप और भी सीमित हो जाता है क्योंकि उसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले सभी साधनों को स्थान न देकर केवल बोलने को स्थान दिया गया है।

अतः, भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निःसृत वह सार्थक ध्वनि-समष्टि है जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।*

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

ऊपर हमलोग भाषा की परिभाषा पर विचार कर चुके हैं। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास के अध्ययन से है। यह अध्ययन दो मार्गों द्वारा किया जाता है। प्रथम ऐतिहासिक मार्ग है। इसके अंतर्गत किसी एक भाषा के इतिहास या जीवन का अध्ययन किया जाता है। दूसरा तुलनात्मक मार्ग है। इसमें दो भाषाओं का विभिन्न दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इन दोनों अध्ययनों के आधार पर अंत में भाषा की आरंभिक अवस्था, विकास (बाह्य और आंतरिक) तथा गठन आदि के संबंध में सिद्धान्तों का निर्धारण होता है।

भाषा-विज्ञान के विभिन्न विभागों पर विचार करते समय विस्तार के साथ हम लोग इसके अंतर्गत किये जाने वाले कार्यों पर प्रकाश डाल सकेंगे। यहाँ इस साधारण विश्लेषण के बाद परिभाषा देकर आगे बढ़ना ही यथेष्ट होगा।

जिस विज्ञान के अंतर्गत ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा (विशिष्ट नहीं, अपितु सामान्य) की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं।

---

* कुछ लोग मनुष्य के मुख से निस्तृत सार्थक ध्वनि को ही भाषा कहते हैं पर इस आधार पर तो शोक में प्रकट की गई च् च् ध्वनि भी भाषा हो जावेगी क्योंकि सुनने वाला शोक का अर्थ उससे भी निकाल लेता है पर सत्य यह है कि उसे भाषा का नाम नहीं दे सकते, अतः भाषा कहलाने के लिए ध्वनि का अध्ययन और विश्लेषण के योग्य भी होना आवश्यक है।

भाषा-विज्ञान का नाम

यूरोप में इस विज्ञान के लिए सर्व प्रथम Philology (भाषा से प्रेम या शब्द से प्रेम) नाम का प्रचलन हुआ। १९वीं सदी में इस संबंध में तुलनात्मक (Comparative) अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया, अतः Comparative philology ने उसका स्थान ले लिया। कुछ दिनों के उपरान्त Comparative शब्द छोड़ दिया गया क्योंकि शास्त्रीय अध्ययन सदैव तुलनात्मक होता है, अतः यह पूछ व्यर्थ थी।

उस समय तक व्याकरण और भाषा-विज्ञान को लोग मूलतः अलग नहीं समझते थे अतः तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) का भी इसके लिए प्रयोग होने लगा। जर्मनी में Sprachwissenschaft नाम बहुत दिनों तक चलता रहा। फ्रांस वालों ने इसका नाम Linguistique रखा। यह नाम लोगों को पसन्द आया और आज भी यूरोप में Linguistique या Linguistic नाम का ही प्रचलन है। कुछ लोग Science of Language भी कहते हैं पर यह नाम अपेक्षाकृत बड़ा है अतः ठीक नहीं ज्ञात होता। अन्य विज्ञानों की भाँति इसके लिए भी एक शब्द कहना अधिक सुविधाजनक होगा।

बीसवीं सदी के आरंभ में श्री० टी० जी० टकर ने भाषा विज्ञान के लिए प्रचलित लगभग सभी शब्दों को आलोचनात्मक दृष्टि से अशुद्ध बतलाते हुए Glottology (Science of Tongue या भाषा-विज्ञान) नाम लोगों के समक्ष रखा और इसे सभी दृष्टियों से उचित सिद्ध किया। यह एक रहस्य है कि विद्वान इस नाम को भी न अपना सके।

आज Linguistic तथा Philology ये ही दो नाम प्रचलित हैं। भविष्य ही इसका निर्णय करेगा कि इन दोनों नामों में से कौन-सा नाम लोगों को अधिक मान्य होगा।

हिन्दी में भी इस विज्ञान के लिए कई शब्द प्रचलन में आते रहे हैं। इनमें से प्रधान भाषा-तत्व, भाषा शास्त्र, भाषा विचार, तुलनात्मक भाषा शास्त्र, तुलनामूलक भाषा-विज्ञान आदि हैं। आज कल भाषा-विज्ञान नाम अधिक प्रयुक्त हो रहा है। यद्यपि इस संबंध में पूर्ण निश्चय तो नहीं हुआ है पर यह नाम प्रत्येक दृष्टि से सुन्दर है, अतः यदि हम लोग इसे ही अपना लें तो कदाचित् अनुचित न होगा। हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य सम्मुन्नत भाषाओं के लिए भी यह नाम अधिक उपयोगी एवं समीचीन है।

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला ?

नाम से तो यही ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान अवश्य ही शुद्ध रूप में एक विज्ञान है; पर यथार्थतः यह बात नहीं है । यदि विज्ञान का अर्थ केवल विशुद्ध या सम्यक या विशेष ज्ञान ही है तो भाषा-विज्ञान विज्ञान कहा जा सकता है। पर विज्ञान में कुछ और भी बातें आवश्यक हैं उसमें विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं। उसके नियम सर्वत्र लागू होते हैं, और उनका फल भी एक होता है। सूखी लकड़ी जलाने पर जलती है; हवा गर्म करने पर हलकी होती है—विज्ञान के ये शाश्वत नियम हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान में यह निश्चितता नहीं है। 'धर्म' और 'कर्म' एक से शब्द हैं; पर एक का विकास आज 'धरम' के रूप में हुआ है दूसरे का 'काम' के रूप में। यदि 'धर्म' का आज 'धाम' रूप मिलता तो शायद भाषा-विज्ञान को शुद्ध-विज्ञान कहा जा सकता। दूसरी ओर भाषा-विज्ञान पूर्णतः कला भी नहीं है। कला का प्रधान कार्य मनोरंजन और व्यावहारिक उपयोग है। सभी ललित कलाएँ तथा उपयोगी कलाएँ इस संबंध में उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं। पर क्या भाषा-विज्ञान भी हमारा इस प्रकार का मनोरंजन करता है या इसका कोई व्यावहारिक उपयोग भी है? इस प्रश्न पर विचार करने से पता चलता है कि भाषा-विज्ञान केवल ज्ञान-पिपासा को शांत करता है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान का स्थान कला तथा विज्ञान दोनों के बीच में है। कुछ बातों में यह उठकर विज्ञान की श्रेणी में चला जाता है और कुछ बातों में कला की श्रेणी में। हाँ, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कला की अपेक्षा यह विज्ञान की ओर अधिक झुका हुआ है। इसीलिए इसका नाम भी भाषा-विज्ञान है।

भाषा-विज्ञान और व्याकरण का अंतर

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भाषा विज्ञान की ओर अधिक झुका हुआ है। उससे व्यावहारिक लाभ विशेष नहीं है परंतु व्याकरण हमारे दैनिक काम की चीज है। वह भाषा की साधुता और असाधुता को स्पष्ट कर बोलने वाले की सहायता करता है। अतः उसका झुकाव कला की ओर अधिक है।

दोनों का ही संबंध भाषा से है; पर इनका दृष्टिकोण एक नहीं है। किसी एक भाषा के अध्ययन पर या उसकी साधुता और असाधुता को

और व्याकरण का ध्यान रहता है; परंतु भाषा-विज्ञान का किसी एक भाषा से संबंध नहीं। वह तो सामान्य रूप से भाषा का अध्ययन कर सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यदि किसी भाषा पर विचार भी करता है तो प्रत्येक शब्द पर तर्क वितर्क करते हुए। भाषा-विज्ञान सीधे यह नहीं कह देगा कि आज हिन्दी में 'जाना' धातु का सामान्य भूत 'गया' होगा जैसा कि व्याकरण कहता है। वह जाँच-पड़ताल आरंभ करेगा। 'जाना' की उत्पत्ति कहाँ हुई ? कैसे-कैसे ध्वनि परिवर्तन होता गया ? अर्थ में भी कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं ? इत्यादि। यदि कोई संस्कृत में 'एकादश' न कहकर 'एकदश' कहे तो व्याकरण केवल असाधु प्रयोग कह कर मौन हो जायगा; किंतु भाषा-विज्ञान इसे स्पष्ट करेगा कि 'एकदश' ही कभी शुद्ध रहा होगा पर बाद में 'द्वादश' के साहश्य से उसे 'एकादश' हो जाना पड़ा। अतः आज प्रचलित या विकसित रूप 'एकादश' है। इस प्रकार व्याकरण के मूल का पूर्ण विवेचन भाषा-विज्ञान का कार्य है।

एक प्रकार से व्याकरण भाषा-विज्ञान का अनुगामी है। नए विकासों को भाषा-विज्ञान सकारण समझता जाता है और फिर उसे व्याकरण साधु मानता चलता है। इसी कारण फ्रांस आदि देशों में प्रति दसवें वर्ष व्याकरण में परिवर्तन कर दिया जाता है।

भाषा-विज्ञान का संबंध भाषा के अधिक से अधिक जीवित रूप से होता है पर व्याकरण इतना प्रगतिवादी नहीं है। वह जीवित रूपों को प्रारंभ में असाधु मानता है। हाँ कुछ दिन में उसे भाषा-विज्ञान के आगे झुकना अवश्य पड़ता है, और उस आसाधु को साधु स्वीकार करना पड़ता है। आज भाषा-विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनांत माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है। पर यदि भाषा में आज 'राम्', 'धाम्', 'आम्' आदि लिखा जाय तो वैयाकरण लोग नाक-भौं सिकोड़ेंगे। हाँ कुछ दिनों बाद अवश्य ही नाक-भौं सिकोड़ने का कोई कारण नहीं रह जायेगा। इससे स्पष्ट है कि व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है और इसकी तुलना में भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी या नवीनतावादी। यह व्याकरण की प्राचीनवादिता का ही परिणाम है कि 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' जैसे नाम पड़े और दूसरी ओर यह भाषा-विज्ञान की प्रगतिवादिता का ही ज्वलन्त उदाहरण है कि यह 'धर्म' से 'धम्म' या 'धरम' हो जाने को 'अवनति' या 'विकार' न मानकर

'विकास' मानता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण और उसका अग्रणी है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभाग

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में भाषा संबंधी लगभग सभी प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है। इनमें से कुछ प्रश्न तो अपना अधिक महत्त्व रखते हैं और कुछ साधारण, यद्यपि यह महत्त्व इतना कम नहीं होता कि उनको छोड़ दिया जा सके। इस प्रकार इन प्रश्नों या विभागों के प्रधान और गौण दो वर्ग बनाए जा सकते हैं।

(क) प्रधान

हम ऊपर कह चुके हैं कि भाषा का प्रधान कार्य विचार-विनिमय है और विचार-विनिमय वाक्यों द्वारा किया जाता है; अतः वाक्य ही भाषा में सबसे अधिक स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। भाषा-विज्ञान के जिस विभाग में इसका अध्ययन होता है उसे वाक्य-विचार कहते हैं।

(१) वाक्य-विचार (Syntax)

इसे कुछ लोग तुलनात्मक वाक्य-विचार (Comparative syntax) भी कहते हैं। इसमें वाक्य के गठन का अध्ययन करना पड़ता है। इसके दो रूप हैं (१) ऐतिहासिक वाक्य विचार (Historical syntax) तथा (२) तुलनात्मक वाक्य विचार (Comparative syntax.)।

वाक्य-विचार के अध्ययन के दोनों ही रूप बहुत कठिन हैं। ऐतिहासिक वाक्य-विचार में किसी भाषा के आरंभ काल से वर्तमान काल तक के वाक्य बनाने के नियमों पर विचार करना पड़ता है। इसके लिए उस भाषा के प्राचीन काल के बोलने वालों के मनोविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। अतः कम लोग इसका अध्ययन कर पाते हैं। तुलनात्मक वाक्य-विचार तो और भी अधिक कठिन है। जब तक दो भाषाओं का पूर्ण ज्ञान न हो, उनके वाक्य-विचार का अध्ययन नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्य-विचार का तुलनात्मक अध्ययन असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि इस पर अभी तक विशेष कार्य नहीं हो सका है।

(२) रूप-विचार (Morphology)

वाक्य का निर्माण शब्दों से होता है अतः वाक्य के बाद शब्द

रूपों का विचार आवश्यक हो जाता है। रूप-विचार के अंतर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय तथा विभक्ति आदि उन सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है जिनसे शब्द बनते हैं। इसका अध्ययन लोगों ने वाक्य-विचार की अपेक्षा अधिक किया है।

(३) ध्वनि-विचार (Phonology)

शब्द ध्वनियों के संयोग से बनते हैं अतः शब्दों पर विचार करने के उपरान्त ध्वनि-विचार के अंतर्गत ध्वनियों पर विचार किया जाता है। इसी के अंतर्गत ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) का भी एक विभाग है जिसमें ध्वनि से संबंध रखने वाले अवयवों (मुख-विवर, नासिका-विवर, स्वर-तंत्री तथा ध्वनि-यंत्र), ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया तथा ध्वनि लहर और उसके सुने जाने का अध्ययन होता है।

ध्वनि-विचार के अंतर्गत ध्वनि-परिवर्तन या ध्वनि विकास पर उसके कारणों और दिशाओं के विश्लेषण के साथ विचार होता है। ध्वनि-विज्ञान के अतिरिक्त ध्वनि-विचार के अध्ययन के दो रूप और हैं। एक तो तुलनात्मक है जिसमें एक कुल की भाषाओं को लेकर ध्वनि-विकास पर विचार कर नियम-निर्धारण होता है। ग्रिम नियम के प्रथम भाग का संबंध इसीसे है। दूसरा रूप ऐतिहासिक है, जिसमें एक भाषा के इतिहास का ध्वनि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इससे यह पता चलता है कि भाषा में किस ध्वनि का कब और क्यों परिवर्तन हुआ।

इन दोनों दृष्टियों से अध्ययन करने के बाद भाषा के ध्वनि संबंधी सामान्य नियम बनते हैं। आगे विचार करते समय हम इन सामान्य नियमों पर ही विचार कर सकेंगे क्योंकि यहाँ किन्हीं एक दो भाषाओं को लेकर हमें नहीं चलना है।

(४) अर्थ-विचार (Semantics)

भाषा का शरीर वाक्य से चलकर ध्वनि की एक इकाई पर समाप्त होता है। इसके बाद हमें उसकी आत्मा पर विचार करना पड़ता है। आत्मा से हमारा तात्पर्य अर्थ से है। भाषा-विज्ञान का यह विभाग मनुष्य के मस्तिष्क से संबंध रखने के कारण बहुत ही आकर्षक पर सूक्ष्म है। इसी कारण इसमें भी विशेष प्रगति अभी तक नहीं हो सकी है।

इस विभाग में प्रधानतः शब्दों के अर्थ-परिवर्तन तथा उसके कारणों पर विचार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के अध्ययन का एक मनोरंजक विषय यह भी है कि किसी शब्द या ध्वनि का एक निश्चित् अर्थ कैसे हुआ। अर्थात् 'अश्व' का अर्थ 'घोड़ा' ही क्यों हुआ 'हाथी' क्यों नहीं हुआ? दूसरे शब्दों में इसी प्रश्न को हम यों कह सकते हैं कि ध्वनि और अर्थ का कोई सहजात संबंध है या नहीं। इस प्रश्न पर भारत में यास्क के समय से ही विचार होता आया है पर कोई निश्चित् उत्तर नहीं दिया जा सका। इसी प्रकार यूरोप में प्लेटो के समय से ही लोग इस पर व्यर्थ सर खपाते चले आ रहे हैं। आज भी यह प्रश्न एक पहेली है, अतः इस विषय पर हम लोग आगे विस्तार के साथ विचार न कर सकेंगे। इस संबंध में यहाँ इतना और जोड़ देना अनुचित न होगा कि कुछ शब्दों में (पत्ता, गड़गड़, भोंपू) तो ध्वनि का अर्थ से कुछ संबंध है पर शेष में यह संबंध केवल हमारा माना हुआ है।

(ख) गौण

गौण विभागों या प्रश्नों में भी कम आकर्षक सामग्री नहीं है। इनमें से कुछ तो शायद गौण इसी लिए हैं कि उनके अध्ययन का अभी विकास नहीं हुआ है। एक बात इस संबंध में और जान लेने योग्य है कि इस विभाग के सभी विषय स्वतंत्र विभाग नहीं कहे जा सकते। वे प्रधान के आधार पर प्रयोग मात्र हैं, पर उन पर अलग विचार अनावश्यक नहीं है।

(१) भाषा का आरंभ

भाषा-विज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक पर विचित्र प्रश्न भाषा की उत्पत्ति का है। इस पर विद्वानों ने तरह तरह से विचार कर, अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वेन्द्रिए आदि कुछ विद्वान तो इस प्रश्न को भाषा-विज्ञान के अंतर्गत मानते ही नहीं; पर यह सचमुच ठीक नहीं। जब भाषा का पूरा जीवन हमारे अध्ययन का विषय है तो उसके जन्म के प्रश्न को हम कैसे ठुकरा सकते हैं? इस प्रश्न के संबंध में भी अभी तक कोई निश्चित उत्तर हम तैयार नहीं कर सके हैं और न निकट भविष्य में ही इस प्रकार की कोई आशा है।

(२) भाषाओं का वर्गीकरण

ऊपर के प्रधान विभाग के अंतर्गत कहे गए चारों उपविभागों के

आधार पर प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हम संसार की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर उनका वर्गीकरण करते हैं। इसी आधार पर यह भी निश्चित होता है कि कौन कौन भाषाएँ एक कुल की हैं। साथ ही इससे अर्थ या ध्वनि संबंधी अनेक गुत्थियों पर प्रकाश भी पड़ता है। इसके अतिरिक्त केवल वाक्य विचार के आधार पर भी विश्व की भाषाओं का अध्ययन तथा वर्गीकरण किया जाता है।

इस प्रकार यह भाषा विज्ञान का स्वतंत्र विभाग न होकर चारों के आधार पर अध्ययन का एक पृथक् कक्ष मात्र है।

(३) व्युत्पत्ति शास्त्र (Etymology)

भाषा-विज्ञान का आरंभ प्रधानतः इसी से हुआ है। सच पूछा जाय तो यह भी स्वतंत्र विभाग नहीं, बल्कि ध्वनि, अर्थ और रूप विचार का सम्मिलित प्रयोग है। इसके अंतर्गत किसी शब्द के पूरे जीवन तथा उसके आन्तरिक और बाह्य परिवर्तनों पर विचार किया जाता है। कभी कभी तो इसका विवेचन ललित कलाओं की भाँति आकर्षक और मनोरंजक हो जाता है।

(४) शब्द समूह (Vocabulary)

इस विषय में भाषा के शब्द समूह पर कई दृष्टियों से विचार किया जाता है, जिनमें प्रधान निम्न हैं :— १. शब्द-समूह में परिवर्तन क्यों और कैसे होता है ? २. नए शब्द कैसे बनते हैं ? ३. उधार-शब्दों (विदेशी को स्वीकार करना कहाँ तक ठीक है ?

इस अध्ययन से भी बोलने वालों की विचार धारा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह प्रश्न कम मनोरंजक नहीं है कि कभी का एक बहुत प्रचलित शब्द कुछ समय बाद ऐसा हो जाता है कि उसका उच्चारण करना भी लोग नहीं पसन्द करते। दूसरी ओर घृणित शब्द भी कभी-कभी अपना लिए जाते हैं।

(५) प्रागैतिहासिक खोज (Urgeschichte)

यह भाषा-विज्ञान का नवीनतम विभाग है। इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति पर प्रकाश डाला जाता है। मनुष्य के पास उस कल के संबंध में कुछ जानने के लिये अभी तक कोई साधन नहीं

था या था भी तो अपर्याप्त, पर भाषा-विज्ञान के इस विभाग ने अब एक नवीन आशा की किरण दे दी है। अभी तो इसकी शैशवावस्था है, पर संभव है कि इस आधार पर हम निकट भविष्य में उस काल का विशेष परिचय पा सकें।

(६) लिपि

लिपि की उत्पत्ति, उसका विकास, वर्तमान और भविष्य तथा उपयोगिता के संबंध में विचार करना भी भाषा-विज्ञान का कार्य है। ध्वनि विचार की सहायता से भाषा-विज्ञानी लिपि को वैज्ञानिक रूप से सुधार कर अधिक उपयोगी भी बना देता है। इस शीर्षक के अंतर्गत इन सभी विषयों पर विचार किया जाता है।

(७) शेष

उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के प्रधान विभागों के आधार पर भाषा की प्रकृति, उसके विकास तथा एक से दो भाषाओं के बनने आदि पर भी विचार किया जाता है। साथ ही भाषा-विज्ञान को अपनी आत्मकथा भी लिखनी पड़ती है जिसे भाषा-विज्ञान का इतिहास कहते हैं।

भाषा विज्ञान से लाभ

इस विषय पर ऊपर यत्र तत्र हमने विचार किया है। यहाँ संक्षेप में उनको गिनाया जा सकता है।

(१) चिरपरिचिता भाषा के संबंध में जिज्ञासा की तृप्ति।

(२) ऐतिहासिक और विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति और सभ्यता पर प्रकाश।

३) किसी जाति या संपूर्ण मानवता के मानसिक विकास की चिन्ताधारा का प्रत्यक्षीकरण।

(४) प्राचीन साहित्य की अर्थ, उच्चारण एवं प्रयोग संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान।

५) विश्व-बन्धुत्व की भावना की वृद्धि (कुछ राष्ट्रों तथा जातियों को मूलतः अपने कुल का पाकर या विश्वभर में विचारों की एकता देखकर)।

तथा (६) भविष्य के लिए भाषा, लिपि, मानसिक स्तर आदि के संबंध में पहले से अनुमान में सहायता और उस आधार पर पतन से बचाने के प्रयास में सफलता आदि।

इसके अतिरिक्त आनुषंगिक रूप से भाषा-विज्ञान से हमारे लगभग सभी विज्ञानों को कुछ न कुछ सहायता मिलती है। भाषा-विज्ञान भाषा के संबंध में कार्य करता है और भाषा के ही सहारे केवल विज्ञान ही क्या संसार के सभी कार्य चलते हैं। इस प्रकार भाषा-विज्ञान बहुत ही लाभकर एवं महत्त्वपूर्ण विषय है।

भाषा-विज्ञान से मनुष्य के अन्य ज्ञानों का संबंध

(क) व्याकरण

ऊपर भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि व्याकरण केवल 'क्या' का उत्तर-देता है—अर्थात् सामग्री संकलित कर देता है और फिर भाषा-विज्ञान व्याख्या-प्रधान होने के कारण उस 'क्या' के संबंध में 'क्यों' 'कब' और 'कैसे' की जिज्ञासा शांत करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विज्ञान के लिये सामग्री व्याकरण प्रस्तुत करता है पर साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि व्याकरण को आगे बढ़ाने का कार्य भाषा-विज्ञान ही करता है, क्योंकि वह जीवित भाषा में आने वाले विकारों और परिवर्तनों को समझ लेता है, तत्पश्चात् उसे व्याकरण अपने यहाँ स्थान देता है। आज भाषा-विज्ञान हिन्दी के संबंध में कह सकता है कि उत्तम पुरुष एक बचन 'हम' है और बहुबचन 'हम लोग' परंतु व्याकरण अभी तक 'मैं' तथा 'हम' को ही शुद्ध मान रहा है। संभव है कुछ ही दिनों में भाषा-विज्ञान की यह बात बेचारे व्याकरण को स्वीकार करनी पड़े।

(ख) साहित्य

भाषा-विज्ञान साहित्य से, विशेषतः प्राचीन साहित्य से अपने लिए सामग्री प्राप्त करता है और उसके बदले में साहित्य की अर्थ, उच्चारण, प्रयोग आदि संबंधी प्राचीन शंकाओं का समाधान करता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और साहित्य दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

(ग) मनोविज्ञान

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत गहरा संबंध है। भाषा विचारों की वाहिनी है और विचारों का सीधा संबंध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस प्रकार भाषा की आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषा-विज्ञान

मनोविज्ञान से बहुत अधिक सहायता लेता है। विशेषतः अर्थ विचार तो पूर्णतः मनोविज्ञान पर आधारित ही है। दूसरी ओर प्राचीन मनोविज्ञान को समझने में भाषा-विज्ञान की दी हुई सामग्री तथा उसका विश्लेषण बहुत कार्य करता है। यों भी जब भाषा के सहारे ही मनोविज्ञान को चलना है तो भाषा-विज्ञान के बिना उसका कार्य चल भी कैसे सकता है ?

(घ) शरीर विज्ञान

यहाँ संबंध एकांगी है। प्रमुख रूप से केवल भाषा विज्ञान को शरीर विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि ध्वनि विचार का एक विभाग ध्वनि विज्ञान है जिसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाले अवयवों का अध्ययन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'भाषा सुनी कैसे जाती है ?' या 'ध्वनि का ग्रहण कैसे होता है ?' इसके लिए हमें कान की बनावट का अध्ययन करना पड़ता है। इन सभी का अध्ययन सीधे शरीर विज्ञान से संबंध रखता है।

(ङ) भूगोल

जलवायु तथा प्राकृतिक वातावरण का ध्वनि पतिवर्तन पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। जिसके लिए भाषा-विज्ञान को भूगोल की शरण लेनी पड़ती है। अर्थ-विचार में भूगोल हमारी बहुत सहायता करता है। 'उष्ट्र' का अर्थ 'भैंसा' से 'ऊँट' कैसे हो गया तथा 'सैंधव' का अर्थ 'घोड़ा' और 'नमक' ही क्यों हुआ आदि समस्याओं पर विचार करने में भी भूगोल की सहायता अपेक्षित है। प्रागैतिहासिक काल के भूगोल के अध्ययन में दूसरी ओर भाषा-विज्ञान भी कुछ सहायता देता है।

(च) इतिहास (राजनीति, समाज, धर्म)

अर्थ, ध्वनि, रूप और वाक्य-गठन के परिवर्तन के विश्लेषण में जातिओं धर्मों और विदेशियों का प्रवेश करना बहुत सामग्री देता है। यों भी समाज तथा धर्म के परिवर्तन का प्रभाव विशेष रूप से शब्दों के अर्थ पर पड़ता है। अतः इन सब के लिए राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास की शरण भाषा-विज्ञान को लेनी ही पड़ती है। 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'मूर्ख' क्यों हो गया, 'आसुर' शब्द देववाची से राक्षसवाची क्यों बन गया, 'दुहिता' का अर्थ 'लड़की' क्यों हुआ आदि प्रश्नों का उत्तर इतिहास का ही कोई न कोई रूप देता है।

भाषा-विज्ञान इतिहास की भी कम सहायता नहीं करता। इतिहास के उस अन्धयुग का अध्ययन जिसके संबंध में कुछ जानने का आज कोई भी रास्ता नहीं (प्रागैतिहासिक काल) भाषा-विज्ञान ने अपनी टूटी-फूटी सामग्री के आधार करना आरंभ कर दिया है। यों भी समय-समय के समाज की अवस्था धार्मिक-विश्वासों आदि पर भाषा-विज्ञान बहुत काफी प्रकाश डालता है। प्राचीन शोध पर विचार करते समय इस संबंध में कुछ अधिक विचार किया जा सकेगा।

(छ) भौतिक शास्त्र

प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (Practical Phonetics) में ध्वनि के मुँह से निकालने के पश्चात् कान तक पहुँचने और लहरों आदि के बनने का भी अध्ययन किया जाता है। इसमें भौतिक शास्त्र भाषा-विज्ञान की यथेष्ट सहायता करता है।

(ज) तर्कशास्त्र

भाषा-विज्ञान का इससे कोई सीधा संबंध नहीं। केवल अर्थ-विचार में तर्क शास्त्र से थोड़ी सहायता ली जा सकती है। यास्क ने अपने निरुक्त में इससे सहायता ली है। यों भी भाषा-विज्ञान कोई वर्णनात्मक विषय न होकर व्याख्यात्मक है, और व्याख्या में बिना तर्क के काम नहीं चल सकता।

(झ) पुरातत्त्व

भाषा-विकास के नवीन अंग—प्राचीन शोध—को पुरातत्व से बहुत कुछ लेना पड़ता है और बदले में वह देता भी कम नहीं है।

(ञ) मानव विज्ञान

इसका मानव के विकास से संबंध है और भाषा स्वयं मानव-विकास की प्रतीक है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और मानव-विज्ञान दोनों एक दूसरे से अपने लिए सामग्री लेते हैं। मानव-विज्ञान में जातियों के पृथक् होने पर भी प्रकाश डाला जाता है और उसी पृथक् होने में एक भाषा से दो-चार और फिर अनेक भाषाएँ बन जाती हैं। इस प्रकार दोनों का अध्ययन बहुत अंशों में एक-दूसरे के समीप है।

संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त होगा कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्यात्म शास्त्र से लेकर स्थूल से स्थूल भौतिक शास्त्र तक सभी विज्ञानों और शास्त्रों का तथा कलाओं का संबंध भाषा-विज्ञान से थोड़ा-बहुत अवश्य है। सीधी बात तो यही है कि भाषा का सहारा सभी ज्ञानों को लेना पड़ता है और भाषा-विज्ञान उसी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है।

दूसरा अध्याय

भाषा

भाषा का आरंभ और उसका प्रारंभिक रूप

भाषा की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर बहुत पहले से विचार किया जाता रहा है, और लोगों ने केवल अनुमान द्वारा ही तरह-तरह के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यहाँ हम लोग एक-एक करके उन सभी सिद्धान्तों पर थोड़ा बहुत विचार करेंगे।

(क) प्रत्यक्ष मार्ग

(१) दैवी उत्पत्ति

प्रत्यक्ष मार्ग का सबसे प्राचीन मत दैवी उत्पत्ति है। भारतीय पंडित अब भी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। उनका विश्वास है कि ईश्वर ने ही संस्कृत भाषा उत्पन्न की है। पाणिनि के १४ सूत्रों की उत्पत्ति ईश्वर के एक रूप शिव के डमरु से मानी जाती है। इसी प्रकार बौद्ध धर्मावलंबी मागधी को आदि-भाषा मानते हैं, और उनका विश्वास है कि यदि माँ बाप अपने लड़के को कोई भाषा न सिखलावें तो स्वभावतः वह मागधी बोलने लगेगा। जैन लोग तो अर्द्ध मागधी को केवल यहाँ की मूल भाषा ही नहीं। मानते, उनका तो यह भी कहना है कि महावीर स्वामी के उस भाषा में दिए गये सदुपदेशों को मनुष्य के ऊपर देवता और नीचे पशु-पक्षी तक समझते थे। ईसाई और उनमें भी प्रमुखतः कैथोलिक लोग हिब्रू (जिसमें उनका धर्म ग्रथ Old testament लिखा गया है) को संसार के सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। इसके आधार पर हिब्रू के विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं से उन शब्दों को इकट्ठा किया जो कुछ हिब्रू शब्दों से मिलते-जुलते थे और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यथार्थतः

हिब्रू सभी भाषाओं की जननी है। मुसलमान लोग 'कुरान' को खुदा का कलाम मानते हैं। मिस्र में भी वहाँ के प्राचीन लोगों का अपनी भाषा के संबंध में कुछ ऐसा ही विश्वास था।

इस संबंध में मिस्र के एक राजा सेमेटिकस ने तथा अपने यहाँ के बादशाह अकबर ने प्रयोग[1] करवाए थे पर उनसे परिणाम यही निकला कि बच्चा पेट में से कोई भाषा सीख कर नहीं आता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि लोगों का यह विचार उनका अंध-विश्वास मात्र है। न तो भाषाओं की तथा कथित आदि जननी हिब्रू से चीनी भाषा का निकलना संभव है और न संस्कृत से निकली मागधी या अर्द्ध मागधी का पशु-पक्षियों द्वारा समझा जाना।

हाँ, इस सिद्धान्त के इस अर्थ को ठीक माना जा सकता है कि भाषा केवल मनुष्य वर्ग में ही है। अन्य जीवों को ईश्वर ने यह शक्ति न देकर केवल मनुष्यों को दी है।

(२) धातु सिद्धान्त

जर्मन के विद्वान प्रो० हेज़ के मत के आधार पर मैक्समूलर ने इस विचित्र सिद्धान्त को हमारे समक्ष रखा। इसके अनुसार सृष्टि के आरंभ में मनुष्य के अंदर एक ऐसी शक्ति थी जिससे वह चार या पाँच सौ धातुओं को जन्म दे सका। उसके बाद उसकी वह शक्ति नष्ट हो गई और उन धातुओं पर ही भाषा का भवन खड़ा हुआ।

इसके विरुद्ध भी बहुत सी बातें हैं। एकाक्षर आदि अनेक कुलों की भाषाओं में धातु नाम की कोई ऐसी चीज़ ही नहीं है जिसके आधार पर संस्कृत आदि की भाँति शब्द बनते हों। अतः उन भाषाओं के विषय में तो इसका नाम लेना भी हास्यास्पद है।

---

१ मिस्र के राजा ने कुछ बच्चों को जन्म के बाद से अलग ऐसी जगह रखा था जहाँ किसी भाषा के संसर्ग में वे न आ सकें। उनके पास जाने वालों को कुछ बोलने का निषेध था। बड़े होने पर वे गूँगे निकले। केवल 'बेकोस' शब्द का उच्चारण जानते थे जिसे अनजान में रोटी देने वाले नौकर ने कभी कह दिया था। (बेकोस फ्रीजियन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ रोटी होता है।) अकबर ने और भी सफलता से यह प्रयोग करवाया तो बच्चे पूरे गूँगे निकले।

सत्य तो यह है कि धातु भाषा का स्वाभाविक अंश नहीं है, उसे हमने खोज निकाला है। और इस प्रकार वह आदि की न होकर अंत की चीज़ है। यदि थोड़ी देर के लिए मैक्समूलर के सिद्धान्त को मान भी लें तो यह समझ में नहीं आता मनुष्य के मास्तिष्क से केवल धातुओं का स्फुरण हुआ और फिर उस आधार पर भाषा कैसे बनी। बिना कुछ और जाने हुए धातु से भिन्न-भिन्न शब्द कैसे बने और उनका भिन्न अर्थों में प्रयोग कैसे आरंभ हुआ? यह सिद्धान्त भी लगभग दैवी सिद्धान्त सा ही है। उसमें संपूर्ण भाषा का अवतरण हुआ था तो इसमें भाषा के आधार का।

(३) अनुकरणमूलकतावाद

इस वाद के अनुसार मनुष्य ने प्रारंभ में पशु-पक्षियों के अनुकरण पर अपने लिए शब्द बनाए और फिर उसी पर पूरी भाषा आधारित हुई। घुग्घु, कोकिल अंग्रेजी के कक्कू आदि शब्द ऐसे ही हैं। में में, हिनहिनाना, हुँकारना आदि भी उसी आधार पर हैं। यहाँ एक तो यही हँसी की बात है कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कह सका और दूसरे अपने से छोटे जीवों के कहने का अनुकरण कर शब्द बनाने लगा। दूसरे, यदि थोड़ी देर के लिए यह वाद मान भी लिया जाय तो हम देखते हैं कि समूची भाषा केवल इन्हीं शब्दों से नहीं बनी है। ऐसे शब्द तो संभवतः एक प्रतिशत भी न होंगे।

(४) मनोभावाभिव्यक्तिवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न अवसरों पर मनुष्य में घृणा, क्रोध, शोक, प्रसन्नता आदि को व्यक्त करती हुई उत्तेजनाएँ उठी होंगी और अपने आप मुँह से शब्द निकल पड़े होंगे। विकास वाद के पिता डारविन ने भी कुछ 'पूह, पिश, फाई' आदि शब्दों का ऐसा कारण बतलाया है। हिन्दी के 'वाह, आह, ओह, छिः, धिक, आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं।

इस सिद्धान्त के मान्य होने में दो कठिनाइयाँ हैं। पहली तो यह है कि ये शब्द भाषा के प्रधान अंग नहीं हैं। और इनकी संख्या भी किसी भाषा में चालीस पचास से अधिक नहीं होगी। दूसरी कठिनाई यह है कि भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नहीं मिलते। यदि स्वभावतः आरंभ में ये निसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यों में लगभग

एक से होते। संसार भर के कुत्ते दुखी होने पर लगभग एक ही प्रकार भूँक कर रोते हैं, संसार भर के आदमी न तो दुखी होने पर हाय करते हैं और न प्रसन्न होने पर वाह।

(५) अनुरणनमूलकतावाद

इस वाद के अनुसार निर्जीव पदार्थों के अनुरणन के आधार पर शब्द बने होंगे। हिन्दी के कल-कल, छल-छल, झग-मग, निर्झर, पत्ता, भड़भड़ खटपट, ठकठक, खड़खड़ तथा अंग्रेजी के Dazzle, Gazz, Thunder, आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं।

जहाँ तक इन शब्दों का संबंध है, अवश्य ही ये पदार्थों के अनुरणन के आधार पर बने होंगे, पर ऊपर के अन्य शब्दों की भाँति इनकी संख्या भी अत्यल्प है, अतः इनसे भाषा की उत्पत्ति के संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण सहायता नहीं मिलती।

(६) श्रम-परिहरणमूलकतावाद

कठिन परिश्रम करते समय कुछ कहकर श्रमिक लोग श्रम-परिहार किया करते हैं। धोबी 'हियो या छियो' कहते हैं। मल्लाह थकान मिटाने के लिए 'यो हे हो' कहते हैं। क्रेन पर काम करने वाले मजदूर भी कार्य करते समय 'हो हो' कहते हैं। इसी प्रकार पुरानी विधि से सड़क कूटने वाले श्रमिक जब जब दुमुंस (सड़क कूटने का डंडा लगा हुआ लोहा या पत्थर) उठाते हैं तो 'हे' या 'हुँ' कहते हैं।

यह सिद्धान्त तो ऊपर के सभी सिद्धान्तों से गया बीता ज्ञात होता है, क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई विशिष्ट स्थान ही नहीं है।

(७) निर्णय सिद्धान्त

इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, संकेतवाद आदि भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आरंभ में मनुष्यों ने इकट्ठा होकर सभी वस्तुओं का प्रतीक या सांकेतिक नाम निश्चित करके स्वीकर किया और वहीं से भाषा का आरंभ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त भी निरर्थक है। यदि कोई भाषा नहीं थी तो आरंभ में लोगों ने कैसे इकट्ठा होकर नामों का निर्णय किया ? बिना विचार-विनिमय के न तो इकट्ठा होना संभव है, और न प्रतीक रूप नामों का निर्णय ही और यदि वे

इकट्ठा होने के लिए या नाम निश्चित करने के लिए विचार विनियम कर ही सकते थे तो उसके बाद किसी अन्य भाषा की क्या आवश्यकता थी। वह तो स्वयं एक सफल या असफल भाषा थी। इस बाद में निर्णय के पूर्ववर्ती भाषा की उत्पत्ति का भी प्रश्न खड़ा हो जाता है, अतः इसके सहारे भी हमारी समस्या का समाधान नहीं मिलता।

(८) विकास वाद

आरंभ में मनुष्य पशुओं की भाँति कुछ निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण करता रहा होगा। धीरे धीरे जैसे जैसे उसने अन्य क्षेत्रों में उन्नति की होगी, भाषा में भी विकास होता गया होगा।

पर, यहाँ भी हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि किसी क्रिया या वस्तु का वही नाम क्यों पड़ा या, ध्वनि और अर्थ में क्या संबंध है। कुछ लोगों का कहना है कि अकारण ही वस्तु या क्रिया को किसी ने कुछ कह दिया होगा और फिर सभी लोग उनका प्रयोग करने लगे होंगे। पर यह भी कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है।

(९) समन्वित रूप

यह कोई नया वाद नहीं है अपितु ऊपर के अनुकरण, अनुरणन, प्रतीक, आत्माभिव्यंजन और विकास का समन्वित रूप है। स्वीट आदि कुछ विद्वानों का कहना है कि इन सभी वादों के सहयोग से भाषा का जन्म संभव है। इनके अनुसार भाषा की प्रारंभिक शब्द-शक्ति अत्यन्त सीमित थी और उसमें प्रमुखतया तीन प्रकार के शब्द थे।

प्रथम तो अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावत निसृत शब्द रहे होंगे। भावना की उत्तेजना के साथ श्वास कुछ विशिष्ट प्रकार से निकलता है और इस विशिष्ट श्वास से विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों का निकलना असंभव नहीं है। असह्य वेदना में 'सी' घृणा में 'छि' आदि शब्द उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं। जब सभी जानवर अपनी भावनाओं के अनुसार कुछ न कुछ ध्वनित करते हैं तो मनुष्य के संबंध में ऐसा न मानना उचित न होगा। इसके विरुद्ध प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि सभी भाषाओं में ऐसे शब्द एक से नहीं हैं पर यह अंतर तो जलवायु आदि के कारण भी हो सकता है। या भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भाषा के विकास का इसे प्रभाव मान सकते हैं। हिन

ही बोलने वाले एक भाव आने पर ही शब्द का प्रयोग नहीं करते। कोई दुख में 'सी' करता है कोई 'हाय' तो कोई 'ऊँह' करता है और कोई 'च् च् च्' अतः भाषा में शब्दों की भिन्नता कोई ऐसी कसौटी नहीं जिस पर कसकर इसे पूर्णतः खोटा कह दें।

दूसरे प्रकार के शब्द अनुकरण मूलक रहे होंगे। मनुष्य आरंभ से ही अनुकरण प्रिय प्राणी है। उसने अवश्य ही जानवरों तथा वस्तुओं के आधार पर कुछ शब्दों को जन्म दिया होगा। बिल्ली के बोलने के लिए चीन, मिश्र और भारत तीन विभिन्न परिवार की भाषाओं में एक ही शब्द 'म्याँउ' का होना इस बात का अच्छा प्रमाण है। कोकिल कुक्कुट, Cuckoo, Buzz या गड़गड़ भड़भड़ आदि शब्द ऐसे ही जीवों या निर्जीव पदार्थों के आधार पर बने होंगे। इस संबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि शब्दों को अनुकरणमूलक मानने का अर्थ यह नहीं है कि ठीक ठीक अनुकरण पर ही ये शब्द बने हैं। शब्द ध्वनि से मिलता-जुलता रहता है और कभी-कभी तो केवल छाया मात्र ही होता है। पत्ता गिरने में पत् की ध्वनि हुई और उसे पत्र कहा गया। यहाँ अनुकरण अधूरा है पर यह शब्द है अवश्य अनुकरण मूलक। इसमें तनिक भी संदेह की गुन्जाइश नहीं है।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक हैं। इनकी उत्पत्ति कई प्रकार से हुई होगी। लड़का आरंभ में यों ही अपने ओठों को मिलाता और अलग करता रहता है। ऐसा करने से मा मा की ध्वनि का होना स्वाभाविक है। आरंभ में इस ध्वनि से आकर्षित होकर माँ बच्चे के समीप आई होगी। दो चार बार ऐसा होने से बच्चे को यह अभास मिला होगा कि ऐसी ध्वनि से माँ समीप आती है। फिर उसने जब चाहा होगा ऐसा करके माँ को बुलाया होगा और इस प्रकार 'माँ' या 'मामा' शब्द माता का प्रतीक हो गया होगा।

धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा कर कुछ पीने में सिप या सप सी ध्वनि होती है। अंग्रेजी का Sip या Sup शब्द उस क्रिया के प्रतीक बन गए। पिबति भी इसी प्रकार बना होगा।

आरंभ में इन्हीं तीनों आधारों पर कुछ शब्द बन गए होंगे। धीरे-धीरे विकास में योग्यतमावशेष के सिद्धान्त के कारण कुछ मरे होंगे और फिर

कुछ नवीन बने होंगे। इसी प्रकार विकास के साथ परिवर्तन और परिवर्द्धन होता गया होगा और भाषा का पूरा स्वरूप खड़ा हुआ होगा।

(ख) परोक्ष मार्ग

ऊपर हम लोगों ने सीधी शैली से प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया और अंत में कुछ शब्दों के संबंध में ध्वनि और अर्थ के संबंध स्थापन के पथ का स्पष्टीकरण भी किया था पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी शब्द मिलकर भाषा के शब्द-समूह का दसांश भी नहीं हो पाते। साथ ही इनमें अधिक शब्द व्यक्तिगत से हैं और उनसे स्वतंत्रता के साथ विचार विनिमय संभव नहीं ज्ञात होता। अब हम दूसरे पथ 'उलटी शैली' या परोक्ष पथ का अनुसरण करेंगे। इससे मूल समस्या भाषा का उद्गम या ध्वनि और अर्थ के संबंध पर तो प्रकाश नहीं पड़ता; पर प्रारंभिक भाषा का विविध दृष्टिकोणों से परिचय अवश्य मिल जाता है। यह मार्ग तीन बातों पर आधारित किया जा सकता है।

(१) लड़कों की भाषा

कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत विकास की ही भाँति सामूहिक या जातीय विकास भी होता है। इसलिए व्यक्तिगत विकास के अध्ययन से सामुहिक विकास पर प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ इसका आशय यह है कि ऐसे लोगों के अनुसार मानवता ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी जैसे एक बच्चा सीखता है। कुछ लोगों ने इसी आधार पर भाषा के आरंभ पर प्रकाश भी डाला है; पर, सच पूछा जाय तो दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण समानता नहीं है। लड़कों को एक बनी-बनाई भाषा सीखनी होती है पर दूसरी ओर भाषा के आरंभ के समय लोगों को भाषा का आविष्कार भी करना रहा होगा केवल सीखना ही नहीं। आज एक विद्यार्थी किसी टेकनिकल स्कूल में जाकर दो-एक वर्ष में किसी वस्तु का निर्माण करना सीख सकता है उस के सीखने का रास्ता वैसा दुर्गम नहीं होगा जैसा कि उस वस्तु के आविष्कारक या प्रथम बनाने वाले का रहा होगा। भाषा के संबंध में भी यही बात है। लड़का भाषा सीखता है, वह आविष्कार नहीं करता अतः उसके आधार पर भाषा के आरंभ के विषय में पता लगाने का प्रयास हास्यास्पद ही होगा। हाँ, एक बात अवश्य महत्वपूर्ण है। लड़का जब आरंभ के वर्षों में निरर्थक

ध्वनियों का उच्चारण करता है और उसे दूसरों के अनुकरण का कुछ भी ध्यान नहीं रहता तो उस दशा से भाषा की आरंभिक दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कभी-कभी लड़के पूर्णतः नवीन शब्द भी गढ़ डालते हैं, इससे भी भाषा के आरंभ पर प्रकाश पड़ सकता है।

एक नवीन प्रयोग

मेरा अपना विचार यह है कि यदि एक प्रयोग किया जाय तो लड़कों के द्वारा प्रस्तुत विषय पर यथेष्ठ प्रकाश पड़ सकता है। मैं नहीं कह सकता कि इस विषय में किसी ने कुछ लिखा या किया है अथवा नहीं। कम से कम मेरे देखने में यह चीज नहीं आई। प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है।

अधिक से अधिक असभ्य और पिछड़ी जातियों के लगभग ५ लड़के और ५ लड़कियाँ (जो अवस्था में एक वर्ष से अधिक के न हों) लिये जायँ। एक बड़े से अहाते में वे रखे जायँ जिसमें कुछ टीले हों, कुछ फल वाले पेड़ हों (जिनमें कुछ ऐसे हों जिसका फल खाया जाता हो और कुछ ऐसे जिसका न खाया जाता हो।) एक तालाब हो, तथा मछली चिड़ियाँ और दो एक कुत्ते आदि हों। लगभग तीन वर्ष से अवस्था तक तो साधारण ढंग से उसकी सेवा किसी ऐसे होशियार आदमी से करवाई जाय जो वहाँ एक शब्द भी न बोले। पाँच छः वर्ष की अवस्था से आगे चलने पर उनको आसानी से भोजन न दिया जाय। कभी पेड़ पर टाँग दिया जाय कभी टीले पर रखा जाय। कभी जब केवल एक अलग हो तो उसे भोजन काफी दिया जाय ताकि उसे औरों को बुलाने या देने का अवसर मिले। कुछ आदमी उनको चौबीसों घंटे आलोचनात्मक और अध्ययनपूर्ण दृष्टि से देखते रहें। कभी-कभी उनको कठिनाइयों का सामना करने का भी अवसर दिया जाय।

मेरा विश्वास है कि २० वर्ष की अवस्था तक उनमें कोई साधारण टूटी-फूटी भाषा अवश्य विकसित हो जावेगी। और उसके बाद १० वर्ष में भाषा और तेजी से विकसिक होगी। उनको सर्वदा देखने वाले अवश्य ही उस भाषा को समझेंगे और इस प्रकार भाषा के आरंम्भ की गुत्थी काफी सुलझ जावेगी। मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि पर भी ऐसे प्रयोगों से प्रकाश पड़ सकता है।

(२) असभ्य जातियों की भाषा

इससे भी भाषा के प्रचीन रूप पर प्रकाश पड़ सकता है पर बड़ी ही सतर्कता से इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिये। सच तो यह है कि सभ्य भाषाओं से एक-दो सीढ़ी पूर्व की ही ये भाषाएँ हो सकती हैं अतः इनको बिलकुल आरंभिक भाषा नहीं माना जा सकता। असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी जाने कितनी ही सदी पुरानी होगी। इनसे इतना ही लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओं की तुलना में इनका अंतर देख कर इनकी तुलना में और पहले की भाषा की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) आधुनिक भाषाओं का इतिहास

भाषा की आरंभिक दशा के विषय में कुछ जानने का यह सबसे सीधा, सच्चा और महत्त्वपूर्ण पथ है। ऊपर हम लोगों ने देखा कि कुछ लोगों ने भाषा के आरंम्भ के विषय में कुछ सिद्धान्त दिए हैं जिनके आधार पर आरंभ से चलकर हम अंत तक पहुँचते हैं। यहाँ हमारा रास्ता ठीक उलटा है। हम अन्त से शुरू करके आरंभ तक पहुँचना चाहते हैं। इस पथ के सच्चा होने का निश्चय इसलिए है कि हमारा आरंभ अनुमान पर आधारित न होकर निश्चित दशा पर आधारित होगा जबकि उन सिद्धान्तों में सब कुछ अनुमान ही अनुमान था।

आज की किसी भी भाषा को लें, उसका अध्ययन करें और फिर पीछे उनके इतिहास का वहाँ तक अध्ययन करते जायँ जहाँ तक सामग्री मिले। इस अध्ययन के आधार पर भाषा के विकास का सामान्य सिद्धान्त निकाल लें। उन सिद्धान्तों के प्रकाश में आज की भाषा की तुलना उसके प्राचीन-तम उपलब्ध रूप से करें और देखें कि कौन सी बातें आज की भाषा में नहीं हैं पर प्राचीन में है। इसके बाद यह हम आसानी से कह सकते हैं कि वे विशेषताएँ यदि भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूप में दस प्रतिशत हैं तो भाषा के बिल्कुल प्रारंभ में सत्तर या अस्सी प्रतिशत रही होगी।

उदाहरण के लिए हिन्दी खड़ी बोली को लें। इसके अध्ययन के उपरान्त पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, पाली संस्कृत, और वैदिक संस्कृत का अध्ययन करके विकास के सिद्धान्तों पर विचार करें। फिर खड़ी बोली की तुलना वैदिक संस्कृत से ध्वनि, व्याकरण के रूप, शब्द-समूह, वाक्य

आदि के विचार से करके वैदिक संस्कृत की वे विशेषताऐं चिह्नित करें जो या तो खड़ी बोली में बिलकुल नहीं हैं, या है भी तो बहुत कम। प्राचीन भारतीय भाषा में निश्चय ही उन विशेषताओं का विशेष स्थान रहा होगा जो घटते-घटते वैदिक संस्कृत में कुछ शेष थी और खड़ी बोली में नहीं के बराबर हैं।

इसी प्रकार किए गए अध्ययन के आधार पर प्रारम्भिक भाषाओं की प्रकृति पर यहाँ कुछ प्रकाश डाला जायेगा।

आरंभिक अवस्था में भाषा की प्रकृति

(क) ध्वनि

किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियाँ धीरे-धीरे सरल होती जाती हैं। इस बात पर अधिक विस्तार से ध्वनि के अध्याय में विचार किया जायेगा। यहाँ सरलीकरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरंभिक भाषा में ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होंगी, प्राचीन और पिछड़ी अफ्रीका भाषाओं में क्लिक (ध्वनि के अध्याय में इसका विशेष विवरण है) ध्वनियाँ हैं। कुछ अपने यहाँ भी हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि आरंभ की भाषा में क्लिक ध्वनियाँ भी अधिक रही होंगी।

वैदिक संस्कृत और हिन्दी की तुलना से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अपेक्षाकृत अब शब्द छोटे हो गये हैं। अन्य भाषाओं में भी यही बात मिलती है, इससे यही ध्वनि निकलती है कि भाषा की आरंभिक अवस्था में शब्द बहुत बड़े रहे होंगे। हम देखते हैं कि होमरिक, ग्रीक तथा वैदिक-संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात की उपस्थिति के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। अफ्रीका की असंस्कृत भाषाओं में भी यह बात पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, पर अब धीरे-धीरे उसका लोप हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि आरंभिक अवस्था में लोग बोलने की अपेक्षा गाते ही अधिक रहे होंगे, अर्थात् आरंभिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात बहुत अधिक रहा होगा।

(ख) व्याकरण

प्रारंभिक भाषा में अपेक्षया शब्दों के अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद में सादृश्य या ध्वनि-परिवर्तन के कारण आपस में मिल कर कम हो गए।

भाषा संश्लेषणात्मक रही होगी 'अर्थात् सहायक क्रिया या परसर्ग इत्यादि जोड़ने की कोई आवश्यकता न रही होगी। अपने में पूर्ण नियमों की उस समय कमी रही होगी और अपवादों का आधिक्य रहा होगा। उन लोगों का मस्तिष्क व्यवस्थित नहीं था अतः भाषा में व्यवस्था का अभाव रहा होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिल्कुल आरंभ में व्याकरण या भाषा-नियम नाम की कोई चीज़ ही न रही होगी।

(ग) शब्द-समूह

भाषा का जितना ही विकास होता है उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावनाओं के प्रकट करने के लिए शब्द हो जाते हैं। इसका आशय यह है कि आरंभिक भाषा में अभिव्यंजना शक्ति अत्यल्प रही होगी, और सूक्ष्म तथा सामान्य भावनाओं के लिए शब्दों का एकान्त आभाव रहा होगा। आज भी कुछ असंस्कृत भाषाएँ हैं जो लगभग इसी अवस्था में हैं। उत्तरी अमरीका की चेरोकी भाषा में सिर धोने के लिए, हाथ धोने के लिए, शरीर धोने के लिए अलग-अलग शब्द हैं। पर धोने के सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाला एक भी शब्द नहीं है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि आरंभ में शब्द केवल स्थूल और विशिष्ट के लिए ही रहे होंगे। टस्मानिया की मूल भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के सभी पेड़ों के लिए अलग अलग शब्द हैं पर 'पेड़' के लिए कोई शब्द नहीं है। उनके पास कड़ा, नरम, ठंढा और गरम आदि के लिए भी शब्द नहीं हैं। जुलू लोगों की भाषा में लाल गाय, काली गाय और सफेद गाय के लिए शब्द हैं पर गाय के लिए नहीं।

ऊपर की बातों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आरंभ के कुछ दिनों के बाद शब्दों का बाहुल्य हो गया होगा। कुछ वर्तमान असभ्य भाषाओं के आधार पर इस बाहुल्य का एक और कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे लोग अंध-विश्वासी रहे होंगे अतः सभी शब्दों को सर्वदा प्रयोग में लाना अनुचित माना जाता रहा होगा। उन्हें भय रहा होगा कि देवता लोग रुष्ट और कुपित न हो जायँ। अतः एक ही वस्तु या कार्य के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग में आते रहे होंगे।

(घ) वाक्य

आरंभ में वाक्य एक इकाई के रूप में थे; शब्दों के रूप में उनका 'व्याकरण' या विश्लेषण नहीं हुआ था। एक वाक्य एक पूरे विचार को प्रकट करता था। उत्तरी अमरीका की कुछ भाषाओं में अब तक भी वाक्यों में अलग अलग शब्दों की कल्पना तक नहीं की गई है। संभवतः प्रारंभिक भाषा का एक एक वाक्य एक एक शब्द मात्र रहा होगा।

(ङ) विषय

उस समय लोग भावना प्रधान रहे होंगे। तर्क का नाम भी न रहा होगा अतः बहुत भावुक रहे होंगे। पद्य की प्रधानता रही होगी। यही कारण है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्य या काव्य बहुत प्राचीन मिलता है पर गद्य नहीं। इसी प्रकार संगीत आदि की भी प्रधनता रही होगी। गीतों में भी स्वाभाविक और जन्मजात भावना होने के कारण प्रेम, भय, जोश आदि के चित्र ही अधिक रहे होंगे।

निष्कर्ष

आरंभ की भाषा संगीतात्मक थी। उसमें वाक्य एक शब्द की भाँति थे। अलग अलग शब्दों में वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नहीं की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजना का आभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण संबंधी नियम नहीं थे। केवल अपवाद ही अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा की उत्पत्ति के संबंध में हमें अब तक कोई निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका, पर इस परोक्ष मार्ग के आधार पर उसकी आरंभिक अवस्था के विषय में उपर्युक्त बातें दृढ़ता के साथ कही जा सकती हैं।

भाषा के आधार

मुखोद्गीर्ण व्यक्त ध्वनि द्वारा मानव-विचारों की अभिव्यक्ति ही भाषा है। इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर भाषा के विषय में प्रधानता दो बातें दिखाई पड़ती हैं —

१. भाषा से मानव अपने विचारों की अभिव्यंजना करता है। तथा,

२. भाषा मुखोद्गीर्ण ध्वनि है।

भाषा के लिए ये दोनों ही बातें अत्यावश्यक हैं। मस्तिष्क में पहले विचार उठते हैं फिर मुखोद्गीर्ण ध्वनि के सहारे विचारक उनको व्यक्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से एक का संबंध विचारों से है अतः वह सूक्ष्म है और दूसरे का संबंध मुखावयव से है अतः वह स्थूल है। इन्हीं दोनों को क्रम से भाषा का मानसिक और भौतिक आधार कहा जाता है।

(क) मानसिक

मानसिक आधार भाषा का प्राण या आत्मा है। बिना उसके भाषा का अस्तित्व असंभव है। ग्रामोफोन के रेकार्ड से भी अर्थवान ध्वनि निकलती है पर उसके पीछे मानसिक आधार नहीं है अतः उसे भाषा नहीं कह सकते।

पहले भाषा-विज्ञानी भाषा के मानसिक आधार की ओर आकृष्ट नहीं हुए थे और इसी कारण भाषा का सम्यक अध्ययन भी संभव नहीं था। इधर कुछ दशाब्दियों से 'अर्थ विचार' के रूप में इसका अध्ययन भी आरंभ हो गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा के इस आधार का महत्त्व प्रत्येक दृष्टि से भौतिक आधार से अधिक है।

(ख) भौतिक

भौतिक आधार भाषा का शरीर है विचार के पहुँचाने के लिए इस वाहन का सहारा मनुष्य को लेना पड़ता है। इसके अंतर्गत मुख और नासिका के वे सभी अंग आ जाते हैं जिनकी ध्वनि के उच्चारण में आवश्यकता पड़ती है।

यहाँ हमने वक्ता की दृष्टि से भाषा के दोनों आधारों पर विचार किया है। श्रोता की दृष्टि से भी भाषा के ये दोनों आधार हो सकते हैं। भौतिक आधार उसका कान है जिसके सहारे वह ध्वनि को पकड़ता है और मानसिक आधार उसका मस्तिष्क और उसकी स्मरण शक्ति है जिसके सहारे वह सुनी ध्वनि का अर्थ समझता है।

श्रोता और वक्ता दोनों की दृष्टि से आवश्यक भौतिक आधार का वर्णन ध्वनि के प्रकरण में किया जायेगा। मानसिक आधार का विवेचन मनोविज्ञान का विषय है अतः इस पुस्तक में प्रमुख रूप से उस पर कुछ

भी नहीं कहा जा सकता यद्यपि आनुषंगिक रूप से अर्थ-विचार आदि के प्रकरण में कुछ बातें मिल सकती हैं।

भाषा की प्रकृति

भाषा की उत्पत्ति और उसके आधार पर विचार करने के उपरान्त हम भाषा की प्रकृति पर विचार कर सकते हैं।

(क) भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है।

कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है। पर यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को दो-तीन वर्ष की अवस्था से ही फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिंदुस्तानी आदि न समझ सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति रहती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। अभी कुछ ही दिन पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग १२ वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल सकता। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िए के साथ रहा उसमें सभी आदतें भेड़िए सी थीं। उसके मुँह से निसृत ध्वनि भी कुछ भेड़िए से मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की कोई बोलता क्योंकि वह गूंगा नहीं था।

(ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िए का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव से मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसीकी ध्वनि अर्जन कर सका। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी लोग इसी प्रकार भाषा का अर्जन करते हैं।

(ग) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है।

ऊपर हम भाषा को अर्जित सम्पति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है। इसका एक मात्र उत्तर है

'समाज से'। इतना ही नहीं भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से संबंधित है। उसका विकास समाज में हुआ है, उसका अर्जन समाज से होता है और उसका प्रयोग भी समाज में होता है। यों अकेले में हम भाषा के सहारे सोचते हैं जहाँ समाज नहीं रहता और न तो वहाँ उसकी आवश्यकता ही होती है, पर वह सोचना स्वयं समाज सापेक्ष है। इस प्रकार भाषा समाज की वस्तु है।

(घ) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है।

ऊपर की बातों में भाषा की अर्जित एवं समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ अर्जन की विधि के संबंध में इतना और कहना होगा कि भाषा को हम अनुकरण द्वारा सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ दूध को 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

(ङ) भाषा परिवर्तनशील है।

यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक सी नहीं हो सकती है। अनुकरण प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। कमल यदि खगेन से भाषा सीख रहा है तो वह अवश्य ही ठीक उसी प्रकार नहीं बोलेगा जिस प्रकार खगेन बोलता है।

इस अनुकरण का ठीक न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं। (१) शारीरिक और (२) मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरण-कर्त्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती है जैसी कि उसकी रहती है जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इस प्रकार प्रतिपल भाषा परिवर्तित होती रहती है।

(च) भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है उसका अंतिम स्वरूप होता है पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती; अर्थात् यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अंतिम स्वरूप है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अंतिम रूप तो अवश्य ही अंतिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है; भाषा के विषय में भी असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही जीवन का द्योतक है। पूर्णता और .स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

(छ) भाषा की धारा स्वाभवतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है।

सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है, कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहता है। एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब वह केवल 'सति' से काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण ध्वनि से संबंधित है पर अर्थ आदि के बारे में भी यही बात है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रचार इसी का द्योतक है। आप बैल हैं कह कर हम कितने थोड़े शब्दों में अपनी कितनी अधिक अभिव्यक्ति कर पाते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं।

भाषा पानी की स्वाभाविक धारा है जो बिना प्रयास के ऊँचे पर कभी नहीं चढ़ सकती पर नीचे की ओर सरलता के साथ जायेगी और जाती है।

कहा जाता है कि आज की हिन्दी कठिनता की ओर जा रही है, पर सचमुच यह बात नहीं है। साहित्यिक भाषा कृत्रिम भाषा है, स्वाभाविक नहीं। और यदि वह जनभाषा से दूर जाने लगे तब तो और भी अधिक कृत्रिम हो जाती है। कठिनता की ओर जाने वाली हिन्दी के विषय में भी यही बात है। जीवित भाषा हिन्दी कभी उस कठिन चढ़ाई पर नहीं जा

सकती। कुछ विद्वान लोग भले ही सड़क को 'रथ्या' नहर को 'कुल्या' और स्टेशन को 'धूम्र-शकट-विश्रामस्थल' कह लें, पर हिन्दी की स्वाभाविक गति में तो ये शब्द भविष्य में अवश्य ही सरक, नेर और टीसन हो जायेंगे। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर इस द्राविड़ प्राणायाम का लादना कभी भी सफल नहीं हो सकता, और न तो विश्व के किसी भी देश में सफल हुआ है।

भाषा का विकास और उसके कारण

भाषा की प्रकृति पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि भाषा परिवर्तनशील है। सर्वदा परिवर्तन के चक्र में घूमते रहना ही उसका विकास है। विकास या परिवर्तनशीलता का प्रभाव भाषा के चारों ही रूपों [ध्वनि अर्थ, रूप और वाक्य] पर पड़ता है। 'यह परिवर्तन या विकास किस प्रकार का होता है', इस पर तो हम लोग चारों विषयों पर अलग अलग विचार करते समय ही प्रकाश डाल सकेंगे, पर यहाँ विकास के कारण पर सम्मिलित रूप से विचार किया जा सकता है, यद्यपि ध्वनि और अर्थ के प्रकरण में आवश्यकतानुसार इन कारणों को और विस्तार से देखने की आवश्यकता पड़ेगी।

कारणों के प्रधान वर्ग

भाषा का विकास दो प्रकार का होता है। एक तो अपनी स्वाभाविक गति के कारण और दूसरा किसी अन्य उपकरण से प्रभावित होकर। स्वाभाविक गति के फलस्वरूप घटित होने वाला विकास आभ्यंतर कहलाता है और उसके कारण को भी इसी नाम से पुकारते हैं। दूसरी ओर वे कारण हैं जो बाहर से प्रभावित करते हैं। इन कारणों को बाह्य कहा जा सकता है।

(क) आभ्यंतर वर्ग

आभ्यंतर वर्ग के अंतर्गत वे सभी कारण आते हैं जो बाहर से प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है।

(१) प्रयोग से घिस जाना—अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे भाषा में स्वाभाविक परिवर्तन होता है। ऐसे होने वाले विकास या परिवर्तन को स्वयंभू कहते हैं।

(२) बल—जिस ध्वनि या अर्थ पर बल अधिक दिया जाता है वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है या समाप्त कर देता है। इस संबंध में ध्वनि और अर्थ के प्रकरण में विस्तार के साथ विचार किया जायेगा।

(३) प्रयत्नलाघव—हम कम से कम में प्रयत्न में अधिकाधिक भाव व्यक्त करना चाहते हैं इससे भी भाषा में विशेषतः ध्वनि संबंधी परिवर्तन होता है। बड़े शब्द अधिकतर इसी कारण छोटे हो जाते हैं।

(४) बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है; विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है; और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है पर कभी कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

(५) इस वर्ग का अंतिम कारण अनुकरण की अपूर्णता है, जो (क) अवयव की विभिन्नता, (ख ध्यान की कमी, (ग) अशिक्षा, तथा (घ) आकर्षण की चाह आदि पर आधारित है।

(ख) वाह्य वर्ग

(१) भौतिक वातावरण—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अंतर्गत अनेक बोलियों या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है

(क) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।

(ख) मैदान आदि में दूर तक लोग संपर्क रख पाते हैं अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है पर पहाड़ी भाग या अन्य ऐसे भाग, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, में लोग अलग अलग रहने के आदी हो जाते हैं, फल यह होता है उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाएँ और अनेकों बोलियाँ अंकुरित हो जाती हैं। इसी

कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी थोड़ी दूर पर थोड़ी-बहुत बदल जाती है। बड़ी नदियों के दोनों किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अंतर दिखाई देता है। ग्रीस में कुछ ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गई।

(ग) भूमि यदि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा अतः उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे; अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गंभीर होती जायेगी जैसा कि भारत में हुआ है। इस प्रकार उपजाऊ भूमि के कारण भी भाषा के परिवर्तन में बल मिलेगा।

(२) सांस्कृतिक प्रभाव—समाज का प्राण वहाँ की संस्कृति है; अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अंतर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है—

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं जिससे अभिव्यक्ति की शैली प्रभावित होती है। १९वीं सदी के अंत और बीसवीं के आदि की हिन्दी भाषा पर आर्य समाज का कितना प्रभाव पड़ा है कहने की आवश्यकता नहीं।

(ख) व्यक्ति—गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, समाज, तथा धर्म सभी को यथेष्ठ प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इस प्रकार एक व्यक्ति भी भाषा के परिवर्तन में कभी कभी बहुत कार्य कर जाता है।

(ग) संस्कृतियों का सम्मिलन—व्यापार, राजनीति, धर्मप्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतिओं का सम्मिलन होता है। भारत में ऐसा सम्मिलन कम-से-कम पाँच बार तो हुआ ही है—

१. आस्ट्रिकों और द्राविड़ों का।

२. द्राविड़ों और आर्यों का।

३. आर्यों और यवनों का ।
४. आर्यों, और तुर्कों तथा मुसलमानों का । तथा
५. भारतीयों और यूरोप वालों का ।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन में भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव संभव होते हैं—

(अ) प्रत्यक्ष—जैसे (१) शब्दों की लेन-देन—आज हमारी भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि, द्राविड़ों के नीर, आलि, मीन आदि, यवनों (ग्रीकों) के दाम, सुरंग आदि, और तुर्कों और मुसलमानों के कमीज, बाजार आदि हज़ारों तथा यूरोपियों के खेल, न्याय और फैशन संबंधी सैकड़ों शब्द प्रचलित हैं। (२) ध्वनि विनिमय—मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी पर भारत में आने पर द्राविड़ों के प्रभाव से आर्य भाषा में यह ध्वनि आ गई, और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है।

(आ) अप्रत्यक्ष – विचार विनिमय के कारण एक दूसरे के साहित्य, कला आदि पर प्रभाव पड़ता है और उससे भाषा भी अछूती नहीं रहती।

(३) समाज की व्यवस्था – इस व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम फिर कर भाषा पर पड़ता है। युद्ध या क्रांति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। नवीन युग में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाए गए हैं। हम कृ० पृ० उ० (P. T. O.) लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए का काम चला लेते हैं। पूरा नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है।

(ग) सादृश्य[1]

भाषा के विकास या परिवर्तन में इसका भी बहुत बड़ा हाथ है। इसे आभ्यंतर और वाह्य किसी एक में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों

[1]सादृश्य स्वयं स्वतंत्र कारण नहीं कहा जा सकता पर सुविधा की दृष्टि से आए परिवर्तनों में इसका स्थान अलग है, क्योंकि इसके परिवर्तन का परिणाम किसी अन्य वाक्य या शब्द के अर्थ या ध्वनि पर आधारित

में आता है। आज की हिन्दी की वाह्य रचना बहुत से लेखकों में अंग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है, यह वाह्य है। पर दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द चल रहा है, यह आभ्यंतर है। इसी प्रकार अनेक अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

भाषा के विकास के संबंध में अंतिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा ऊँचे भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। इस संबंध में एक निश्चित सिद्धांत नहीं दिया जा सकता। हाँ, वह सरलता की ओर अवश्य ही जाती है।

भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ बहुत कम समय में आश्चर्यजनक विकास कर लेती हैं और दूसरी ओर कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जो अधिक समय में भी बहुत कम विकास कर पाती हैं। ऐसे ही कुछ बोलियाँ उन्नति कर भाषा हो जाती हैं और उनमें उत्तम साहित्य की रचना होने लगती है। दूसरी ओर कुछ ज्यों की त्यों बोली ही बनी रहती हैं। उपर्युक्त दो कथनों में से दूसरे पर तो आगामी प्रकरण 'भाषा के विविध स्वरूप', में विचार किया जायगा पर प्रथम को यहीं लेना होगा।

भाषा के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। बहुधा उन कारणों के उलटे कारण जब उपस्थित होते हैं तो भाषा के विकास में व्याघात उपस्थित होता है। प्रधान कारण निम्न हैं—

(१) भौगोलिक परिस्थिति—यदि कोई देश अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इस प्रकार घिरा हुआ हो कि सरलता से लोग वहाँ न पहुँच सकें तो वहाँ की भाषा में विकास बहुत धीमा होता है। इसका कारण यह होता है कि बाहरी लोगों से संपर्क नहीं हो पाता, अतः वाह्य प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ता। भारोपीय परिवार की आइसलैंडिक भाषा इसी कारण अन्यों की अपेक्षा बहुत कम विकसित हुई है।

रहता है। इसी कारण इसे यहाँ अलग माना गया है और आगे भी कई स्थानों पर इसे इसी अर्थ में कारण के रुप में अलग रखा गया है, पर उसका आशय यही समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण विस्तार से सादृश्य पर अलग विचार करते समय किया जायगा।

(२) देश में खाद्याभाव के कारण लोगों का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है अतः अन्य समस्याओं पर विचार करने का समय नहीं रहता—न कला और साहित्य ही की उन्नति होती है। ऐसी अवस्था में भी भाषा का विकास नहीं होता। रेगिस्तानी और जंगली भाषाएँ इसी कारण कम विकसित होती हैं।

(३) भाषा का अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये ही लोग प्रयोग करते हैं, अतः यह आवश्यक होता है कि यथासाध्य प्रचलित भाषा से तनिक भी न हटें। नहीं तो अस्पष्टता आने का भय रहता है। यह भावना सभी भाषाओं के विकास में बाधक होती है।

(४) समाज में भाषा का प्रयोग होता है। यदि लोग अशुद्ध बोलें तो समाज उन पर हँसता है। छोटे लड़के जब रूपया को नूपया कहते हैं और सुनने वाले हँस देते हैं तो वे शीघ्रातिशीघ्र रूपया कहने का प्रयास करते हैं और सफल भी हो जाते हैं। इस प्रकार समाज के हँसने के भय से भी लोग यथासाध्य भाषा के प्रचलित रूप पर ही चलने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार भाषा का विकास रुकता है।

(५) व्याकरण की शिक्षा भी लोगों को आदर्श-प्रयोग पर चलने को प्रेरित करती है। जिन लोगों को व्याकरण का ज्ञान नहीं रहता वे अशुद्धियाँ अधिक करते हैं। इसी कारण भाषा में विकास लाने का श्रेय ग्रामीणों और अशिक्षितों को शिक्षितों की अपेक्षा अधिक है। सत्य तो यह है कि भाषा का मूल विकास उन्हीं लोगों में होता है। इस प्रकार शिक्षा और प्रमुखतः व्याकरण की शिक्षा भी भाषा के विकास में बाधक सिद्ध होती है।

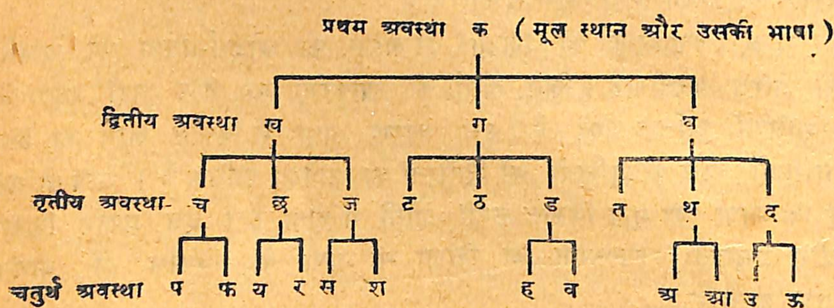
भाषा के विविध स्वरूप

(१) मूल भाषा

ऊपर हम लोग भाषा के जिस विकास पर विचार कर चुके हैं वह प्रमुखतः ऐतिहासिक था और यहाँ भाषा के विविध स्वरूप के रूप में जिस विकास को लेने जा रहे हैं, वह प्रमुखतः भौगोलिक है।

भाषा की उत्पत्ति एवं उसका प्राथमिक विकास संघ रूप से एक साथ रहने वाले विभिन्न वर्गों में हुआ होगा। उदाहरण के लिए यदि मूल भारोपीय भाषा को लें तो इसका प्रादुर्भाव एक साथ रहने वाले कुछ भारो-

पीयों में हुआ। भाषा के विकास एवं शाखाओं में बाँटने का कार्य वहीं से भौगोलिक परिस्थितियों ने करना आरंभ किया। मूल स्थान पर कुछ दिनों रहने के पश्चात् जब वहाँ की जन-संख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो संभवतः वहीं रह गए और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े। चलने के समय तो उन भिन्न-भिन्न शाखाओं की भाषा अवश्य ही लगभग एक सी रही होगी। थोड़ी दूर चलकर उन शाखाओं ने अपना-अपना अड्डा बनाया होगा। उन नवीन अड्डों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया होगा और तदनुसार उनकी भाषा में भी विकास हुआ होगा। दो एक सदी के उपरांत अलग-अलग बसने वाली उन शाखाओं में आपस में काफ़ी विभिन्नता आगई होगी। कुछ दिन के बाद वे नवीन स्थान भी जन-संख्या आदि के बढ़ने से अपर्याप्त सिद्ध हुए होंगे और प्रति शाखा में कई प्रशाखाएँ फूटकर इधर-उधर चलकर नवीन स्थानों पर बसी होंगी। फिर वहाँ उनका नवीन विकास हुआ होगा। इसे चित्र रूप में यों रखा जा सकता है—



भाषा परिवार

उपर्युक्त चित्र में हम देखते हैं 'क' से ही विकसित होकर तीसरी और चौथी अवस्था की भाषाएँ और बोलियाँ निकली हैं। ये ठीक उसी प्रकार हैं जैसे एक आदमी से दो तीन पुश्त में बहुत से आदमी हो जाते हैं। वे सभी आदमी उस आदि पुरुष के जिस प्रकार 'परिवार' कहे जायेंगे, ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ और बोलियाँ भी उसी प्रकार उस आदि भाषा के परिवार की कही जाती हैं। हिन्दी, बँगला, अंग्रेजी, फ्रेंच या ब्रज, अवधी, मगही आदि इसी अर्थ में भारोपीय परिवार की कही जाती हैं। आगे हम लोग भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण इसी आधार पर करेंगे।

(२) बोली (Dialect)

इसे उपभाषा भी कहा जाता है। बोली या उपभाषा उस सीमित क्षेत्र की भाषा को कहा जाता है जिसके बोलने वालों का उच्चारण लगभग एक सा हो तथा जिसमें रूप-रचना, वाक्य-रचना शब्द-समूह तथा अर्थ संबंधी कोई स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता न दृष्टिगत हो।

बोलियों के बनने का कारण

इसका कारण प्रमुखतः भौगोलिक है। ऊपर के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी। 'ख' 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूट कर अलग. अलग चली गईं और एक दूसरे से इतनी दूर बसीं कि आपस में किसी प्रकार का संबंध संभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गईं और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गईं। किसी भाषा के कुछ भागों का शेष से संबंध-विच्छेद ही बोली के विकास का प्रधान कारण है। भूकंप या जलप्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं और बोलियाँ बन जाती हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर की बस्तियाँ भाषा के संबंध में कुछ अंतर रखती हैं। यह भी उसी का द्योतक है।

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते है और वहाँ भी उनकी नई बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंगलैण्ड, में बस गए और अंग्रेजी उसकी एक अलग बोली बन गई। हिन्दी में अवधी ब्रज या भोजपुरी आदि बोलियाँ इसी प्रकार हुई हैं। इधर भोजपुरी में ही दो बोलियाँ विकसित हो रही हैं। छपरा की ओर की भोजपुरी तथा गाज़ीपुर की भोजपुरी में पर्याप्त अंतर हो गया है। इसका एक मात्र कारण यही है कि इतनी दूर तक लोग एक दूसरे से मिल नहीं पाते।

बोलियों के महत्व पाने का कारण

(१) जैसा कि ऊपर कहा गया है कुछ बोलियाँ तो मूल भाषा से अलग हो जाने पर अपने बोलने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है और उन लोगों को केवल उन्हीं बोलियों का सहारा रह जाता है। ऐसी दशा में वे केवल महत्व ही नहीं पातीं अपितु, भाषा भी बन जाती हैं।

(२) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अतः उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

(३) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्व बढ़ा देती है। राम संबंधी प्रधान तीर्थ अयोध्या है तथा कृष्ण संबंधी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनों जगह की भाषाओं (अवधी और ब्रज) को औरों की अपेक्षा अधिक महत्व मिला और कई सदियों तक वे साहित्य की भाषा बनी रहीं।

(४) बोलने वालों का महत्वपूर्ण होना भी बोली को महत्वपूर्ण बना देता है। अंग्रेज़ों ने आधुनिक युग के आरंभ में विश्व भर में अपना व्यापार फैला दिया। फल यह हुआ कि आज विश्व की व्यापारिक भाषा अंग्रेज़ी है। चाहे जर्मनी हो चाहे जापान और चाहे रूस हो या फ्रांस सभी लोग अपनी बनाई वस्तुओं पर अंग्रेजी में ही मेड-इन (Made in) लिखते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बोलने वाले कहीं के शासक आदि हो जाते हैं और वह बोली वहाँ शासक की बोली होने से महत्व पा जाती है।

(५) बोली के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण होने का सबसे बड़ा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा वहाँ की बोली अवश्य ही महत्वपूर्ण हो जायेगी। दिल्ली के समीप की खड़ी बोली आज हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एवं महत्वपूर्ण बोलियों को भी दबा लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेज़ी बोलियाँ अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई हैं। मराठी में कोंकणी, कारवाड़ी और बरारी आदि बोलियाँ, बोलियाँ ही रह गईं; पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दारिन बोली की भी यही दशा है। सभी देशों में इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं।

भाषा और बोली

ये दोनों स्वतंत्रतः अलग नहीं हैं। सत्य तो यह है कि मूल भाषा जिससे परिवार का आरंभ होता है (ऊपरी चित्र में 'क') को छोड़कर बाद की विकसित सभी भाषाएँ अपनी शैशवावस्था में बोली ही रहती हैं। ऊपर के चित्र में 'क' से 'ख' 'ग' 'घ' तीन बोलियों का विकास हुआ। कुछ सदियों के बाद ये तीनों विकास करते करते एक दूसरे से इतनी भिन्न

हो गईं कि भाषा हो गईं, और फिर 'ख' भाषा से 'च' 'छ' 'ज' बोलियों का विकास हुआ। इसी प्रकार 'ग' और 'घ' से 'ट' 'ठ' 'ड' तथा 'त' 'थ' 'द' का। आरंभ में ये सभी बोलियाँ रहीं। फिर समय पाकर धीरे-धीरे भाषाएँ बनीं और जैसा कि चतुर्थावस्था में दिखाया गया है इनसे पुनः 'प' 'फ' 'य' 'र' आदि भाषाओं का विकास हुआ।

कभी-कभी भाषा या बोली की मृत्यु भी दूसरे के दबाव से या बोलने वालों के समाप्त हो जाने से हो जाती है। उपर्युक्त चित्र में 'ट' 'ठ' 'त' ऐसी ही बोलियाँ हैं।

भारोपीय परिवार से इन सब के उदाहरण लिये जा सकते हैं। इस परिवार की आर्यशाखा आरंभ में एक बोली रही होगी। उसका विकास भाषा में हुआ, फिर उस भाषा से ईरानी और भारतीय दो बोलियाँ निकलीं। और जब धीरे-धीरे ये दोनों समय पाकर भाषाएँ हो गईं तो आर्य बोली जो बोली से भाषा बनी थी अब शाखा कही जाने लगी।

भारतीय परिवार की हिट्टाइट आदि भाषाएँ बहुत पहले मर गईं। बहुत सी मरी भाषाओं के संबंध में तो यह भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु के समय वे बोलियाँ थीं या भाषाएँ।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बोली भाषा क्यों बन जाती हैं? इसका एक मात्र उत्तर है उस बोली का किसी कारण से प्रमुख हो जाना। पर यह सर्वदा आवश्यक नहीं है कि किसी कारण से बोली प्रमुखता प्राप्त करके भाषा बन ही जाय। कभी-कभी केवल साहित्य आदि में उसका प्रयोग भर होने लगता है पर वह भाषा नहीं भी बन पाती। इसके लिए उदाहरण स्वरूप हिन्दी की बोली अवधी ली जा सकती है।

एक भाषा के अंतर्गत बहुधा बहुत सी बोलियाँ होती हैं, जो मूलरूप में बहुधा उस भाषा की छोटी या बड़ी बहन ही होती हैं।

(३) आदर्श भाषा

सभ्यता के विकसित होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि एक भाषा-क्षेत्र की जिसमें कई बोलियाँ हों कोई एक बोली आदर्श मान ली जाय और पूरे क्षेत्र से संबंधित कार्यों के लिए उसका प्रयोग हो। उसे आदर्श भाषा कहा जाता है, और वह पूरे क्षेत्र के उच्च वर्ग के लोगों की भाषा हो जाती है। साहित्य आदि में भी उसी का प्रयोग होता है।

एक बोली जब आदर्श भाषा बनती है और प्रतिनिधि हो जाती है तो आस पास की बोलियों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि आदर्श भाषा आस-पास की बोलियों को बिल्कुल समाप्त कर देती है। रोम की लैटिन जब इटली की आदर्श भाषा बनी तो आस पास की बोलियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गईं पर ऐसा बहुत ही कम होता है।

आदर्श भाषा के तत्कालीन रूप को लेकर उसका उच्चारण और व्याकरण आदि निश्चित कर दिया जाता है। और फल यह होता है कि आदर्श भाषा स्थिर हो जाती है और कुछ दिन में उसका रूप प्राचीन पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की खड़ी बोली का लिखित रूप जीवित बोली से उच्चारण तथा शब्द-समूह में कम से कम चालीस वर्ष पीछे है[1]। व्याकरण में भी कुछ परिवर्तन आ गया है।

आदर्श भाषा का रूप पूरे क्षेत्र में एक ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव भी उस पर कुछ पड़ता है[2]। यह प्रभाव व्याकरण और शब्द-समूह तथा उच्चारण तीनों में ही देखा गया है। भोजपुरी लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा है' तथा 'हमने काम किया' के स्थान पर 'हम काम किए' का प्रयोग करते हैं। पंजाबी लोगों ने भी आदर्श हिन्दी पर अपनी पालिश कर दी है।

आदर्श भाषा के (१) मौखिक और (२) लिखित रूप

आदर्श भाषा के प्रादेशिक रूपों के अतिरिक्त लिखित और मौखिक भी दो रूप होते हैं। सभी मौखिक भाषाएँ अपने लिखित रूपों से भिन्न होती हैं। बोलने में सर्वदा ही वाक्य छोटे छोटे रहते हैं पर लिखित रूप के वाक्य अधिकतर बड़े हो जाते हैं। कादंबरी के वाक्य कहीं

---

[1] देखिए २७ अगस्त १९५० के संगम (प्रयाग से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक पत्र) में लेखक का 'क्या हम जो बोलते हैं वही लिखते भी हैं ?' शीर्षक लेख।

[2] आधार सिद्धांत या सब्स्ट्रेटम थ्यूरी में प्रस्तुत पुस्तक में इस संबंध में कुछ और बातें मिल सकती हैं।

कहीं पृष्ठ पार कर जाते हैं पर बोलचाल की संस्कृत कभी ऐसी न रही होगी। इस प्रकार मौखिक रूप स्वाभाविक है और लिखित रूप कृत्रिम। इस बात का आदर्श भाषा में भी पाया जाना स्वाभाविक है।

आदर्श भाषा के लिखित रूप पर मौखिक रुप की अपेक्षा प्रादेशिकता की छाप कम रहती है क्योंकि लिखने में लोग हँसी और अशुद्धि आदि के भय से काफ़ी सोच समझ कर लिखते हैं।

लिखित रूप मौखिक की अपेक्षा अधिक संस्कृत रहता है।

खड़ी बोली के संबंध में एक और विशेष बात है। मौखिक भाषा में उर्दू और हिन्दी का कोई प्रधान अंतर दृष्टिगत नहीं होता; पर लिखित भाषा में यदि जान बूझ कर हिन्दुस्तानी न लिखी जाय तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार आदर्श भाषा हिन्दी खड़ी बोली के तीन रूप हैं –(१) मौखिक रूप-जिसमें विभिन्न स्थानों पर केवल प्रादेशिकता की छाप रहती है। (२) लिखित उर्दू रूप जिसमें खड़ी बोली का व्याकरण मात्र रहता है। शेष के लिए अरबी, फारसी और तुर्की का सहारा लिया जाता है। तथा, (३) लिखित हिन्दी रूप जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक रहते हैं।

(४) राष्ट्र भाषा

आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र में रहती है जिसकी वह एक बोली होती है। जैसे हिन्दी संयुक्त प्रांत बिहार तथा मध्य प्रान्त आदि की आदर्श भाषा है। पर जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी बढ़ती है और अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य परिवार क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों में होने लगता है तो वह राष्ट्र भाषा का पद पा जाती है। आज हिन्दी को भारतवर्ष में लगभग यही स्थान प्राप्त है। वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तों (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि) तथा अन्य परिवार के प्रान्तों (मद्रास आदि) में भी धीरे धीरे व्यवहार में आ रही है। पूरे यूरोप में कुछ दिन तक फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। कुछ तो आज भी है। व्यापार के क्षेत्र में अंग्रेज़ी आज विश्व की राष्ट्रभाषा है। किसी बोली की उन्नति की चरम सीमा उसका किसी रूप में विश्व भाषा होना ही है।

(५) विशिष्ट भाषा

व्यवसाय या कार्य के अनुसार भिन्न भिन्न वर्गों की अलग अलग भाषाएँ

हो जाती हैं। ये भाषाएँ आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप हैं जो अधिकतर शब्द-समूह में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कभी कभी उच्चारण संबंधी अंतर भी दिखाई देता है। विद्यार्थियों की भाषा या छात्रालय की भाषा, व्यापारियों की भाषा, धार्मिक संघों की भाषा, राजनैतिक संस्थाओं की भाषा तथा साहित्यिक गोष्ठियों की भाषा ऐसी ही हैं। किसी पर अंग्रेजी का प्रभाव अधिक रहता है तो किसी पर संस्कृत का और किसी किसी पर गाँव की बोलियों का। साधारण शब्दों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों का अन्तर तो प्रायः इन सभी में मिलता है।

(६) कृत्रिम भाषा—(क) गुप्त भाषा

चोरों, डाकुओं आदि में इसका प्रयोग बहुधा मिलता है। एक अंग्रेज विद्वान ने उत्तर प्रदेश के 'जरायम पेशा वालों' के अध्ययन के सिलसिले में उनकी भिन्न भिन्न भाषाओं का मनोरंजक अध्ययन किया था। उसमें शब्द कुछ तोड़ मरोड़ के साथ साधारण प्रयोग के ही रहते हैं पर उनके अर्थ में परिवर्तन रहता है। जैसे 'परसाद दो' = ज़हर दो, पूजा करो = पीटो, अमर करो = मार डालो इत्यादि।

भारत के आज़ाद होने के पूर्व आतंकवादियों एवं क्रांतिकारिओं में ऐसी बहुत सी भाषाएँ प्रचलित थीं। इसमें पूरी भाषा का रूप नहीं था पर काम चलाने भर लोग बोल लेते थे। एक बार एक नेता को बुलाने के लिए तार में केवल 'अनुपस्थित' (Absent) लिखा गया था।

लड़कों में गुप्त भाषा की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मेरी बाल्यावस्था में मेरे ही साथियों में ऐसी चार गुप्त बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें कम से कम एक तो ऐसी थी कि उसमें दो लड़के एक एक घंटे तक बात कर सकते थे और अन्य सुनने वाले कुछ भी न समझ पाते थे।

राकस्तूरी पंजा बीरे मकस्तूरी मासा = राम

जाकस्तूरी पंजा बीरे ताक्स्तूरी मासा है = जाता है

इस प्रकार इन तीनों स्थानों पर अक्षर अक्षर जोड़ कर शब्द और वाक्य बनाए जाते थे।

कुछ लोग र् और म् लगाकर बोलते थे पर, यह भाषा सुरक्षित नहीं समझी जाती थी।

करम्यों जरमा ररमहे हरमो = क्यों जा रहे हो !

मरमैं खरमाना खरमा करमर अरमाऊँगरमा = में खाना खाकर आऊँगा।

सबसे आसान रास्ता 'फुल' लगाकर था।

फुलभो फुलाल नाफुल फुलथ = भोलानाथ

कभी कभी गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी होती है। एक लिपि मेरे देखने में भी आई थी जो बँगला अंग्रेजी उर्दू और नागरी के आधार पर थी।

चले आना = △ UJ EA न।

(ख) सामान्य भाषा

कृत्रिम भाषा के प्रथम रूप 'गुप्त' भाषा में हमने देखा कि भाषाएँ स्वाभाविक रुप से विकसित न हो कर बनाई रहती हैं। सामान्य कृत्रिम भाषा और गुप्त कृत्रिम भाषा में अंतर यह है कि गुप्त भाषा गुप्त व्यवहार या बात के लिए बनती हैं अतः प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है ताकि कोई समझ न सके पर सामान्य में यह बात नहीं रहती। वह प्रचति भाषा के निकट ऐसी बनाई जाती है कि यथा शीघ्र लोग उसे समझ कर उसका प्रयोग कर सकें।

डॉ० ज़मेनाफ की बनाई एसपिरेंतो [1] भाषा ऐसी भाषाओं में सर्व प्रसिद्ध है। यह संसार भर के लिए बनाई गई थी। हिन्दुस्तान की 'हिन्दुस्तानी' भी कुछ ऐसी ही भाषा है।

कृत्रिम भाषाएें प्रचलित नहीं हो सकतीं। इसका कारण यह है कि वे स्वाभाविक और जीवित नहीं होतीं।

संसार की भाषाएँ और उनका वर्गीकरण

संसार की विभिन्न भाषाओं को देखने से इस बात का अनुभव होता है, कि कुछ न कुछ भिन्न होने पर भी उनमें परस्पर कुछ बातों में समता या एकता है। ये समानतायें प्रधानतया दो प्रकार की हैं—(१) संबंध तत्व (प्रत्यय), या शैली की [जैसे—करना जाना खाना—इन सब में—ना प्रत्यय लगा हुआ है, जो एक ही संबंध-तत्व का बोध कराता है।] और (२) अर्थ तत्व, या सामग्री की [—करना, करता, करेगा, करा—इन

१ परिशिष्ट में इसका विशेष विवरण मिलेगा।

सब में संबंध तत्व की विभिन्नता है, परंतु अर्थ-तत्व की समानता है।] इन्हीं समानताओं के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है—

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण (Syntactical or Marphological)- संबंध-तत्व की समता पर भाषाओं का जो वर्गीकरण किया जाता है वह आकृतिमूलक वर्गीकरण कहलाता है।

(ख) ऐतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण (Historical)–आकृतिमूलक समानता के साथ ही अर्थ-तत्व की भी समानता पर भाषाओं का वर्गीकरण ऐतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण कहलाता है। इस वर्गीकरण का आधार शब्द-व्युत्पत्ति तथा व्याकरण है।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधारः—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस वर्गीकरण का आधार शैली है। शैली से हमारा तात्पर्य वाक्य और रूप बनाने की शैली से है। इस प्रकार प्रस्तुत वर्गीकरण में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथमतः, वाक्य में शब्दों का पारस्परिक संबंध किस प्रकार प्रकट किया गया है ?—जैसे, उदाहरण के लिए यदि हम "मैंने भोजन किया" वाक्य लें तो 'मैं', 'भोजन' और 'करना' अर्थ-तत्वों का संबंध किस प्रकार प्रकट किया गया है—या वे एक दूसरे से किस प्रकार बाँधे गये हैं। दूसरे, 'मैंने' 'भोजन' और 'किया' ये तीनों शब्द किस प्रकार धातु प्रत्यय या उपसर्ग लगा कर बनाये गये हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वाक्य-विचार और रूप-विचार पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के भेद :—आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से पहले भाषाएं दो वर्गों में बाँटी जाती हैं—

(१) अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating Languages)[१]

(२) योगात्मक भाषाएँ (Agglutinative Languages)[२]

अब हम इन दोनों वर्गों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(१) अयोगात्मक भाषाएँ :—अयोगात्मक भाषाओं में प्रत्येक शब्द

१ इन भाषाओं को स्थान-प्रधान (Positional), निरवयव (Inorganic) या निपात-प्रधान भी कहा जाता है।

२ इन्हें सावयव (Organic) भी कहते हैं।

की अपनी स्वतंत्र सत्ता रहती है। उसमें दूसरे शब्दों के कारण कोई विकार या परिवर्तन (आंतरिक अथवा वाह्य) नहीं होता। प्रत्येक शब्द की अलग-अलग संबंध तत्व या अर्थ तत्व को व्यक्त करने की शक्ति होती है और उन शब्दों का परस्पर संबंध केवल वाक्य में उनके स्थान से मालूम होता है।

अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। चीनी भाषा में व्याकरण नाम की कोई अलग चीज़ नहीं होती। वाक्य में एक ही शब्द स्थान और प्रयोग के अनुसार संज्ञा, विशेषण, क्रिया, और क्रिया-विशेषण आदि हो सकता है। तिस पर भी शब्दों में किसी प्रकार का विकार नहीं हो पाता। हम यहाँ इस भाषा के कुछ उदाहरण लेते हैं—

(१) 'ता जिन' = बड़ा आदमी
'जिन ता' = आदमी बड़ा (है)

(२) 'न्गो त नि' = मैं मारता हूँ तुझे।
'नि त न्गो' = तू मारता है मुझे

चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी, तथा एशिया की मलय, वर्मी, स्यामी तथा तिब्बती आदि भाषाएँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं।

(२) **योगात्मक भाषाएँ** :—योगात्मक भाषाएँ, अयोगात्मक से उलटी हैं, क्योंकि इन में शब्दों की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। इन भाषाओं में संबंधतत्व (प्रत्यय) अर्थतत्व (धातु या मूल शब्द) के साथ जोड़ दिया जाता है। क्योंकि इन भाषाओं में ऊपर के दोनों तत्त्वों का योग होता है इसी कारण से योगात्मक भाषाएँ कहलाती हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक ही हैं।

योगात्मक भाषाओं को योग की प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में रखा गया है—

(क) प्रश्लिष्ट (Incorporating) [1]

(ख) अश्लिष्ट (Simple Agglutinative)

(ग) श्लिष्ट (Inflacting)

---

१ बहुसंश्लेषात्मक (Polysynthetic) या अव्यक्त योगात्मक (Holophrastic) भी इसी के नाम हैं।

सुविधा के लिए हम इन तीनों विभागों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(ख) प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ :--प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में संबंध-तत्व तथा-अर्थ-तत्व का इस प्रकार योग होता है कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। (जैसे संस्कृत 'शिशु' से बना शब्द 'शैशव')। प्रश्लिष्ट भाषा के भी दो भेद किये गए हैं। एक में योग पूर्ण रहता है और दूसरे में आंशिक या अपूर्ण। ये दोनों भेद इस प्रकार हैं—

(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट (Completely Incorporative) :—इन भाषाओं में संबंधतत्व और अर्थतत्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। इस भाषा की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वाक्य में पूरे शब्द नहीं आते, बल्कि उनका कुछ अंश छूट जाता है और इस प्रकार आधे-आधे शब्दों के संयोग से बना हुआ लंबा-सा शब्द ही वाक्य हो जाता है। ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(i) दक्षिणी अमरीका की चेरोकी भाषा में :—

नातेन = लाओ

अमोखोल = नाव

निन = हम

इन शब्दों से वाक्य बनाने में शब्द अपना थोड़ा-थोड़ा अंश छोड़ कर ऐसा मिलते हैं कि एक बड़ा-सा शब्द बन जाता है—'नाधोलिनिन' (हमारे पास नाव लाओ)

(ii) इसी प्रकार ग्रीनलैंड की भाषा में भी :—

अउलिसरि् = मछली मारना

पेर्तोर् = काम में लगना

पिन्नेसुअर्पोक् = वह शीघ्रता करता है

इन तीनों से मिलकर एक शब्दीय वाक्य बनता है—

'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक्' (वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है)

(ख) आंशिक प्रश्लिष्ट (Partly Incorporative):—इन भाषाओं में सर्वनाम तथा क्रियाओं का ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि क्रिया अस्तित्वहीन हो कर सर्वनाम की पूरक हो जाती है। पिरेनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली भाषा बास्क आंशिक प्रश्लिष्ट ही है। अफ्रीका की बंटू कुल की भाषाएँ भी बहुत कुछ इसी प्रकार की हैं। बास्क भाषा के दो उदाहरण यहाँ लिये जाते हैं—

दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

नकारसु = तुम मुझे ले जाते हो।

दोनों ही वाक्यों में केवल सर्वनाम और क्रियाएँ हैं। पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति आंशिक प्रश्लिष्ट में संज्ञा, विशेषण, क्रिया, और अव्यय आदि सभी का योग संभव नहीं। भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी इसके इक्के-दुक्के उदाहरण मिलते हैं।

गुजराती भाषा में 'मे कह्यं जे' (मैंने यह कहा) का 'मकुं जे' हो जाता है। बँगला में भी इस 'आंशिक-प्रश्लिष्टपने' के एकाध उदाहरण मिलते हैं। [किंतु इन उदाहरणों के आधार पर बँगला और गुजराती को भी आंशिक प्रश्लिष्ट भाषाएँ समझने की बुद्धिमता न की जाय।]

(ग) **अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ**—अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में संबंध तत्व (प्रत्यय) अर्थतत्त्व से इस प्रकार जुड़ा होता है कि उसकी सत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। इस स्पष्टता के कारण इन भाषाओं की रूप रचना बहुत ही आसान होती है। भाषा-वैज्ञानिकों की आदर्श और कृत्रिम भाषा Esparanto का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं को भी कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पूर्व योगात्मक (Prefix Agglutinative):—इन भाषाओं में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। शब्द वाक्य के अंतर्गत बिल्कुल अलग-अलग रहते हैं। शब्दों की रूप रचना में संबंधतत्त्व केवल आरंभ में लगता है, इसी कारण ये पूर्व योगात्मक कही जाती हैं। बंटू भाषाओं में यह विशेषता स्पष्ट रूप से पायी जाती है।

उदाहरण लीजिए—

जुलू भाषा में

उमु = एक बचन का चिह्न

अब = बहु बचन का चिह्न

न्तु = आदमी

न्ग = से

इनके योग से शब्द बनते हैं—

उमुन्तु = एक आदमी

अबन्तु = कई आदमी

न्गउमुन्तु = आदमी से

न्गअबन्तु = आदमियों से

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी उदाहरणों में योग आरंभ में हैं। इसी प्रकार काफिरी भाषा में भी—

कु = संप्रदान कारक का चिह्न

ति = हम

नि = उन

इनके योग से

कुति = हमको

कुनि = उनको

यहाँ जुलू का एक वाक्य भी देखा जा सकता है। ऊपर उमु, अब न्तु का अर्थ हम दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त

तु = हमारा

चिल = सुन्दर

यबोनकल = देख पड़ना

इनके मिलाने से—

एक बचन में—

उमुन्तु वेतु ओमुच्ले उयबोतकल = हमारा आदमी देखने में भला है। इसका बहुवचन केवल आरंभिक अंश में परिवर्तन करने से हो जाता है—

अबन्तु बेतु अबच्ले बयनोकल—हमारे आदमी देखने में भले हैं।

(ख) मध्ययोगात्मक (Infix Agglutinative) तथा पूर्वान्त योगात्मक (Prefix Suffix Agglutinative)

इस वर्ग की भाषाएँ हिन्द महासागर के द्वीपों से लेकर अफ्रीका के समीप के मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली हैं। इन भाषाओं में संबंधतत्त्व तथा अर्थ तत्त्व का योग दो प्रकार से होता है—

(१) यदि शब्द दो अक्षरों का हुआ तो संबंधतत्त्व बीच में जोड़ दिया जाता है। और (२) यदि शब्द दो अक्षरों से अधिक का हुआ तो संबंधतत्त्व आदि तथा अंत में जोड़ा जाता है।

इन दोनों ही के उदाहरण देखे जा सकते हैं—

(१) मध्य योगात्मक (4)

मुंडा कुल की संथाली भाषा में 'मंझि' = मुखिया और 'प' (बहुवचन का चिह्न) के योग से—

मपंझि = मुखिया लोग

यहाँ 'प' बीच में जोड़ा गया है।

अपवाद स्वरूप बंटू भाषा में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं—

सि – तन्दा = हम प्यार करते हैं।

सि – म – तन्दा = हम उसे प्यार करते हैं।

सि – ब – तन्दा = हम उन्हें प्यार करते हैं।

इसी प्रकार तुर्की में भी कुछ मध्य योग के उदाहरण हैं—

सेव्मेक् = प्यार करना

सेव्इनमेक् = अपने को प्यार करना

सेव्इलमेक् = प्यार किया जाना

✓(२) पूर्वान्त योगात्मक

मकोर भाषा में

'म्नफ' = सुनना

ज् – म्नफ – उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(यहाँ पूर्व में 'ज्' और अंत में 'उ' जोड़ा गया है।)

✗ (ग) अंत योगात्मक (Suffix agglutinative)

इस वर्ग की भाषाओं में संबंध तत्व केवल अंत में जोड़ा जाता है।

यूराल अल्टाइक तथा द्राविड़ परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। यहाँ तुर्की और कन्नड़ से कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं :—

तुर्की

एव = घर

एवलेर = कई घर

एवलेरइम = मेरे घर

कन्नड़

'सेवक' शब्द का बहुवचन में विभिन्न कारकों में रूप—

कर्ता कारक में—सेवक रु

कर्म " "—सेवक रन्नु

करण " "—सेवक रिंद

संप्रदान " "—सेवक रिगे आदि ।

इसी प्रकार हंग्री की भाषा में—

ज़ार = बन्द करना

ज़ारत् = बन्द करवाता है।

ज़ारत्गत् = अधिकतर बन्द करवाता है।

(घ) आंशिक योगात्मक (Partly agglutinative)

योगात्मक शाखा के अश्लिष्ट वर्ग की अंतिम उपशाखा आंशिक-योगात्मक भाषाओं की है। इस वर्ग की भाषाएँ यथार्थतः तो योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच में पड़ती हैं। इन भाषाओं में योग और अयोग दोनों के ही चिह्न मिलते हैं। पर ये भाषाएँ योगात्मक भाषाओं और उनमें भी अश्लिष्ट भाषाओं से कुछ समानता रखती हैं अतः इनको आंशिक (अश्लिष्ट) योगात्मक नाम दिया गया है।

न्यूज़ीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषाएँ आंशिक योगात्मक हैं।

(श) श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में संबंध तत्व (प्रत्यय) को जोड़ने के कारण अर्थ तत्त्व वाले भाग में भी कुछ विकार पैदा हो जाता है, परंतु तिस पर भी संबंधतत्त्व को

झलक अलग ही मालूम पड़ती है। रूप विकृत हो जाने पर भी संबंधतत्त्व छिपा नहीं रहता। जैसे—'क् त् ल्' से 'क़ातिल' (=मारने वाला)। और अधिक स्पष्ट करने के लिए देखिए—वेद, नीति, इतिहास, भूगोल, से बने रूपों, वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक भौगोलिक आदि में स्पष्ट मालूम पड़ता है कि '—इक' प्रत्यय जोड़ा गया है। इस से वेद, नीति आदि शब्दों में थोड़ा विकार अवश्य पैदा हो गया है, हालाँकि संबंध तत्त्व स्पष्ट है।

इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सब से अधिक उन्नत हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं।

श्लिष्ट भाषाओं के भी दो विभाग किये जाते हैं—(क) अंतर्मुखी और (ख) वहिर्मुखी। यह विभाजन बहुत समीचीन नहीं है और न पूर्णतया लागू ही होता है, किंतु आंशिक रूप से इसकी सत्यता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

अब हम दोनों पर थोड़ा-थोड़ा विचार करेंगे—

(क) अंतर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inflectional):—

इस विभाग की भाषाओं में जोड़े हुए भाग मूल (अर्थ-तत्त्व) के बीच में बिल्कुल घुलमिल कर रहते हैं। सेमेटिक और हेमेटिक कुल की भाषाएँ इसी विभाग की हैं। अरबी भाषा इसके लिए उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। अरबी में धातु तीन व्यंजनों की होती है। संबंधतत्त्व प्रधानतः स्वर होता है जो व्यंजनों के साथ घुलमिल कर रहता है। आशय स्पष्ट करने के लिए हम क् त् ब् धातु को लेते हैं, जिसका अर्थ है—लिखना। इस से निम्न शब्द बने हैं—

कातिब=लिखने वाला।

किताब=जो लिखा (या लिखी) गया हो।

कुतुब=बहुत-सी किताबें।

मकतब=जहाँ किताबें पढ़ायी जायें।

इस अंतर्मुखी विभाग के भी दो भाग हैं:—

(i) संयोगात्मक (Synthetic) अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं

का पुराना रूप संयोगात्मक था। शब्दों में अलग से सहायक संबंध तत्त्व लगाने की आवश्कता न थी।

(ii) वियोगात्मक (Analytic) आज इन भाषाओं में शब्द साधारणतया बनते तो उसी प्रकार हैं पर वाक्य की दृष्टि से वियोगात्मकता आ गयी है, क्योंकि सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। बाद की हिब्रू भाषा में यह बात विशेष रूप से दिखायी पड़ती है।

(ख) बहिर्मुखी श्लिष्ट (External Inflectional):—

इस विभाग की भाषाओं में जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग (अर्थ तत्त्व) के बाद आते हैं। जैसे संस्कृत में गम् धातु से 'गच्छ्'+अ+न्ति=गच्छन्ति (=जाते हैं)। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी विभाग में आती हैं।

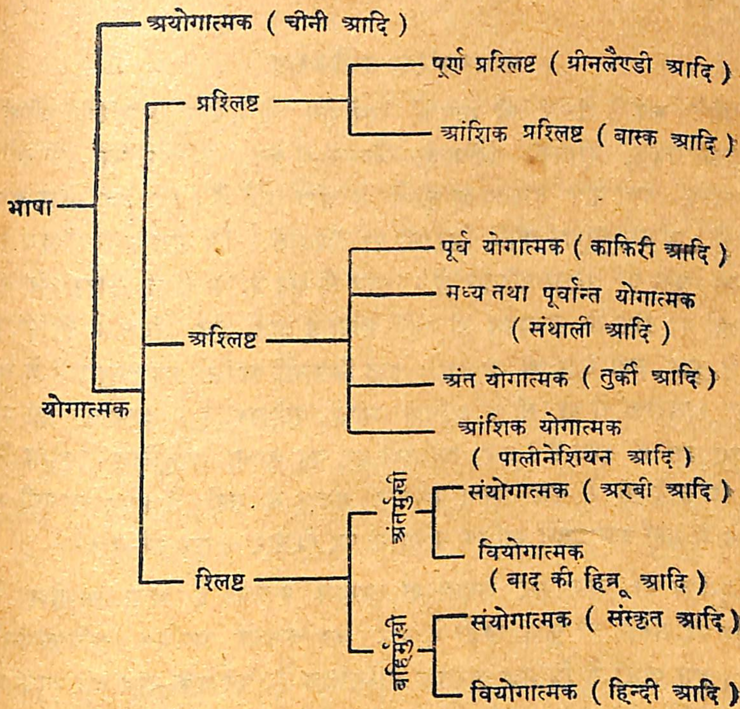
इसके भी दो भाग किये जा सकते हैं—

(i) संयोगात्मक—भारोपीय परिवार की पुरानी भाषाएँ (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि) भी संयोगात्मक थीं। इनमें सहायक क्रिया तथा परसर्ग आदि की आवश्यकता न थी। शब्द में ही संबंध तत्त्व लगा रहता था, जैसे संस्कृत में— सः पठति=वह पढ़ता है।
इस परिवार की लिथुआनियन भाषा तो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अधिक परिवर्तित न होने से आज भी संयोगात्मक ही है।

(ii) वियोगात्मक—भरोपीय परिवार की अधिक भाषाएँ आधुनिक काल में वियोगात्मक हो गयी हैं। बहुत पहले उनकी विभक्तियाँ धीरे-धीरे घिस कर लुप्तप्रायः हो गईं, अतः अलग से शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ने लगी और इस आवश्यकता के कारण परसर्ग तथा सहायक क्रिया के रुप में शब्द रखे जाने लगे। ऊपर हम लोग संस्कृत भाषा का 'सः पठति' संयोगात्मक उदाहरण देख चुके हैं। शब्द 'है', वह 'पठति' में भी था, किंतु अब उसे अलग से लगाने की आवश्यकता पड़ गई है। कारक चिन्हों के विषय में भी यही बात है।

अंग्रेजी, हिंदी, बँगला आदि वियोगात्मक भाषाएँ हैं। कुछ लोगों का कथन है कि आधुनिक भारोपीय कुल की वियोगात्मक भाषाएँ पुन: संयोगावस्था की ओर जा रही हैं। सम्भव है अपना वृत्त पूरा कर ये पुनः पूर्ण संयोगात्मक हो जायँ।

आकृति मूलक वर्गीकरण



(ख) पारिवारिक वर्गीकरण का आधार

आकृतिमूलक समानता (शब्द तथा वाक्य बनाने की शैली की समानता के अतिरिक्त जब अर्थतत्व या धातु आदि की भी समानता रहती है तो भाषाएँ एक परिवार की मानी जाती हैं। इसके लिए शब्दों की व्युत्पत्ति यथा ऐतिहसिक और तुलनात्मक व्याकरण की सहायता लेनी पड़ती है।

परिवारिक वर्गीकरण को कुछ विद्वान् भ्रामक मानते हैं। उनका कहना है कि व्युत्पत्ति आदि के आधार पर निश्चिततः इस संबंध में दो टूक उत्तर नहीं मिलता। पर इतना होने पर भी इस दृष्टि का वर्गीकरण एक हद तक शुद्ध है और बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस बर्गीकरण से भाषाओं के इतिहास तथा साहित्य की बहुत सी गुत्थियाँ आसानी से सुलझाई जा सकती हैं।

इस वर्गीकरण के लिए शब्दसमूह व्याकरण और ध्वनि इन तीनों की पूरी तरह छान बीन करके निष्कर्ष निकालना ठीक होता है। इन तीनों में भी व्याकरण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि शब्दसमूह और ध्वनि

तो ऋण भी लिये जा सकते हैं, पर व्याकरण में जल्दी बाहरी प्रभाव कम पड़ता है।

पारिवारिक वर्गीकरण

मोटे रूप से संसार की भाषाएँ भारोपीय, सेमिटिक, हैमिटिक, चीनी, यूरालअल्टाइक, द्राविड़, मैलेपालीनोशियन, बंटू, मध्यअफ्रीका, आस्ट्रो-प्रशान्तीय, तथा शेष इन बारह कुलों में बाँटी गई हैं। पर यह मोटा रूप मात्र है। फ्रेडरिकमूलर आदि विद्वानों का विश्वास है कि इस समय विश्व में लगभग एक सौ भाषा परिवार हैं। सत्य तो यह है कि अभी संसार भर की भाषाओं का ठीक से अध्ययन ही नहीं हुआ है अतः इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का तो यह अनुमान है कि केवल अमरीका में ही सौ से अधिक भाषा परिवार हैं। अफ्रीका की भी लगभग ऐसी ही दशा है। इन आधारों पर यह कहना अनुचित न होगा कि कुछ दो ढाई सौ से कम भाषा परिवार संसार में नहीं है। पर सामग्री के अभाव में यहाँ हम इतने अधिक परिवारों पर विचार न कर सकेंगे।

भूगोल का भाषा पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, अतः भूगोल के आधार पर संसार को कुछ खंडो में बाँट कर चलना आधिक सुविधाजनक होगा। इन खंडों में विभिन्न परिवार सम्मिलित हैं पर एक खंड की भाषाओं ने एक दूसरे को काफी प्रभावित किया है, अतः इस दृष्टिकोण से भाषाओं को समझने के लिए भी खंडों में बाँट लेना समीचीन होगा।

भाषा-खंड

भाषा खंडों की संख्या चार है—(१) अफ्रीका-खंड, (२) यूरेशिया खंड (३) प्रशांत महासागरीय खंड, और (४) अमरीका खंड।

[१] अफ्रीका-खंड

इस खंड में प्रधानतः पाँच भाषा परिवार हैं—(क) बुशमैन, (ख) बन्टू, (ग) सुडान, (घ) हैमिटिक या हामी और (ङ) सैमिटिक या सामी।

(क) बुशमैन परिवार

दक्षिणी अफ्रीका में आरेंज नदी से नगामी झील तक बसने वाले मूल निवासी बुशमैन जाति के कहे जाते हैं। इनकी भाषा वहाँ की सबसे प्राचीन भाषाओं में से है। अलग-अलग वर्गों में रहने के कारण इन लोगों में

बहुत सी भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हो गई हैं। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि यह कोई एक परिवार नहीं हैं अपितु कई परिवारों का वर्ग है। इस वर्ग या परिवार में गीत और कथा के रूप में मौखिक साहित्य भी है। डा० ब्लीक ने इनका अध्ययन किया है, उनका कहना है कि ये भाषाएँ अश्लिष्ट अंत योगात्मक रही हैं, पर अब धीरे धीरे आयोगात्मक हो रही हैं। इन भाषाओं ने आस पास के बंटू एवं सूडान परिवारों को काफी प्रभावित किया है। नामा, खोरा आदि होटेन्टोट भाषाएँ भी इसी के अंतर्गत हैं, जिनपर हैमिटिक परिवार का प्रभाव अधिक है और संभवतः इसी कारण वे अपनी अलग विशेषताएँ भी रखती हैं।

बुशमैन परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाओं में एक विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ पाई जाती हैं जिन्हें क्लिक या अंतः स्फोटात्मक ध्वनियाँ कहते हैं। साधारण ध्वनियों (वहिस्फोटात्मक) का उच्चारण साँस बाहर फेंक कर किया जाता है, पर क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में साँस भीतर खींचनी पड़ती है। ये कई प्रकार की होती हैं, जिनपर विस्तार के साथ ध्वनि प्रकरण में विचार किया जायेगा।

(२) इन भाषाओं में लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर न आधरित हो कर जीव और निर्जीव पर आधारित हैं।

(३) बहुवचन बनाने के लिए यहाँ कोई एक नियम नहीं है। चालिस पचास तरीकों का प्रयोग किया जाता है और वे भी इतने अव्यवस्थित हैं कि समझने पर भी बिना अभ्यास के कोई नहीं सीख सकता। कभी कभी जापानी आदि भाषाओं की भाँति संज्ञा एकबचन की पुनरुक्ति करके भी बहुवचन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए यदि घोड़ा का बहुवचन बनाना हुआ तो 'घोड़ा घोड़ा' कर देते हैं। यह नियम सबसे प्राचीन और सरल है।

(ख) बंटू परिवार

इस परिवार का नाम काफ़िर भी है। बंटू संज्ञा इसे इसलिए दी गई है कि इसकी सभी भाषाओं में आदमी के लिए साधारण ध्वनि परिवर्तनों के साथ 'बंटू' शब्द ही प्रचलित है। यह परिवार मध्य और दक्षिणी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में फैला है। इसकी भाषाओं में साहित्य नहीं है। सुनने में यह भाषा बड़ी मधुर होती है। शायद इसका कारण यह है कि इनमें

संयुक्त व्यंजनो का प्रयोग कम होता है और सभी शब्द स्वरांत होते हैं। कहने का ढंग भी कुछ संगीतात्मक होता है।

बंटू परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ अशिष्ट पूर्व योगात्मक हैं। शब्द वाक्य में अलग अलग रहते हैं। पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर होती है। आकृति मूलक वर्गीकरण में हम इसका उदाहरण देख चुके हैं।

(२) इन भाषाओं में लिंग नहीं के बराबर है।

(३) कभी कभी अर्थ की विभिन्नता स्वरों के ही अंतर से हो जाती है। 'हो–फिनेल्ला' का अर्थ बाँधना है पर 'हो फिनोल्ला' का अर्थ बिल्कुल उलटा खोलना हो जाता है।

(४) कोमलता और मधुरता इस वर्ग का इतना प्रधान गुण हैं कि उधार शब्दों में भी परिवर्तन लाकर स्वानुकूल बना लेते हैं। बेचारे 'क्राइस्ट' वहाँ जाकर 'किरिसित' हो गए हैं।

(५) इस परिवार की भाषाओं के साधारण वाक्यों में भी कविता की भाँति ध्वनि-सामंजस्य रहता है। वाक्य के एक शब्द में उपसर्ग लगा कर उसी की वज़न पर सभी शब्दों में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार छेक और वृत्ति अनुप्रास से इन लोगों की वाणी सर्वदा आभूषित रहती है।

विभाजन

बंटू परिवार में लगभग डेढ़ सौ भाषाएँ हैं जिनमें से प्रधान भाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है।

बंटू परिवार—
- पूर्वीवर्ग (काफिर, जुलू, किसुअहिली, किकांबा इत्यादि)
- मध्य वर्ग (सेचुना, सेसुतो, सेरोलांग, तेकेज़ा इत्यादि)
- पश्चिमी वर्ग (हरेरो, बुन्दा, कांगो, इसुबु, दुअलला आदि)

(ग) सुडान परिवार

इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में भूमध्यरेखा के उत्तर और हैमिटिक परिवार के दक्षिण, पूरब से पश्चिम तक पतले भाग में फैली हैं। इसकी कुछ भाषाएँ लिपिबद्ध भी हैं। कुछ बातों में यह परिवार बंटू से मिलता जुलता है।

सुडान परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

(१) चीनी भाषा की भाँति ये अयोगात्मक है। विभक्तियाँ बिल्कुल नहीं पाई जाती। धातुएँ उसी प्रकार एकाक्षर हैं।

(२) यहाँ व्याकरण नहीं होता और न उसकी कोई आवश्यकता ही है।

(३) इनमें बहुवचन बहुत स्पष्ट नहीं है। कभी कभी अन्य पुरुष (वे लोग, ये लोग) या 'लोग' शब्द के लिए प्रयुक्त शब्दों को जोड़कर संज्ञा को बहुवचन बना लेतें हैं। ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके भी कभी कभी बहुवचन को प्रकट कर लेतें हैं, जैसे रॉर=बन और रोर=बनों, बहुत से बन। पर यह सब बहुत कम किया जाता है।

(४) लिंग के विषय में भी यही बात है। कुछ खास शब्द लिंग बोधक होते हैं जिन्हे जोड़कर शब्दां को लिंग प्रदान किया जाता है।

(५) पूर्व सर्ग (Preposition) के आभाव के कारण संयुक्त या मिश्रित वाक्यों की रचना नहीं हो पाती अतः उसे तोड़कर लोग साधारण बना लेतें हैं, जो छोटा सा होता है और जिसमें केवल एक क्रिया होती है। उदाहरणार्थ यदि इन लोगों को 'वह जहाज़ पर से समुद्र में कूदा' कहना होगा तो इसे ३ वाक्यों में (वह कूदा। जहाज़ के भीतरी भाग को छोड़ा। समुद्र में गिरा।) कहेंगे।

(६) ऊपर हम कह चुके हैं कि इस परिवार की धातुएँ चीनी की भाँति एकाक्षर होती हैं पर प्रकृति की दृष्टि से कुछ भिन्न होती हैं। इनमें वर्णनात्मकता होती है। साथ ही वे ध्वन्यात्मक भी होती हैं। यों तो हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में भी भड़भड़ तड़तड़ आदि ध्वन्यात्मक शब्द होते हैं जो ध्वनि को चित्रित करते हैं पर इन भाषाओं में धातु या शब्द केवल ध्वनि को ही प्रकट नहीं करते अपितु रूप, गति, अवस्था और यहाँ तक कि रंग का भी चित्र खींच देते हैं। ये अधिकतर क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं पर कभी कभी विशेषण रूप में भी। इस वर्ग की भाषाओं में ऐसे शब्द सबसे अधिक हैं। कुछ क्रिया विशेषणों के उदाहरण लिए जा सकते हैं। ये √जो (चलना) की विशेषता प्रकट करते हैं—

कक—सीधा

त्यत्य—जल्दी जल्दी

सिसि—छोटे छोटे कदम रखकर, आदि ।

हम लोग इनके सुनने के अभ्यस्त नहीं हैं फिर भी थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों की ध्वनि अपने अर्थ को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है ।

(७) चीनी भाषा की ही भाँति यहाँ भी सुर (Tone) के परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है ।

विभाजन

सुडान परिवार में सवाचार सौ से भी अधिक भाषाएँ हैं । जिनमें वोलोफ, ईव, प्यूल, हौसा, मोम तथा नूबी आदि प्रधान हैं । इस परिवार की भाषाएँ चार वर्गों में रखी जा सकती हैं :—

सुडान परिवार—
- —सेनेगल भाषाएँ (वोलोफ आदि)
- —ईव भाषाएँ (ईव, अशानी, यरुबा आदि)
- —मध्यवर्ती भाषाएँ (हौसा, सोंघराई आदि)
- —नीलोत्तरी भाषाएँ (बारी डेंका आदि)

इन चार प्रधान वर्गों के अतिरिक्त भी कुछ वर्ग हैं, पर उतना विस्तार यहाँ आवश्यक नहीं है ।

(घ) हैमिटिक परिवार

उत्तरी अफ्रीका के संपूर्ण प्रदेश में यह फैला है । इसके कुछ बोलने वाले मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तक पहुँच गए हैं अतः उत्तरी अफ्रीका के अतिरिक्त छिट फुट कुछ अन्य छोटे छोटे प्रदेशों में भी इस परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं । इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार नौह के दूसरे पुत्र हैम अफ्रीका के कुछ लोगों के आदि पुरुष माने जाते हैं । इन्हीं के नाम पर इस कुल का नाम हैमेटिक पड़ा है । इस परिवार की बहुत सी भाषाएँ अब नष्ट हो चुकी हैं । और अब उन क्षेत्रों में सेमिटिक परिवार की भाषाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया है । हैमेटिक परिवार की कुछ भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा पुराने शिलालेख मिलते हैं । इस परिवार की अधिकतर वर्तमान बोलियाँ अन्य परिवारों से प्रभावित हैं । हौसा (मध्य अफ्रीका की राष्ट्र भाषा) जिसका नाम हम लोग सूडान परिवार के अंतर्गत ऊपर ले चुके हैं, कुछ विद्वानों के अनुसार इसी कुल की है, और सूडानी परिवार से अधिक प्रभावित होने के कारण ही सूडानी ज्ञात होती है ।

हैमिटिक परिवार के प्रमुख विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) पद बनाने के लिए इन भाषाओं में प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाए जाते हैं, पर ऐसा केवल क्रिया के ही संबंध में होता है। संज्ञा में प्रत्यय ही लगाई जाती है।

(३) इन भाषाओं में स्वर परिवर्तन मात्र से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। जैसे 'गल्' का अर्थ होता है भीतर जाना पर 'गेलि' का अर्थ होता है भीतर रखना है।

(४) जोर देने के लिए इनमें पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'लब' का अर्थ 'मोड़ना' होता है पर बार बार मोड़ने के लिए 'लब्र् लब्र' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार गोइ. (काटना) और गोगोइ (बार बार काटना) भी हैं।

(५) इन भाषाओं में क्रिया में काल से ठीक ठीक समय का बोध नहीं होता बल्कि पूर्णता और अपूर्णता का बोध होता है। समय का ठीक बोध कराने के लिए अन्य सहायक शब्दों की शरण लेनी पड़ती है।

(६) इस परिवार में लिंगभेद नर और मादा पर आधारित नहीं है, पर साथ ही वह भारोपीय भाषाओं की भाँति बहुत अव्यवस्थित भी नहीं है। सामान्यतः बड़ी और बली वस्तुएँ पुलिंग समझी जाती हैं। और इसकी उलटी निर्बल और छोटी स्त्रीलिंग। प्यार करने योग्य तथा कोमल वस्तुएँ भी स्त्रीलिंग मानी जाती हैं। तलवार, कड़ी और मोटी घास, चट्टान, हाथी आदि पुलिंग हैं पर चाकू, नरम और पतली घास, पत्थर के टुकड़े तथा छोटे छोटे जानवर स्त्रीलिंग हैं।

इन भाषाओं के अधिकतर पुलिंग शब्द कण्ठ ध्वनि से आरंभ होते हैं और स्त्रीलिंग दंत्य ध्वनि से। इथिओपिकशाखा की गल्ला और सोमाली भाषाओं में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। नामा आदि भाषाओं में अंत की ध्वनि से लिंग भेद होता है। कुछ भाषाओं में अन्य नियम भी हैं, पर 'त' ध्वनि स्त्रीलिंग के चिह्न के रूप में पूरे परिवार में प्रचलित है।

(७) बहुवचन बनाने के यहाँ कई तरीके हैं, साथ ही बहुवचन के समूहात्मक और असमूहात्मक आदि कई भेद भी हैं। लिसा (=आँसू, एक बचन), लिस्। (=आँसू का असमूहात्मक बहुवचन) और लिस्से (=आँसू

का समूहात्मक बहुवचन)। छोटे पदार्थ या कीड़े आदि बहुवचन समझे जाते हैं उनको एक वचन में लाने के लिए प्रत्यय जोड़नी पड़ती है। ऊपर हम लोग लिस् और लिसा देख चुके हैं। बिल् (पतिंगे) और बिला (पतिंगा) भी उदाहरण स्वरूपलिए जा सकते हैं।

(८) यहाँ की सबसे विचित्र और अभूतपूर्व विशेषता यह है कि संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित हुई समझी जाती है। अर्थात् किसी एक वचन पुलिंग संज्ञा को बहुवचन बनाते हैं तो लिंग के विचार से वह स्त्रीलिंग हो जाती है। इस नियम को भाषा-वैज्ञानिकों ने ध्रुवाभिमुख नियम कहा है। इसके अनुसार माता स्त्रीलिंग है पर माताएँ पुलिंग और इसी प्रकार शेर पुलिंग है पर कई शेर स्त्रीलिंग। परिशिष्ट भाग में इस पर विस्तार के साथ विचार किया गया है।

विभाजन

हैमिटिक परिवार—
- —मिस्रशाखा (प्राचीन मिस्री तथा काप्टिक आदि)
- —एथिओपिक शाखा (बेदौय, खामीर, सोमाली, गल्ला, साहो, बेजा आदि)
- —लिबियन शाखा (शिल्हा, तामाशेक, नुमिदिअन आदि)
- —मिश्रित (मसाइ, नम आदि)
- —फुला

(ङ) सेमिटिक परिवार

अफ्रीका में इस परिवार की शाखा मरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती है। इस परिवार का प्रधान क्षेत्र एशिया है। अतः यूरेशिया खंड में इस पर विचार करना समीचीन होगा।

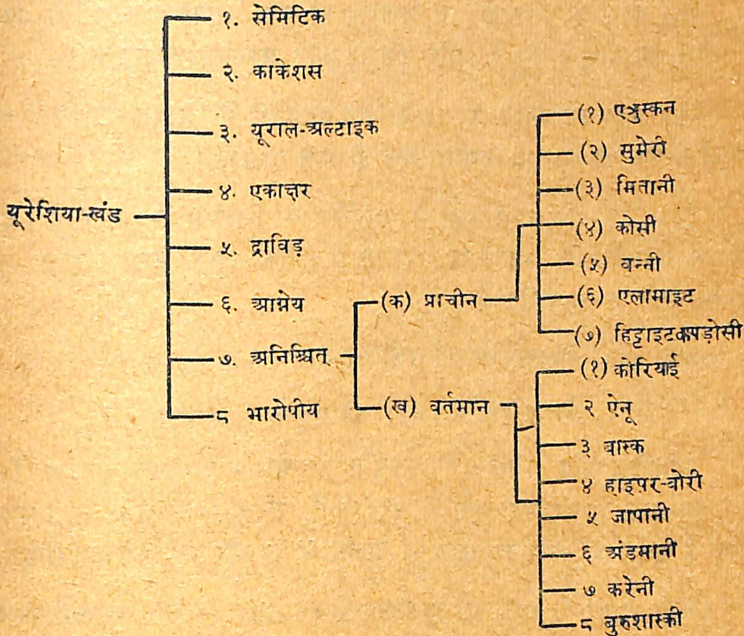
[२] यूरेशिया खंड

यह खंड मानव सभ्यता का केन्द्र रहा है और आज भी विश्व में इसी खंड का बोल-बाला है। यहाँ की भाषाओं में प्रचुरतम साहित्य मिलता है। भाषा विज्ञान के अध्ययन में भी इस खंड की भाषाओं का ही प्रधान हाथ है और इसीलिए इनका अध्ययन भी विशेष रूप से हुआ है।

इस खंड में प्रधान रूप से सात भाषा-परिवार हैं। पर इनके अतिरिक्त कुछ प्राचीन और नवीन भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनको किसी भी परिवार के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। इन अनिश्चित भाषाओं के लिए यदि एक

अनिश्चित या परिशेष समुदाय या परिवार मान लिया जाय तो कुल निम्नांकित आठ शाखाएँ बनती हैं।

यूरेशिया-खंड के भाषा परिवार



[क] सेमिटिक परिवार

ऊपर हैमिटिक पर विचार करते समय हज़रत नौह के छोटे लड़के हैम के नाम से हमलोग परिचित हो चुके हैं। हैम के अग्रज सेम दक्षिणी पश्चिमी एशिया के निवासियों के आदि पुरुष कहे जाते हैं। उन्हीं के नाम पर उस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा परिवार का नाम सेमिटिक पड़ा है। इस परिवार की अरबी भाषा ने उत्तरी अफ्रीका पर अपना आधिपत्य जमा लिया है और इस प्रकार यह परिवार अफ्रीका खंड में भी आता है। बहुत से विद्वान हैमिटिक परिवारों और सोमिटिक को एक ही परिवार मानते हैं। इस मानने का आधार दोनों परिवारों के लक्षणों में साम्य का आधिक्य है।

सेमिटिक और हैमिटिक के मिलते जुलते लक्षण

(१) दोनों ही शिलष्ट योगात्मक हैं और अंतर्मुखी हैं। इनमें पूर्व, अंतः, और पर विभक्तियाँ लगती हैं पर अधिकतर संबंधतत्व भीतर होने वाले स्वर

परिवर्तन से ही सूचित हो जाता है। जैसे सेमिटिक की अरबी भाषा में क़त्ल, से कितल, क़ित्ल, क़ुतिल, यकतुलु, क़ातिल क़तल आदि अनेक शब्द बनते हैं जिनमें साधारण स्वर परिवर्तन से भी अर्थ परिवर्तन हो गया है।

(२) दोनों ही परिवारों में अफ्रीका की कुछ भाषाओं की भाँति क्रिया में काल का गौण स्थान है, और पूर्णता और अपूर्णता का प्रमुख।

(३) बहुवचन बनाने के लिए दोनों ही कुलों में प्रत्यय लगते हैं और दोनों प्रत्ययों का मूल भी लगभग एक ही ज्ञात होता है।

(४) 'त' ध्वनि दोनों कुलों में स्त्रीलिंग का चिह्न मानी जाती है। दोनों ही में लिंगभेद नर मादा पर अर्थात् प्राकृतिक लिंग पर न होकर कुछ अन्य बातों पर आधारित हैं।

(५) दोनों परिवारों के सर्वनामों का मूल एक ही है।

सेमिटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

सेमिटिक और हैमिटिक के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन में इस विषय पर हम कुछ विचार कर चुके हैं पर दोनों परिवारों की सभी बातें एक सी नहीं हैं अतः यहाँ सेमिटिक कुल पर अलग भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) माद्दा (धातु या अर्थतत्त्व बोधक शब्द) तीन व्यंजनों का होता है। जैसे क्तब् (लिखना), द्बर् (बोलना), व्ग्द् (पाना) इत्यादि। हैमिटिक भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

(२) 'माद्दा' के इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद (वाक्य में रखे जाने योग्य शब्द जिनमें अर्थतत्त्व और सम्बंध तत्त्व दोनों हों) बनते हैं। इस प्रकार भारोपीय परिवार में जो कार्य आंतरिक परिवर्तन तथा प्रत्ययों से लिया जाता है वह यहाँ स्वरों की सहायता से हो जाता है। जैसे अरबी में 'माद्दा' क्तब् से कातिब, किताब, कुतुब इत्यादि।

(३) कभी कभी इस उपर्युक्त स्वर परिवर्तन से काम नहीं चलता तो उपसर्ग तथा प्रत्यय की भी आवश्यकता पड़ती है। जैसे प्रेरणार्थक आदि के लिए क्तल् से से हिक्तिल 'हि' उपसर्ग जोड़कर बनाना पड़ता है। इसी प्रकार क्तब् से इस्तक्तब (किसी अन्य से लिखने को कहा) भी बनता है। यहाँ एक बात उल्लेख्य यह है कि भारोपीय भाषाओं की भाँति

एक धातु में कई प्रत्यय या उपसर्ग (जैसे अनुकरणात्मकता शब्द में हैं) सेमिटिक परिवार की भाषाओं में एक साथ नहीं मिलते।

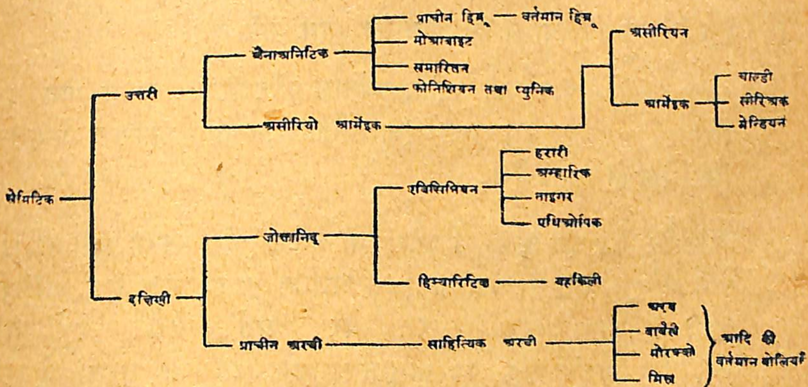
(४) इस परिवार में समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में ही मिलता है और वह भी केवल दो शब्दों का। जैसे, बीर्-शेबा, मलकह्-इसरायल आदि। स्थान क्रम की दृष्टि से भारोपीय समासों से यहाँ की पद्धति उलटी है। संस्कृत में दधि-सुत् होगा तो यहाँ सुत्-दधि।

(५) प्राचीन सेमिटिक भाषाओं में प्रत्यय लगाकर कर्त्ता कर्म और संबंध कारक बनते थे। जैसे प्राचीन अरबी में अब्दू, अब्दा। इसी प्रकार बहुवचन और द्विवचन के लिए भी प्रत्यय का प्रयोग होता था पर अब अलग से शब्द जोड़े जाते हैं क्योंकि हिन्दी आदि की भाँति भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं।

(६) ऊपर हमलोग कह चुके हैं कि हैमिटिक और सेमिटिक दोनों ही में 'त' स्त्रीलिंग का चिन्ह है पर सेमिटिक कुल में एक बात यह विशेष है कि यह 'त' ध्वनि कुछ भाषाओं में विकसित होकर 'थ' या 'ह' हो गई है। जैसे अरबी में मलक् (राजा) का स्त्रीलिंग मलकह् (रानी) होता है न कि मलकत्।

(७) इसी प्रकार कुछ धातुओं में ध्वनि विकास के ही कारण व्यंजन-लोप हो गया है, जिसके फलस्वरूप वे द्विव्यंजनात्मक हो गई है। पर ऐसी द्विव्यंजनात्मक धातुएँ संख्या में अधिक नहीं हैं। अतः इनकी उपस्थिति अपवाद ही समझी जायेगी।

विभाजन



सेमिटिक परिवार की विभिन्न शाखाओं में आपस में बहुत कम अंतर

है। इस परिवार की अरबी भाषा बहुत धनी है। धर्म, ज्योतिष, गणित दर्शन साहित्य और रसायन आदि सभी क्षेत्रों में उसका हाथ है। अरबी साहित्य ने फारसी, तुर्की, उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती को बहुत प्रभावित किया है। अंग्रेजी भी उसके प्रभाव से नहीं (अलजब्रा, सिफर, अलकोहल आदि) बच सकी है।

[ख] काकेशस परिवार

इस परिवार की भाषाएँ पूर्व और अंत-अश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनका क्षेत्र कृष्ण सागर और कैस्पिअन सागर के बीच में काकेशस पहाड़ पर पड़ता है। पहाड़ों के बाहुल्य से यहाँ बहुत सी बोलियाँ विकसित हो गई हैं। ये बोलियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि एक परिवार के अंतर्गत रखने में भी विद्वानों को हिचक मालूम होती है।

प्रधान विशेषताएँ

(१) ऊपर से देखने में ये भाषाएँ श्लिष्ट या विभक्ति प्रधान ज्ञात होती हैं पर हैं अश्लिष्ट योगात्मक। इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाए जाते हैं।

(२) इस परिवार की उत्तरी शाखा की भाषाओं में स्वरों की कमी है।

(३) पूरे परिवार में पद रचना के संबंध में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। कुछ बोलियों में (अवर आदि) तो संज्ञा की तीस तीस विभक्तियाँ हैं।

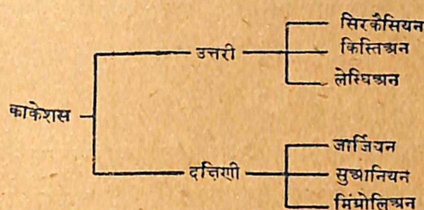
(४) इसकी कुछ बोलियों में छः लिंग तक माने जाते हैं।

(५) बास्क आदि भाषाओं की भाँति सर्वनाम और क्रिया का भी योग इस परिवार में होता है। जहाँ ऐसा होता है, भाषा आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक हो जाती है।

(६) क्रिया के रूप इस कुल में और भी जटिल हैं। कभी-कभी तो उन रूपों में मूल धातु का पता पाना भी असंभव सा हो जाता है। जार्जियन भाषा में 'होना' क्रिया के 'वर्', 'चर्', 'अर्स', 'वर्थ', 'चर्थ' आदि रूपों में 'अर्' धातु का अनुमान किया भी जा सकता है पर खसीकुमुक बोली में 'आर', 'ऊर', 'अइसर', 'ऊन्द', 'आन्द'

तथा 'आ' आदि रूपों में 'अइ' धातु (=बनाना) कहीं ज्ञात ही नहीं होती ।

विभाजन



उत्तरी वर्ग की भाषाएँ आपस में बहुत कम मिलती हैं । इस वर्ग में अनेक बोलियाँ हैं । इनकी न तो कोई लिपि है और न अपना साहित्य । इसके बोलने वाले लगभग ५ लाख हैं । दक्षिणी वर्ग की भाषाओं में आपस में पर्याप्त सम्पर्क है । इस वर्ग के बोलने वाले लगभग १५ लाख हैं । इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषा जार्जियन है जिसकी अपनी लिपि है, और जिसमें इधर दस शताब्दियों से साहित्य साधना भी यथेष्ट हुई है ।

[ग] यूराल अल्टाइक परिवार

फिनो-तातारिक, स्कीथियन तथा तूरानी आदि भी इसी कुल के नाम हैं, पर कोई भी नाम उपयुक्त नहीं ज्ञात होता । भौगोलिक दृष्टि से उचित होने के कारण यहाँ यूराल—अल्टाइक नाम स्वीकार किया गया है । इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच में टर्की, हंग्री और फिनलैण्ड से लेकर पूरब में ओरवोत्स्क सागर तक और भूमध्य सागर से लेकर उत्तर में उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं । क्षेत्र की दृष्टि से भारोपीय परिवार को छोड़कर संसार का कोई भी परिवार इतना विस्तृत नहीं है । काकेशस परिवार की भाँति इसकी भाषाएँ भी आपस में बहुत अधिक समानता नहीं रखती । इसीलिए कुछ लोग यूराल और अल्टाइक दो भाषा परिवार कहना अधिक उचित समझते हैं । ध्वनि और धातु या शब्द समूह की दृष्टि से सचमुच ही ये दोनों भिन्न परिवार प्रतीत होते हैं, पर व्याकरण की दृष्टि से इनकी एकता अस्वीकार नहीं की जा सकती ।

यूराल और अल्टाइक के समान लक्षण

(१) इन दोनों (यूराल और अल्टाइक) की भाषाएँ अश्लिष्ट अंत योगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय जोड़ कर पद बनाए जाते हैं। एक पद बनाने में एक से अधिक प्रत्ययें भी जोड़ी जा सकती हैं। कुछ भाषाएँ कुछ दिन से अश्लिष्ट से श्लिष्ट की ओर आ रही हैं। उदाहरण के लिए फिनिश भाषा को ले सकते हैं। यह तो इतना आगे बढ़ आई है कि आकृति की दृष्टि से भारोपीय परिवार में रखी जा सकती है।

(२) इनकी सभी भाषाओं में धातु अव्यय के समान हैं। उनमें कभी भी विकार नहीं आता और बड़े से बड़े शब्द में भी आसानी से पहचानी जा सकती हैं।

(३) इन दोनों में ही कभी-कभी संबंध वाचक सर्वनाम प्रत्यय के रूप में संज्ञाओं के साथ जोड़ दिए जाते हैं।

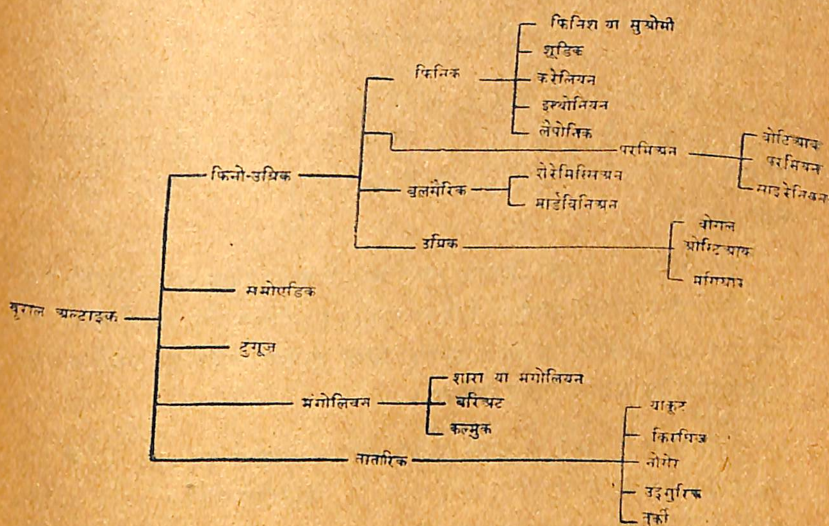
(४) स्वर-अनुरुपता (Vowel Harmony) भी दोनों ही में मिलती है। ऐसा होता है कि जब मूल धातु में अनेक प्रत्ययों को जोड़ा जाता है तो उन प्रत्ययों के स्वर धातु के स्वर के 'वज़न' पर कर लिए जाते हैं। यहाँ के स्वरों के गुरुस्वर और लघुस्वर दो वर्ग हैं। जब धातु में गुरुस्वर रहता है तो सभी प्रत्ययों के स्वर गुरु कर लिए जाते हैं और नहीं तो लघु। यह संभवतः उच्चारण सौकर्य के लिए होता है। तुर्की से उदाहरण ले सकते हैं —

यज़ से मक लगाकर यज़्मक् (= लिखना) बनता है।

पर सेव से मक लगाकर 'सेवमक' न बन कर सेव्मेक् (=प्यार करना) बनता है। इसी प्रकार लर बहुबचन की विभक्ति है। अट् के साथ मिलकर यह अट्लर् (= घोड़े) पद बनाती है, पर 'एव' के साथ 'एव्लेर' (= अनेक घर)।

यह स्वर अनुरूपता इन भाषाओं में बहुत पुरानी नहीं है। इसका विकास कुछ ही दिनों से हुआ है। ऊपर दिए गए सभी समान लक्षण व्याकरण के हैं। जैसा कि पहले कह चुके हैं ध्वनि और शब्दों की दृष्टि से एक भी समानता नहीं मिलती अतः परिवार न कह कर उसे समुदाय कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

विभाजन



फिनिश भाषा में १६ वीं सदी से इधर सुसंस्कृत साहित्य मिलता है। 'कलेवला' नाम का एक २२ हज़ार छन्दों का प्रसिद्ध महाकाव्य भी है। इस भाषा में भारोपीय परिवार के शब्दों का बाहुल्य है। हंग्री की भाषा 'मगियार' भी सभ्य भाषा है। इसमें भाषा संबंधी सामग्री १२ वीं सदी से ही मिलती है। इस समुदाय की तीसरी विकसित भाषा तुर्की है। तुर्की पर राजनैतिक कारणों से फारसी और अरबी का प्रभाव अधिक पड़ा है, पर बदले में तुर्की नेभीउन दोनो को प्रभा वित किया है उत्तरी भारत की जन भाषा में भी तुर्की के चाकू, तोप तमगा आदि बहुत से शब्द बहुतायत से प्रचलित हैं। तुर्की का साहित्य बहुत धनी है। काव्य और कथा साहित्य यहाँ बहुत ही पुराना है। भारत के प्रथम तुर्क बादशाह बाबर ने अपना वृत्तान्त तुर्की मे ही (तुजुक-बाबरी) लिखा है। तुर्की की लिपि अरबी थी पर अब रोमन लिपि स्वीकार कर ली गई है। इधर अरबी के शब्द भी निकाल दिए गए हैं और उनके स्थान पर तुर्की-शब्दों का स्वागत हुआ है।

तुर्की में लगभग २८ बोलियाँ हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है।

इस समुदाय में इन तीन के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के या तो बोलने

वाले बहुत कम हैं, या हैं भी तो इतने पिछड़े हैं कि उनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

[घ] एकाक्षर परिवार

इसे चीनी परिवार भी कहते हैं, क्योंकि इस परिवार की प्रधान भाषा चीनी है। चीन, स्याम तिब्बत और ब्रह्मा में यह परिवार फैला हुआ है। भारोपीय परिवार के बाद बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से यही परिवार विश्व में सबसे बड़ा है।

इस परिवार के प्रमुख लक्षण स्पष्ट रूप से अब केवल चीनी में ही पाए जाते है। अन्य भाषाएँ आर्य परिवार से प्रभावित होने कारण वर्ण-संकर हो गई हैं। अतः पहले चीनी भाषा को ही लिया जायेगा और इस परिवार की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायेगा।

चीनी भाषा में विश्व का सबसे पुराना साहित्य मिलता है। कुछ को तो तीन हजार ई० पू० का माना जाता है। चीन के इतिहास-ग्रंथों (जिन्हे शु-किंग कहते हैं) की प्रथा बहुत पुरानी है। ५वीं सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में दार्शनिक विद्वान् कनफूशियस ने इन ग्रंथों का संपादन किया और लोगों का अनुमान है कि उन्होंने कुछ उस समय की भाषा के अनुसार परिवर्तन भी कर दिए। फिर भी पद्यों के अंत्यानुप्रास, उच्चारण संबंधी लिखित चिह्न और कुछ संस्कृत शब्दों के बौद्धों द्वारा अंकन, आदि के आधार पर प्राचीन भाषा के रूप और उच्चारण का पता अनुमानतः लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त चीनी भाषा के इतिहास से भी पुरानी चीनी पर प्रकाश पड़ता है, जैसा कि भाषा की उत्पत्ति पर परोक्ष मार्ग से विचार करते समय हम लोग देख कर चुके हैं।

इन सभी बातों के आधार पर जो प्राचीन भाषा का रूप मिलता है वह आज की चीनी भाषा से बहुत भिन्न नहीं है। इसका आशय यह है कि चीनी भाषा बहुत दिन से ज्यों की त्यों पड़ी है उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। चीनी लिपि[1] के संबंध में भी यही बात है। लिपि विकास की भावात्मक अवस्था, (जिसे विकास की दूसरी अवस्था कहा जाता है,)

---

१. चीनी लिपि के संबंध में कुछ विस्तार के साथ लिपि के प्रकरण में विचार किया जावेगा।

को अभी तक पार नहीं कर पाई है। इसमें एक शब्द या एक भाव के लिए एक चिह्न होता है, पर अलग अलग ध्वनि के लिए नहीं। 'छिह्' (वह) तो चीनी लिपि में लिखा जा सकता है पर 'छि' या 'ह्' अलग लिखना चाहें तो संभव नहीं है। इतनी कठिनाइयों के रहते हुए भी उसी परिस्थिति में चीनी भाषा इतनी विकसित है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को भी स्पष्टता के साथ अंकित कर सकती है। बौद्ध धर्म संबंधी बहुत सा संस्कृत साहित्य अनूदित होकर इन लोगों के यहाँ रखा हुआ है। इनके अनुवादों में एक विचित्रता यह है कि नामों का भी अनुवाद हो गया है। इसका कारण यह हैं उनकी लिपि ध्वनि को व्यक्त नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए 'नरसिंह' नाम ले लें। उसको लिखने के लिए चीनी पंडितों ने 'नर और सिंह' कर लिया, और फिर आदमी और शेर के भाव का अपनी भाषा से शब्द लेकर एक जगह रख दिया, वही नरसिंह या नृसिंह हो गया। भाषा और लिपि की इस विशेषता से लाभ यह हुआ है कि वहाँ का शब्द समूह शुद्ध रूप से उनका अपना हैं। यदि कोई बाहरी शब्द गया भी है तो अनूदित होकर और चीनी जामा पहन कर।

एकाक्षर परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) इस परिवार की भाषाएँ स्थान-प्रधान 'या अयोगात्मक हैं। दो शब्द एक में नहीं मिलते। संबंध का पता बहुधा शब्द के स्थान से ही चल जाता है। 'हुआ पओ मींन' = राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर यदि इसके उलटा कहना होगा तो वाक्य में और किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करके केवल स्थान-परिवर्तन कर देंगे। 'मीन पओ हुआ' = प्रजा राजाकी रक्षा करती है।

(२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर (syllable) का होता है। वह एक प्रकार से अव्यय है जो न बढ़ता है और न घटता है और न विकृत होता है। वाक्य में चाहे जहाँ भी आवे उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा।

इन एकाक्षर शब्दों की संख्या चीनी भाषा में पाँच सौ और एक हजार के बीच में है। चीन की साहित्यिक और राष्ट्रभाषा 'मंदारिन' में चार सौ से कुछ ही अधिक शब्द हैं, जो लगभग बयालिस हजार भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं।

(३) यहाँ यह समस्या उठती है कि इतने कम शब्द कैसे इतने अधिक अर्थ प्रकट करते हैं। इसके लिए ये लोग सुर (Tone)[१] का प्रयोग करते हैं। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ देता है। यों तो प्रधान रूप से चार ही सुर हैं, पर कम बेश भी पाए जाते हैं। मन्दारिन में पाँच सुर हैं। पर दूसरी बोली फूकिन में आठ हैं। केवल सुरों से पूरी स्पष्टता नहीं आ पाती अतः इसके लिए वे लोग एक और युक्ति (द्वित्व) से काम निकालते हैं।

(४) इनके यहाँ द्वित्व प्रयोग चलता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। जैसे 'ताओ'=सड़क, झंडा, गल्ला, ढक्कन इत्यादि, या 'लू' = ओस, जवाहर, घुमाव सड़क इत्यादि। यहाँ हम देखते हैं कि 'ताओ' और 'लू' दोनों के सड़क अर्थ हैं। अब यदि सड़क के लिए दोनों शब्दों (ताओ और लू) का साथ प्रयोग करें तो किसी भी प्रकार की गड़बड़ी का भय नहीं रह जाता। अतः सड़क के लिए 'ताओलु' शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे प्रयोगों को द्वित्त प्रयोग कहते हैं। चीनी भाषा में इसका बहुत प्रयोग होता है। इसमें सर्वदा पर्याय शब्द ही नहीं रखे जाते कभी कभी आवश्यकतानुसार अन्य भी ऐसे शब्द (दूसरा अर्थ रखने वाले) रख दिए जाते हैं, जिनसे अर्थ स्पष्ट हो जाय। जैसे नमक के साथ बारीक या रोड़ा, पानी के साथ गर्म या ठंढा इत्यादि।

(५) भारोपीय परिवार की भाँति यहाँ भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। 'त' शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका अर्थ 'बड़ा' 'बड़ाई' 'बड़ा होना' आदि सभी कुछ होता है।

(६) उपर हम इसे स्थान प्रधान भाषा कह चुके हैं। पर कभी-कभी केवल शब्दों के स्थान से संबंध स्पष्ट नहीं हो पाता तो सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से चीनी शब्दों के दो वर्ग होते हैं—पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। पूर्ण शब्द वह है जो कुछ अर्थ तत्त्व रखे पर रिक्त शब्द वह है जो केवल संबंध प्रकट कर दे। पर इसका आशय यह नहीं कि वहाँ का पूरा शब्द समूह इन दो भागों में बँटा है। कोई भी पूर्ण शब्द

१. ध्वनि प्रकरण में इस पर और सामग्री मिलेगी।

अवश्यकता पड़ने पर रिक्त बना लिया जाता है। इस प्रकार, प्रयोग होने पर ही कहा जा सकता है कि कौन शब्द रिक्त है और कौन पूर्ण। उदाहरण के लिए 'छिह' शब्द को ले सकते हैं। इसका 'जाना' 'वह' 'संबंध रखना' आदि अर्थ होता है पर कभी कभी यह संबंध कारक की विभक्ति का भी काम करता है। जैसे—

मु = माता

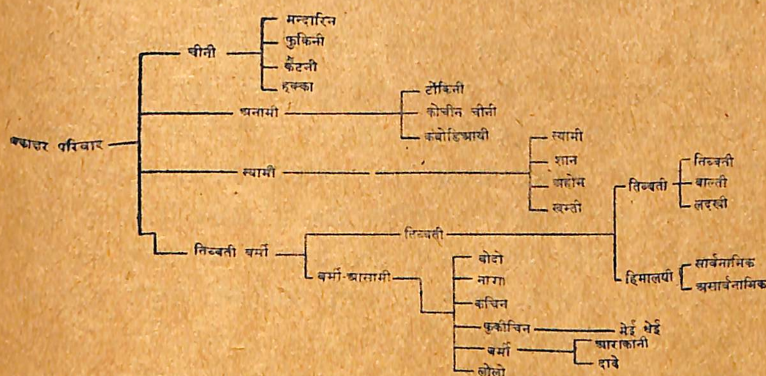
त्जु = पुत्र

मु छिह त्जु = माता का पुत्र

(७) चीनी भाषा में पूर्ण शब्द भी प्रायः दो प्रकार के माने जाते हैं। एक तो वे हैं जो जीवित हैं और क्रिया जिनका प्रधान गुण है। दूसरे वे हैं, जो मृत या जड़ हैं और स्वयं कुछ कर नहीं सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्हीं मृत शब्दों पर करते हैं। यह भी विभाजन बहुत निश्चित नहीं है।

(८) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का यहाँ बाहुल्य है। विशेषतः ङ और ञ ध्वनियाँ तो शायद ही विश्व की किसी और भाषा इतनी प्रयुक्त होती हों।

विभाजन



चीनी के विषय में ऊपर हम लोग काफी विचार कर चुके हैं। मन्दारिन, कैंटनी और फुकिनी आदि प्रधान बोलियाँ छः के लगभग हैं। नानकिन और पेकिन के समीप बोली जानी वाली 'मंदारिन' बोली राज्य एवं साहित्य की भाषा है, जिसमें बयालिस हजार के लगभग शब्द हैं, जो केवल सवा चारो सौ शब्दों से ही सुर आदि के द्वारा व्यक्त किए जाते हैं। इस बोली में ङ् (ng) अनुनासिक ध्वनि को छोड़ कर ग् और ब् ध्वनि नहीं है। इस बल

के शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी के भी आदि में घोष व्यंजन नहीं होता और अंत में न् ङ् या ञ् अवश्य होता है।

फुकिनी में मन्दारिन के विरुद्ध ब और म ध्वनि है। कैंटनी में 'त्स' के स्थान पर 'कि' हो गया है।

चीन मे बोलने की भाषा लिखने से भिन्न हैं। कुछ बोलियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हो गई हैं कि एक का बोलनेवाला दूसरी को समझ भी नहीं सकता।

अनामी भाषा टोंकिन, कोचिन चीन तथा कम्बोडिया में बोली जाती है। इसे कुछ विद्वान इस परिवार से अलग स्यामी तथा आस्ट्री—एशियाई कुल के बीच की मानते हैं। पर चीनी की ही भाँति यह भी एकाक्षर तथा अयोगात्मक और स्थान प्रधान है। अर्थ प्रकट करने के लिए यहाँ भी सुर (लगभग छः सुरों का) का प्रयोग होता है, अतः इसे अलग मानना ठीक नहीं कहा जा सकता। इसका शब्द समूह अवश्य चीनी से भिन्न है पर उधार रूप में पर्याप्त मात्रा में चीनी शब्द मिलते हैं। इसके पुराने ग्रंथ भी चीनी लिपि में ही हैं। इधर कुछ वर्षों से उन लोगों ने रोमन लिपि को अवश्य अपना लिया है।

स्यामी भाषा का दूसरा नाम थाई या तई है। इनके बोलने वालों को तई या शान कहा जाता है। आसाम के पूर्वी भाग तथा ब्रह्मा के कुछ भागों में इस भाषा का क्षेत्र है। १२ वींसदी के लगभग ये लोग भारत में आकर आसाम में बसे और लगभग आर्य हो गए। आसाम नाम भी संभवतः इन्हीं लोगों के कारण पड़ा। आसाम के पुरोहित अब भी अपनी प्राचीन बोली अहोम बोलते हैं। खम्ती बोली आसाम और ब्रह्मा के संधिस्थल पर बोली जाती है। स्यामी भाषा में अब कुछ उपसर्ग आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं। यह भारत का ही शायद प्रभाव है।

तिब्बती या भोट भाषा में एकाक्षरता चीनी की अपेक्षा कम है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में इस पर भारत का प्रभाव सबसे अधिक है। छठी सदी से यहाँ संस्कृत और पालि ग्रंथों के अनुवाद आरंभ हो गए थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन को वहाँ ऐसे अनेक ग्रंथ मिले हैं जिनका मूल संस्कृत रूप कहीं भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बती लिपि ब्राह्मी की ही पुत्री है और इनका व्याकरण भी संस्कृत आदि से बहुत प्रभावित है। उसे शुद्ध स्वरूप भी किसी

भारतीय पंडित ने ही दिया था। तिब्बती साहित्य बहुत सम्पन्न है। इसके अंतर्गत कुछ हिमालय की ऐसी बोलियाँ हैं जो मूलतः इसकी बेटी होने पर भी अब दूर पड़ गई हैं। पड़ोस की मुंडा बोलियों का इन पर प्रभाव पड़ा है और उनके सभी लक्षण इनमें आ गए हैं। लक्षणों पर विचार, पिष्ट-पेषण से बचने के लिए मुंडा परिवार के अंतर्गत करना ठीक होगा। इन यिमालही बोलियों के असार्वनामिक (Non Pronominalized) और सार्वनामिक दो वर्ग किए जा सकते हैं। सार्वनामिक वर्ग में कर्ता और कर्म यदि सर्वनाम हों तो उन्हें क्रिया में ही प्रत्यय की तरह जोड़ देते हैं—

हिप् = मारना
तू = उसे
ङ्ग = मैं
हिप्तुङ्ग = मैं उसे मारता हूँ।

सार्वनाभिक के किराँत और कनौरदामी दो उपवर्ग हैं। पहले को पूर्वी और दूसरे को पश्चिमी भी कहते हैं। इन दोनों ही के अंतर्गत छोटी-छोटी अनेक बोलियाँ हैं। नेपाल के पूरब में इनका प्रदेश पड़ता है।

असार्वनाभिक वर्ग में इस प्रकार का सर्वनाम-संयोग नहीं होता। यह वर्ग नेपाल, सिकिम, भूटान आदि में फैला है। नेपाल की प्रधान बोली नेवारी इसी वर्ग की है जिसमें साहित्य भी है। भारतीय संस्कृति तथा मैथिली साहित्य का नेवारी पर काफी प्रभाव पड़ा है।

'वर्मी-आसामी' वर्ग जैसा कि नाम से स्पष्ट है वर्मा और आसाम में फैला है। हाँ इसकी एक बोली लोलो अवश्य चीन में पड़ती है। इस पर भी भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव कम नहीं है और इसी कारण यह भी शुद्ध एकाक्षरी नहीं रह गई है।

मेईथेई भाषा में प्राचीन साहित्य बहुत है। मनीपुर इसका प्रधान क्षेत्र है। इस भाषा मे इतिहास ग्रंथ लिखने की प्रथा १५वीं सदी से चली आ रही है। इसमें शुद्ध क्रिया का अभाव है। लोग क्रियार्थक संज्ञा आदि से काम चलाते हैं।

वर्मी भाषा भी साहित्यिक है। इसका साहित्य प्रधानतया धार्मिक है। वर्मी भाषा की बोलियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। वर्मी की लिपि भी तिब्बती की भाँति ही ब्राह्मी की पुत्री है।

'तिब्बती-वर्मी वर्ग की भाषाएँ अंतप्रश्लिष्ट योगात्मकता की ओर अग्रसर होती जा रही है।

[ङ] द्राविड़ परिवार

यह परिवार दक्षिण भारत में नर्वदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अंतरीप तक फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरीलंका, लक्षद्वीप, बिलोचिस्तान, मध्यभारत तथा बिहार-उड़ीसा के कुछ भागों में भी इस परिवार के बोलने वाले बसते हैं। इस परिवार को तामिल परिवार भी कहते हैं। सत्य तो यह है कि द्राविड़[1] का ही विकसित रूप तामिल या तमिल है। इस परिवार से भारत के अन्य परिवारों को जोड़ने का बहुत से विद्वानों ने प्रयास किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वरअनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता जुलता है। इस आधार पर इसे कुछ लोग उससे जोड़ना चाहते थे। अध्यापक श्री ओ० श्रेडर ने इस परिवार के फिनो-उग्रिक वर्ग से द्राविड़ को मिलती दिखाने का यत्न किया। पी० डब्लू० शिमट महोदय ने इसका संबंध आस्ट्री भाषा से जोड़ना चाहा। उनका यह विचार था कि पहले मडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत छोटे छोटे द्वीपों के सहारे संबंधित थे। इधर मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद उसकी संस्कृति से भी इसका संबंध जोड़ने को कुछ प्रयत्न हुआ। पर उपर्युक्त सभी प्रयास अभी तक असफल रहे।

द्राविड़ परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) प्रधानतः इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट अंतयोगात्मक (तुर्की आदि की भाँति) हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्ययें एक के बाद दूसरी चली जाती हैं—

तामिल में पालन् = पुरस्कार

कारक		एक वचन	बहुवचन
कर्त्ता कारक	....	पालन्	पालन् गल्
कर्म कारक	....	पालन् एई	पालन् गल् एई
संबंध कारक	....	पालन् उदीय	पालन् गल् उदीय इत्यादि

पर कभी कभी अपवाद स्वरूप उपसर्ग भी लगता है :—

१. कुछ लोगों का ऐसा मत है कि भारत में आने पर आर्यों ने अनार्यों को इसी नाम से पुकारा, और उस देश का भी यही नाम पड़ा। बाद में उनकी भाषा भी इसी संज्ञा से आभूषित की गई।

अथू = वह वस्तु
इथू = यह वस्तु
एथू = कौन वस्तु

(२) जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है इस परिवार में संयोग पारदर्शक या स्पष्ट होता है। साथ ही मूल में किसी प्रकार का विकार नहीं आता।

(३) उपर्युक्त संयोग की भाँति ही बड़ा से बड़ा समास भी बड़ी ही सरलता से इस परिवार की भाषाओं में बना लिया जाता है।

(४) शब्द के अंतिम व्यंजन से उच्चारण में बहुधा एक उकार की ध्वनि जोड़ ली जाती है। कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति लिखने में ही ही होती है. पर कुछ में लिखने और बोलने दोनों ही में। शायद इसी का प्रभाव हमारे अपभ्रंश साहित्य पर भी पड़ा जिसे बाद में हिन्दी के भक्ति तथा रीतिकाल के कवियों ने कोमल बनाने की दृष्टि से अपना लिया। जैसे आप का आपु रामका रामु।

(५) यूराल-आल्टाई परिवार की भाँति ही इस परिवार में भी स्वर-अनुरूपता मिलती है। मूल शब्द के स्वरों के वज़न पर अधिकतर प्रत्ययों का रूप संयोग के समय परिवर्तित कर लिया जाता है।

(६) शब्दारंभ में घोष व्यंजन नहीं मिलते पर बीच में आने वाले अनुनासिक व्यंजन या अकेले व्यंजन के पश्चात् घोष व्यंजन अवश्य रहते हैं। तामिल में यह प्रवृत्ति अनिवार्यतः मिलती हैं, पर अन्य में इसके अपवाद भी हैं।

(७) मुर्द्धन्य ध्वनियों (ट वर्ग) का यहाँ प्राधान्य है। इसी कारण अन्य भाषा-भाषी को 'इस परिवार की किसी भाषा में दिया जानेवाला भाषण ऐसा ज्ञात होता है जैसे कोई घड़े में पत्थर डालकर जोर से हिला कर बजा रहा हो। कुछ लोगों का विश्वास है कि संस्कृत में मूर्द्धन्य ध्वनियाँ इसी परिवार के प्रभाव से आई, वे मूलभारोपीय भाषा में नहीं थीं।

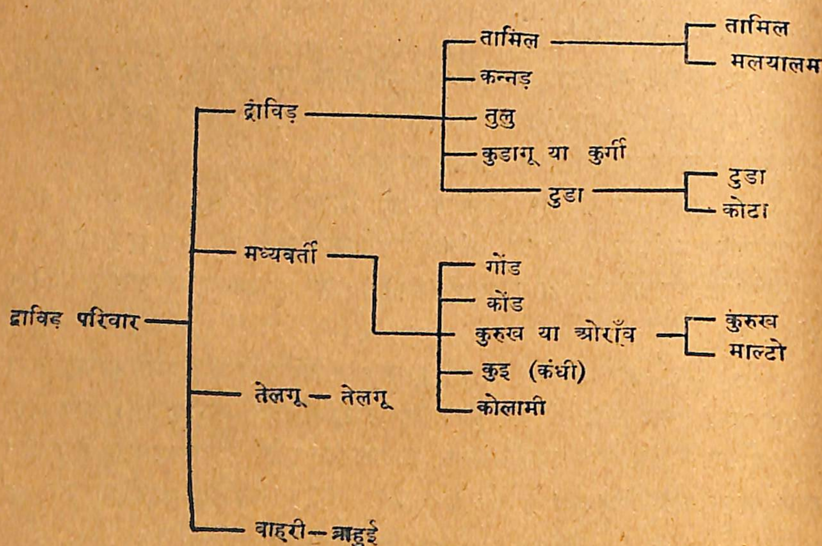
(८) इस परिवार की भाषाओं में दो वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय जोड़ कर बनता है जैसा कि हम ऊपर के उदाहरण में देख चुके हैं। नपुंसक शब्द प्रायः एकवचन ही होते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम में बहुवचन के दो रूप होते हैं। जिनमें से एक में श्रोता भी अंतर्भूत रहता है। गिनती भारोपीय परिवार की भाषाओं की भाँति दस पर आधारित हैं।

(९) लिंग तीन होते हैं। संज्ञा एवं विशेषण को स्त्रीलिंग और पुलिंग बनाने के लिए अन्य पुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुलिंग रूप जोड़ दिए जाते हैं।

(१०) संज्ञा के दो वर्ग होते हैं। एक का नाम है उच्च या सज्ञानी और दूसरे का निम्न या अज्ञानी। कुछ संज्ञाऐं क्रिया का भी कार्य करती हैं।

(११) यहाँ की क्रियाएँ कुछ विचित्र होती हैं। पुरुषवाची सर्वनाम उसमें पुरुष का बोध कराने के लिए जोड़ दिए जाते हैं। कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। उसके स्वतंत्र रूप नहीं होते। भारोपीय भाषाओं के अर्थ में सच्ची क्रिया इस परिवार में होती ही नहीं।

विभाजन



तामिल भाषा उत्तरी लंका एवं पूर्वी किनारे पर मद्रास नगर के उत्तर से लेकर कुमारी अंतरीप तक बोली जाती है। इस परिवार की यह सबसे प्रमुख भाषा है। इसका वाङ्मय बहुत ही विशाल है जिसमें सातवीं सदी से आज तक साधना के पुष्प खिलते चले आ रहे हैं, और जो हिन्दी बँगला आदि के समकक्ष खड़ा होने की क्षमता रखते हैं। इसमें काव्य की भाषा

जिसे 'शेन' (=पूर्ण) कहते हैं, बोल चाल की भाषा 'कोडुन' (ग्रामीण) से भिन्न हैं। 'शेन' में संस्कृत शब्दों की बहुलता है।

मलयालम इसी की एक शाखा है जो नवीं सदी के लगभग तामिल से पृथक हुई। यह मालाबार तट पर बंगलौर के दक्षिण में एक पतली और छोटी पेटी में फैली हुई है। पास ही पश्चिम ओर बसे लक्ष द्वीप में भी यही बोली जाती है। ब्राह्मणों के प्रभाव से यह भी संस्कृत-बहुल हो गई है, केवल कुछ मुसलमान जिन्हें मोपला कहते हैं, आर्य (हिन्दू) संस्कृति से दूर रहने के कारण इसके मूल रूप का प्रयोग करते हैं, जिसमें आर्य शब्द बहुत कम हैं। १३वीं सदी से ही इसमें साहित्य मिलता है। त्रावणकोर और कोचीन के राज्यों ने इस साहित्य को उन्नत बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

कन्नड़ का क्षेत्र कुर्ग के पूर्वी भाग, पूर्वी प्रदेश के कुछ अंशों को छोड़ कर पूरे मैसूर, मद्रास प्रान्त के पश्चिमी भाग तथा हैदराबाद और बंबई के कुछ हिस्सों में पड़ता है। इसकी भाषा तामिल के और लिपि तेलगू के समीप है। द्राविड़ भाषाओं में यह सबसे प्राचीन मानी जाती है। चौथी पाँचवी सदी तक के पुराने लेख मिलते हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य भी है। यहाँ काव्य की भाषा बहुत ही आलंकारिक और अस्वाभाविक है।

'तुलु' भाषा कुर्ग और बम्बई प्रान्त की सीमा पर एक छोटे क्षेत्र में बोली जाती है। इसमें साहित्य नहीं हैं। द्राविड़ भाषाओं के विशेषज्ञ तथा अधिकारी विद्वान कैल्डवेल के अनुसार विकास की दृष्टि से विश्व की उच्च-तम भाषाओं में इसका स्थान है।

'कुडागु' कुर्ग की भाषा है। इसमें कन्नड़ और तुलु दोनों ही के कुछ कुछ लक्षण मिलते हैं, इसी कारण इसे दोनों के बीच की भाषा कहा जाता जाता है। इसका क्षेत्र भी दोनों के बीच में पड़ता है।

टुडा और कोटा भाषाएँ नीलगिरि के जंगली लोगों की बोली है। इन लोगों की संख्या दिन पर दिन घटतीं जा रही है अतः भाषा और जाति दोनों ही समाप्तोन्मुख हैं।

'गोंड' भाषा के बोलने वाले विन्ध्य-प्रदेश में रहते हैं। बुन्देलखंड इनका केन्द्र है। गोंड भाषा तामिल से मिलती जुलती है। बोलने वाले

जंगली हैं। यह मध्यवर्ती भाग की प्रमुख बोली है, पर न तो इसकी लिपि है और न इसमें साहित्य है।

कोंड भाषा के बोलने वाले उड़ीसा की पहाड़ियों पर हैं। इनकी संख्या बहुत कम है। यह भाषा गोंड से मिलती-जुलती है।

बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त के सीमा प्रदेश पर कुरूख या ओराँव के बोलने वाले रहते हैं। ये लगभग पौने नौ लाख हैं। भाषा तामिल से मिलती है। इसकी शाखाएँ बहुत सी हैं, पर सभी अमहत्वपूर्ण हैं।

बंगाल और बिहार की मिलन रेखा पर राजमहल की पहाड़ी पर रहने वाले माल्टो जाति के लोगों की भाषा माल्टो हैं। यह भाषा ओराँव की एक शाखा है।

उड़ीसा के जंगलों में कुई (कंधी) बोलने वाले जंगली लोग रहते हैं। इस भाषा का संबंध तेलगू से है।

बरार के पश्चिमी प्रदेश में कोलामी का क्षेत्र है। यह भी तेलगू से संबंधित है। मध्यप्रान्त की भीली बोली का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। यह भी अब मरणोन्मुख है।

दक्षिणी पूर्वी हैदराबाद तथा आन्ध्र प्रान्त की भाषा तेलगू है। इस भाषा के बोलने वाले इतिहास प्रसिद्ध तिलंगानें या तिलंगे हैं। १२वीं सदीतक साहित्य मिलता है। आधुनिक साहित्य तामिल से भी उच्च है। अपने परिवार की यह सब से मधुर भाषा है। शब्द स्वरांत होते हैं। इसी कारण इसे पूर्व की इटाली भाषा कहा जाता है। संस्कृत से यह भी काफी प्रभावित है।

बिलोचिस्तान के एक छोटे भाग में ब्राहुई का क्षेत्र हैं। इस पर ईरानी, पश्तो और बलूची का प्रभाव पड़ा है। इसके बोलने वाले लगभग सभी मुसलमान हैं, जिनकी संख्या डेढ़ लाख के लगभग है।

द्राविड़ परिवार का भारत की आर्य भाषाओं पर प्रभाव

संस्कृत से इस परिवार की भाषाएँ बहुत प्रभावित हैं, इन सबकी लिपि भी ब्राह्मी से निकली है पर इन्हों ने भी आर्य भाषाओं को काफी प्रभावित किया है और आज तक प्रभावित करती जा रही हैं। क्रम से कुछ प्रमुख प्रभावों को हम ले सकते हैं—

(१) आर्य परिवार की मूर्द्धन्य ध्वनियों के मूल में द्राविड़ परिवार का

प्रभाव है। इसी कारण भारोपीय परिवार की अन्य किसी भी भाषा में इनका पता नहीं है।

(२) ध्वनि परिवर्तन में र का ल के स्थान पर (गला=गर) और ल का र के स्थान पर (हरिद्रा=हल्दी) आना भी इसी परिवार का प्रभाव कहा जाता है।

(३) मराठी आदि में अब तक तीन लिंग का सुरक्षित रहना भी इन्हीं का प्रभाव है, क्योंकि इनमें तीन लिंग हैं।

(४) आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर छटाँक, रुपया आना) माप भी इसी परिवार की देन है।

(५) आदान-प्रदान में अटवी, आलि, नीर, मीन आदि अनेक शब्द भी इस परिवार ने आर्य परिवार को दिये हैं।

[च] आग्नेय परिवार

इस परिवार को शिमट महोदय ने आस्ट्रिक (दक्षिणी) परिवार कहा है। आग्नेय परिवार के दो भाग हैं। पहला भाग आग्नेयद्वीपी है जो प्रशान्त सागर के द्वीपों में फैला है, अतः उस चक्र पर विचार करते समय उस पर प्रकाश डालना उचित होगा। दूसरा भाग आग्नेय देशी है जो यूरेशिया परिवार के अंतर्गत आता है।यहाँ इसी पर विचार किया जायेगा।

प्राचीन काल में इन भाषाओं का क्षेत्र पूर्वी भारत और हिंद चीनी प्रायद्वीप था, पर धीरे-धीरे इनका लोप हो गया। स्याम और ब्रह्मा के कुछ जंगलों में, नीकोबार, खासी-जयंती पहाड़ियों पर, बंगाल, बिहार, मध्यप्रान्त तथा मध्य भारत के कुछ भागों में और मद्रास के गंजाम जिले में यह परिवार फैला हुआ है।

प्रमुख विशेषताएँ

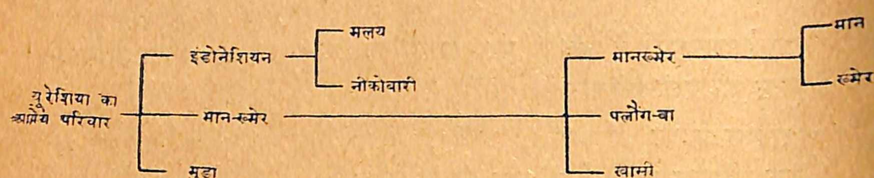
(१) इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं पर कुछ अब वियोगावस्था की ओर बढ़ रही है।

(२) धातु प्रायः दो अक्षरों की होती है।

(३) पद बनाने के लिए आदि मध्य और अंत तीनों ही स्थानों पर योग होता है।

भाषाओं पर अलग अलग विचार करते समय अन्य विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया जा सकेगा। मूलतः एक होने पर भी अलग-अलग हो जाने से इस परिवार की भाषाओं में भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषताएँ विकसित हो गई हैं, जो पूरे परिवार में नहीं पाई जातीं, अतः एक स्थान पर उन पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

विभाजन



मलय भाषा का क्षेत्र ब्रह्मदेश के दक्षिण मलय प्रायद्वीप में है। नीकोबारी नीकोबार द्वीप की भाषा है। इन दोनों ही भाषाओं की प्रधान विशेषताएँ तो ऊपर जैसी ही हैं, पर इसके संबंध में कुछ और बातें इंडोनेशियन पर अलग विचार करते हम लोगों के समक्ष आयेंगी।

जैसा कि उपर्युक्त मान चित्र से स्पष्ट है, मानख्मेर वर्ग में ३ भाषाएँ प्रधान हैं। मान भाषा वर्मा के किनारे, पीगू, बतौन तथा मर्तबान की खाड़ी के पास बोली जाती है। पहले की यह बहुत मँजी हुई साहित्यिक और राजभाषा है। स्याम के कुछ भागों में भी इसका प्रचार है।

मान वर्ग के ही ख्मेर लोग भी हैं। ये कंबुज के प्राचीन निवासी हैं पर अब ब्रह्मदेश और स्याम के सीमाप्रान्तों पर रहते हैं। इनकी भाषा ख्मेर भी मान की भाँति साहित्यिक है।

बरमा के उत्तरी जंगलों में रहने वालों की बोली पलौंग और 'वा' है। खासी भाषा खसिया और जन्तिया की पहाड़ियों पर बोली जाती है। इसके चारो ओर एकाक्षर परिवार की भाषाओं का समूह है, और इसी कारण अपने मूलवर्ग से यह भाषा बहुत दिनों से अलग हो गई है, जिसके फल स्वरूप इधर इसमें कुछ भिन्नताएँ आ गई हैं। नीकोबारी को भी कुछ लोग मान्ख्मेर में ही मानते हैं, यद्यपि इंडोनेशियन से भी साम्य कम नहीं है।

मुंडा

आग्नेय परिवार की मुंडा भाषाओं का प्रधान क्षेत्र भारत है। पश्चिमी बंगाल, बिहार की दक्षिणी पहाड़ियाँ, उड़ीसा के कुछ जंगल, मध्य भारत तथा मध्य प्रदेश के सीमाप्रान्त, नेपाल के कुछ भाग, संयुक्त प्रान्त के उत्तरी प्रदेश की कुछ तराइयाँ तथा मद्रास का गंजाम जिला आदि मुंडा के प्रमुख प्रदेश हैं। इसे पहले कोल भाषा कहा जाता था, पर संस्कृत में कोल का अर्थ सूअर है अतः इसका प्रयोग उचित नहीं समझा गया। मैक्समूलर महोदय ने इसे मुंडा नाम दिया। मुंडा शब्द इसी परिवार की एक भाषा मुंडारी का है जिसका अर्थ मुखिया है। कुछ लोग इसे मुंड, कुछ शबर या शाबर कहना भी ठीक समझते हैं।

मुंडा भाषा-भाषी लोग आर्य और द्राविड़ लोगों से पूर्व भारत में आए थे और चारों ओर फैले थे। बाद के आने वालों ने इनको मार करभगा दिया।

मुंडा भाषाओं पर यहाँ विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि भारत के अन्य तीन परिवारों पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

मुंडा की प्रधान विशेषताएँ

(१) आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। तुर्की की भाँति इनका भी योग सरल और स्पष्ट होता है।

(२) इनका ध्वनि-समूह आर्यभाषाओं की भाँति घोष, अघोष, महाप्राण और अल्पप्राण से ही बना है पर उसमें कुछ विशेषताएँ हैं। (क) उनकी महाप्राण ध्वनियों में हम लोगों की अपेक्षा महाप्राणत्व की मात्रा अधिक होती है। (ख) हमारे स्वरों, अर्द्धस्वरों और व्यंजनों (स्पर्श, ऊष्म, पार्श्विक उत्क्षिप्त आदि) के अतिरिक्त वहाँ एक अन्य प्रकार की ध्वनि पाई जाती है जिसे अर्द्धव्यंजन की संज्ञा दी जा सकती है। इन अर्द्धव्यंजनों के उच्चारण में साँस पहले क्लिक ध्वनियों की भाँति अंदर खींची जाती है, और स्फोट के समय कभी कभी इनमें अनुनासिकता भी आ जाती है।

(३) पद बनाने में प्रत्यय तथा उपसर्ग लगते हैं। कभी-कभी बीच में भी जोड़ा जाता है। मंझी, मपंझी का उदाहरण हम लोग भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण करते समय ले चुके हैं।

(४) मूल शब्द अधिकतर दो अक्षरों के होते हैं, जिनमें यदि अंत्याक्षर

दीर्घ और आदि का अक्षर ह्रस्व हो तो स्वराघात अंतिम पर और नहीं तो आदि पर होता है।

(५) एक ही शब्द चीनी की भाँति संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि सभी का यथास्थान काम देता है।

(६) प्राचीन आर्य भाषाओं की भाँति तीन वचन होते हैं। इसके लिए पुरुष-वाचक (अन्य पुरुष) के रूप जोड़ दिए जाते हैं। जैसे खेरवारी में—

हाड़ = आदमी

हाड़कीन = दो आदमी

हाड़को = कई आदमी

उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में दो दो रूप होते हैं। जैसे हम के लिए अले और अबोन दो[1] शब्द हैं।

(७) लिंग दो होते हैं। स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक शब्द जोड़ कर इनका बोध कराया जाता है। जैसे—

आडिया कूल = बाघ

एंगा कूल = बाघिन

कुछ थोड़े प्रयोग हिन्दी की भाँति ई और आ से भी बनते हैं—

कूड़ी = लड़की

कोड़ा = लड़का

इसे आर्यभाषाओं का मुंडा भाषाओं पर प्रभाव माना जाता है।

शब्दों का विभाजन सजीव और निर्जीव पर आधारित है जिनमें निर्जीव पदार्थ एक प्रकार से स्त्रीलिंग समझे जाते हैं। लिंग का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता।

(८) इन भाषाओं में दस तक संख्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त एक बीस के लिए भी नाम है। इन्हीं ग्यारह संख्याओं की सहायता से जोड़ कर घटाकर या कुछ और तरीकों से सभी संख्याएँ प्रकट की जाती हैं। उदाहरणार्थ—

बारेआ = दो

पोनेआ = चार

---

१ अले में केवल कहने वाले का बहुवचन है पर अबोन में सुनने वाले भी शामिल है। यदि किसी से कहें कि हम (अबोन) चलेंगे तो आशय यह हुआ कि सुनने वाला भी चलेगा।

गैल = दस

इसि = बीस

इसी आधार पर—

गैल खन पोनेआ (१०+४) = चौदह (१४)

बारेआ कम इसि (२०–२) = अठारह (१८)

पोन इसि (४×२०) = अस्सी (८०)

(९) क्रिया में 'अ' को जोड़े बिना वह पूर्ण नहीं समझी जाती। 'दल्‌केत' का अर्थ मारा हो गया पर इसे 'दल केत अ' कहेंगे। संशयात्मक क्रियाओं में यह 'अ' नहीं जोड़ा जाता।

(१०) ज़ोर देने के लिए शब्द को या शब्दांश को दो बार कह देते हैं—

दल् = मारना

दल्—दल् = बार बार मारना

ददल् = खूब मारना।

स्वर से आरंभ होने वाले शब्दों में जोर देने के लिए बीच में क् जोड़ दिया जाता है—

अगु = ले जाना

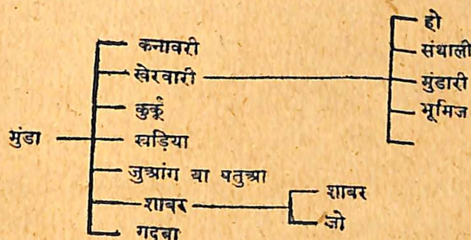
अक्गु = बार बार ले जाना

(११) प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिए अंत में 'ओची' प्रत्यय जोड़ी जाती है।

(१२) क्रिया रूपों में प्रत्यय जोड़ कर कालों का बोध कराया जाता है।

(१३) इन भाषाओं में अव्यय स्वतंत्र शब्द हैं, और अव्यय अर्थ के अतिरिक्त भी इनका अर्थ है। जैसे—'मैंने-खन' का अर्थ 'लेकिन' है पर कहीं कहीं 'यदि तुम कहो' भी इसका अर्थ हो जाता है।

विभाजन



कनावरी का क्षेत्र शिमला के आस पास है। मानचित्र में दिखलाई हुई पाँच बोलियों के वर्ग को खेरवारी कहते हैं। इसका क्षेत्र विन्ध्याचल के पूर्वी भाग में है संथाली और मुंडारी प्रधान बोलियाँ हैं। मुंडा शब्द इसी मुंडारी का है। संथाली संथाल लोगों की भाषा है इसके बोलने वाले लगभग २५ लाख हैं. संथाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी भी शब्द के आरंभ में संयुक्त व्यंजन नहीं आता।

कुकूं मालवा के आस-पास तथा मध्य प्रान्त और मेवाड़ में बोली जाती है। खड़िया (राँची के समीप), जूआंग (कंदूझर और ढेंकानल राज्य में) शाबर और दगबा (आन्ध्र की सीमा पर) ये सभी अब मरणोन्मुख हैं। शाबरी शिकारियों की भाषा का नाम 'जो' है। जूआंग भाषा बिलकुल असभ्यों की है। इसके बोलने वाले अभी तक नंगे रहते हैं।

मुंडा भाषाओं का प्रभाव

एकाक्षर परिवार पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि उनकी कुछ भारतस्थ भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरुप उनमें (क) संख्याओं को बीस के आधार पर गिनना, (ख) द्विवचन का का प्रयोग, (ग) उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप, और (घ) जीव और निर्जीव शब्दों में भेद, आदि कितनी ही बातें आ गई हैं। द्राविड़ परिवार भी इनके प्रभाव से नहीं बच सका है। उदाहरण के लिए कुछ संज्ञाओं का क्रियारूप में प्रयोग, उत्तम पुरुष बहुवचन के दो रुप आदि इस कुल में वर्तमान हैं। मुंडा का आर्यपरिवार पर तो और अधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ कुछ प्रमुख लिए जा सकते हैं—

(क) वस्तुओं की कोड़ियों में गिनती।

(ख) बिहारी बोलियों में क्रिया की जटिलता।

(ग) मध्य प्रान्त की मालव आदि कुछ बोलियों में उत्तम पुरुष बहुवचन के हम और अपन तथा गुजराती में अमे और आपणे दो रुपों का मिलना।

(घ) भोजपुरी बँगला आदि की क्रियाओं में लिंगसूचक उपकरणों की कमी।

(ङ) कोड़ी, आदि बहुत से मुंडा शब्दों का ज्यों के त्यों हिंदी आदि भाषाओं में मिलना। इत्यादि।

[७] अनिश्चित भाषाएँ

यहाँ उन भाषाओं पर थोड़ा थोड़ा जान लेना है जो अभी तक किसी परिवार में नहीं रखो जा सकीं। इनमें कुछ तो प्राचीन या मृत हैं और कुछ आज भी वर्तमान हैं।

(क) प्राचीन (१) एत्रुस्कन

यह भाषा इटली के मध्य और उत्तरी प्रदेश में उस समय बोली जाती थी जब रोमन साम्राज्य की स्थापना भी नहीं हुई थी। इसे विद्वान बहुत दिनों तक भारोपीय परिवार का ही समझते थे पर इधर जब से कुछ शिलालेख और एक पुस्तक की प्राप्ति हुई है यह विचार बदल गया है। भूमध्य सागर के कुछ द्वीपों की मूल भाषाओं से इस भाषा का कुछ संबंध अवश्य ज्ञात होता है पर इस संबंध में आवश्यक खोज यथेष्ट रुप में नहीं हुई है, अतः निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

(२) सुमेरियन

सुमेरियन लोग बेबीलोन के शासक थे। इन लोगों का राज्य कई हजार वर्ष ई० पू० ईरान की खाड़ी तक फैला था। इनकी भाषा सुमेरियन बहुत ही सुसंस्कृत और साहित्य-संपन्न थी। ये लोग बहुत सभ्य और ज्ञान में बढ़े चढ़े थे। इन लोगों की समाप्ति के कारण लगभग ७०० वर्ष ई० पू० इनकी सभ्यता और भाषा दोनों ही समाप्त हो गई। आज इस भाषा के चार हजार वर्ष ई० पू० तक के लेख, असीरीयन लोगों द्वारा अपनी भाषा में किए गए सुमेरी की साहित्यिक पुस्तकों के कुछ अनुवाद तथा कोष और व्याकरण आदि मिलते हैं। कुछ लोगों ने हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो की सभ्यता से सुमेरी लोगों का संबंध जोड़ने का व्यर्थ और असफल प्रयास किया है।

सुमेरी भाषा अश्लिष्ट योगात्मक है पर पूर्णतः यूराल अल्टाइक परिवार से नहीं मिलती अतः उस परिवार में नहीं रखी जा सकती।

(३) मितानी

दजला और फरात नदियों के पास यह भाषा बोली जाती थी। इसकी सामग्री अधिक नहीं मिल सकी है। केवल एक धर्मपुस्तक तथा कुछ

व्यक्तियों के नाम मिले हैं, अतः इसके संबंध में कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

(४) कोसी

इस भाषा में भी केवल कुछ नाम आदि ही मिले हैं अतः विशेष इसके संबंध में भी नहीं कहा जा सकता।

(५) वन्नी

इसके भी लगभग एक हज़ार ई० पू० के कुछ शिलालेख मात्र मिले हैं।

(६) एलामाइट

इस भाषा के संबंध में भी सामग्री के अभाव के कारण कुछ नहीं कहा जा सकता।

(७) हिट्टाइट कप्पदोसी

इस भाषा में कई बोलियाँ हैं जो कृष्ण सागर के दक्षिण कप्पदोशिया में बोली जाती थीं। इसमें कुछ लेख और पुस्तकें आदि मिली हैं। ये बोलियाँ पदरचना में भारोपीय परिवार से तथा ध्वनि और शब्दसमूह में उपर्युक्त प्राचीन भाषाओं एवं कुछ सेमिटिक परिवार से मिलती हैं। भारोपीय परिवार के अंतर्गत इन पर कुछ अधिक विचार किया जायेगा। अनिश्चित होने के कारण इसे भारोपीय और अनिश्चित दोनों में रखा गया है।

(ख) वर्तमान—(१) कोरियाई

कोरियाई जैसा कि नाम स्पष्ट है वर्तमान कोरिया की भाषा है। अधिक दिनों तक चीनी प्रभाव में रहने के कारण चीनी शब्दों की इसमें अधिकता है। यह कुछ बातों में जापानी से मिलती जुलती है। इसकी आधुनिक लिपि ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री है। आकृति की दृष्टि से यह अश्लिष्ट योगात्मक भाषा है, पर यूराल अल्टाइक परिवार में नहीं रखी जा सकती।

(२) एनू

इस भाषा के बोलने वाले जापान से उत्तर कुछ टापुओं में पाए जाते हैं। इसमें दो तीन बोलियाँ हैं। कोरियाई की ही भाँति यह भी अश्लिष्ट योगात्मक है। इसमें साहित्य का एकांत अभाव है।

(३) बास्क

फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरीनीज़ पर्वत के पश्चिमी भाग में बास्क भाषा बोली जाती है। यह चारो ओर से आर्यभाषाओं से घिरी है। बोलने वालों की संख्या तो दो लाख से कुछ ही ऊपर है, पर पहाड़ी भाग होने से आने जाने की सुविधा न होने के कारण इसकी सात-आठ बोलियाँ विकसित हो गई हैं। इधर लगभग चार सौ वर्षों से कुछ साहित्य भी मिलता है। सबसे पुरानी पोथी १५४५ की एक कविता पुस्तक है।

बास्क की प्रधान विशेषताएँ

(१) यह अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक भाषा है।

(२) उपपद (article) परसर्ग की भाँति बाद में लगता है—

ज़ाल्दी=घोड़ा

ज़ाल्दी अ = वह घोड़ा (the horse)

(३) सर्वनाम सेमिटिक और हैमिटिक परिवार से मिलते जुलते हैं।

(४) क्रिया के रुप बहुत ही कठिन होते हैं। बिना अभ्यास के अधिकार पाना असंभव है।

(५) क्रिया और सर्वनाम का इसमें संयोग होता है।

दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ।

(६) वाक्य की बनावट कठिन नहीं होती। क्रिया अधिकतर हिंदी की भाँति अन्त में लगती है।

(७) लिंग—विचार केवल क्रिया में होता है। आश्चर्य यह है कि कहने वाले के अनुसार क्रिया का लिंग परिवर्तित न होकर जिससे बात कहीं जाय उसके अनुसार परिवर्तित होता है।

१. साधारण—एज़ातकित् = मैं इसे नहीं जानता

२. जब पुरुष से कहा जाय—एज़ातकिआत्

३. जब स्त्री से कहा जाय—एज़ातकिनात्

(८) क्रिया में आदरसूचक और निरादरसूचक भी दो रुप होते हैं।

(९) धातु शब्दों में इतनी छिप जाती है कि पता नहीं चलता। 'एउ' धातु से 'ने बन' (मेरे पास था) शब्द बनता है जिसमें 'एउ' का कोई स्वरुप स्पष्ट नहीं है।

(१०) शब्दसमूह अधिक नहीं है। सूक्ष्म भावों के लिए शब्दों का बहुत अभाव है।

विभाजन

बास्क की बोलिय. को युस्कोरियन या युस्कारा कहते हैं, जिनमें से प्रधान निम्न हैं—

बास्क—
- लेबोर्डिन
- सुलेटिन
- न र्राइस —— बासनवर्राइस / हउट-नवर्राइस
- विस्केयन

(४) हाइपर बोरी

इसमें कई बोलियाँ हैं जो साइबेरिया के उत्तरी पूर्वी प्रदेश तथा समीप के कुछ द्वीपों मं लेना नदी से सखालिन तक बोली जाती हैं।

(५) जापानी

यह जापान की भाषा है। जापानी का स्थान आज की सर्वोच्च भाषाओं में है पर अभी तक किसी परिवार से इसका सम्बन्ध नहीं ज्ञात हो सका। यूराल अल्टाई से इसे जोड़ने का प्रयास किया गया पर संबन्ध सिद्ध न हो सका।

जापानी में लगभग १२०० वर्ष प्राचीन साहित्य मिलता है। सबसे पुरानी पोथी, शिन्तो धर्म की पवित्र पुस्तक 'कोसिकी है। लिपि चीनी है पर उस पर ब्राह्मी लिपि का भी प्रभाव स्पष्ट है। कहा जाता है कि जिस व्यक्ति ने चीनी लिपि को जापानी के अनुकुल बनाया वह संस्कृत का विद्वान था। चीनी भाषा के बहुत शब्द जापानी में उधार लिए गये हैं।

प्रधान विशेषताएँ

(१) भाषा अश्लिष्ट अंतयोगात्मक है, पर साथ ही कुछ उदाहरण इसके विरुद्ध भी मिलते हैं।

(२) संज्ञा शब्दों का सम्बन्ध परसर्गों से स्पष्ट किया जाता है।

दे = द्वारा
परसर्ग—नी = में
नो = का
ये = पर

हमामी दे किरु = कैंची जिसके द्वारा काटा जाय
नेको नो त्सुमे = बिल्ली का पंजा

(३) बहुवचन बनाने के लिये पुनरुक्ति का प्रचलन है—

जामा = पहाड़

जामाजामा = कई पहाड़

(४) ध्वनिसमूह जटिल है। संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम है।

(५) लिखने और बोलने की बोली में अधिक अंतर है।

(६) बोलने में भी उच्च और नीच वर्ग के लोगों के शब्दों में पर्याप्त अंतर रहता है। टोकियो की बोली का ही जापान भर में बोलबाला है।

(६) अंडमनी

यह अंडमन द्वीप की भाषा है। इसे भी अभी किसी परिवार में नहीं रखा जा सका।

(७) करेनी

इसका क्षेत्र रंगून के पूरब में है। इसके भी परिवार का पता नहीं है।

(८) बुरुशास्की

कश्मीर के उत्तरी पूर्वी कोने पर इस भाषा का प्रदेश है। इसे खजुना भी कहते हैं।

(९) मानी

इसका क्षेत्र करेनी के पास ही है। ग्रियर्सन इसको तथा करेनी को अलग परिवार मानते हैं।

[ज] भारोपीय परिवार

संसार का यह सबसे प्रसिद्ध भाषा परिवार है। इसका महत्व दो दृष्टियों से अधिक है। एक तो इस परिवार के बोलने वाले संसार में सबसे अधिक हैं, साथ ही यह बहुत बड़े भूभाग में फैला है। दूसरे, सभ्यता, साहित्य और विकास की दृष्टि से भी यह और परिवारों से आगे है। आज विश्व में इसी परिवार के बोलने वालों का बोलबाला है।

नाम

इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर ईरान और आर्मेनिया होता हुआ बीच के (यूराल अल्टाइक तथा वास्क) कुछ भाग को छोड़ कर ब्रिटेनी और ब्रिटिश द्वीपों के पश्चिमी भाग तक है। इस परिवार का उचित नामकरण आरंभ से ही विवादास्पद रहा है और आज भी कोई संतोषजनक नाम नहीं है।

इस परिवार को पहले इन्डो जर्मेनिक कहा गया था क्योंकि इसके पूर्वी

छोर पर भारतीय और पश्चिमी छोर पर जर्मेनिक भाषाएँ हैं। पर उसके भी पश्चिम इस परिवार की केल्टिक शाखा है अतः यह नाम उचित नहीं जान पड़ा और इसी करण छोड़ भी दिया गया, यद्यपि जर्मनी में अब भी यही नाम प्रचलित है। भौगोलिक दृष्टि से 'इंडोकेल्टिक' नाम ठीक था और कुछ प्रयोग में भी आया पर चल नहीं सका क्योंकि इसमें केवल दोनों छोर ही थे। नाम से परिवार के सम्बन्ध में निश्चित चित्र नहीं खड़ा होता था।

इसे आर्यपरिवार भी कहा गया पर सत्य यह है कि आर्यपरिवार इस परिवार की एक शाखा (भारतीय ईरानी) का नाम है अतः वह पूरे परिवार का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसी प्रकार संस्कृतिक और काकेशियन नाम भी झाँक कर चले गए।

कुछ लोग सेमेटिक और हैमिटिक की वजन पर जफेटिक नाम रखना चाहते थे। बाइबिल में इन आधारों पर मनुष्य जाति का वर्गीकरण किया गया है। पर यह वर्गीकरण पूर्णतः अवैज्ञानिक और अमान्य था अतः नहीं चल सका। इसमें सबसे बड़ी दिक्कत तो यह थी कि कितने ही जफेटिक कहलाने वाले लोग ऐसी भाषाएँ बोलते हैं जिनका भारोपीय परिवार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अंतिम नाम जो आजकल भी प्रचलित है भारोपीय (भारत-यूरोपीय) है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह नाम भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। इसनामकरण का आधार भौगोलिक है क्योंकि इस परिवार की शाखाएँ भारत से लेकर यूरोप तक फैली हैं। पर यदि यही आधार माना जाय तो अमेरिका और अफ्रीका के बहुत से भागों में भी अब इस परिवार की भाषाओं (अंग्रेजी, स्पैनिश, फ्रेंच, डच आदि) का प्रचार है और इस नाम में ये क्षेत्र नहीं सम्मलित हैं। फिर भी किसी अन्य अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में भारोपीय नाम काम दे सकता है, और दे रहा है।

भारोपीय परिवार की प्रधान विशेषताएँ

(१) यह परिवार श्लिष्ट योगात्मक है।

(२) योग अधिकतर सेमिटिक या हैमिटिक भाषाओं की भाँति अंतर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है।

(३) जो प्रत्यय जोड़ी जाती हैं उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। एक दो के विषय में [जैसे अंग्रेजी का ly (manly)] विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है पर शेष संदिग्ध हैं। पर अनुमान ऐसा है कि अन्य

भाषाओं की प्रत्ययों की भाँति भारोपीय प्रत्यय भी कभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था, कालान्तर धीरे-धीरे ध्वनि परिवर्तन के चक्र में पड़ने से उनका आधुनिक रूपमात्र अवशेष रह गया।

(४) इस परिवार की भाषाएँ आरंभ में संयोगात्मक थी पर धीरे-धीरे दो एक को छोड़ कर सभी वियोगात्मक हो गईं। जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ स्थान-प्रधान (positional) भी हो गई हैं। जैसे राम ने मोहन को मारा में राम को मोहन के स्थान पर और मोहन को राम के स्थान पर कर देने से अर्थ परिवर्तित हो जावेगा पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं थी।

(५) धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इनमें प्रत्यय जोड़कर पद या शब्द बनते हैं।

(६) प्रत्यय भी दो प्रकार की होती है। जो प्रत्यय धातु में जोड़ी जाती है उसे कृत (primary) कहते हैं और जो कृत लगाने के बाद जोड़ी जाती है उसे तद्धित (secondary)। तद्धित के भी तीन भेद हैं जो क्रम से शब्द, कारक के उपयुक्त पद और कालानुसार क्रिया बनाते हैं।[1]

(७) इस परिवार में पूर्व सर्ग या पूर्व विभक्तियाँ सम्बन्ध सूचना देने के लिए या वाक्य बनाने के लिए बन्टू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है, और पर्याप्त मात्रा में होता है पर उनसे केवल धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार, आदि में 'वि', 'आ', और 'परि' आदि लगाकर किया गया है। कहीं कहीं तो ये अब निरर्थक से हो गए हैं और इनको छोड़ देने से भी कोई विशेष परिवर्तन अर्थ में नहीं आता। जैसे ज्ञान, परिज्ञान, इत्यादि।

(८) समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार में है। इसकी रचना के समय विभक्तियों का लोप को जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नहीं रहता जो उसके अलग अलग शब्दों को एक स्थान पर रखने से होता। उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा = काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा में

---

[1] इन्हें क्रम से wordbuidilng suffixes, case indicating suff. और verval suff. कह सकते हैं।

समासों से बहुत बड़े बड़े शब्द बनते हैं। किसी टापू में बसे एक वेल्श ग्राम का नाम जो समास पर आधारित है ५८ अक्षरों का है।

(९) इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर-परिवर्तन से संबन्धतत्त्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरंभ में स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हो गया और जब धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो वे स्वर परिवर्तन ही सम्बन्ध परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अंग्रेजी की कुछ बली क्रियाओं में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है—drink, drank, drunk। यहाँ आई (i) का ए (a) और यू (u) में परिवर्तन हुआ है, और इसी से उनमें काल सम्बन्धी परिवर्तन आ गया है।

(१०) एक स्थान से चलकर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओं का अलग अलग विकास हुआ और सभी में प्रत्ययों की आवश्यकता पड़ी अतः यहाँ प्रत्ययों की संख्या बहुत अधिक हो गई। और किसी भी परिवार में इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं हैं।

भारोपीय मूल भाषा

यह पूरा परिवार कभी एक भाषा रहा होगा, जिसे हम भारोपीय भाषा कह सकते हैं। भारोपीय भाषा भाषी लोगों के जीवन पर प्रकाश डालना तो प्राचीन खोज का विषय है, परयहाँ उनकी भाषा और उसके विभिन्न पक्षों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। उस मूल भारोपीय भाषा के सम्बन्ध में सारी बातें यद्यपि अनुमान पर ही आधारित हैं पर अनुमान वैज्ञानिक और तर्कपुष्ट है अतः एसी आशा की जाती है कि वह बहुत अंशों में ठीक ही होगा। हम भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कह चुके हैं कि भाषाओं के आधुनिक रूप से अध्ययन प्रारंभ कर धीरे-धीरे पीछे चलते-चलते मूल या आदिम रूप तक पहुँच सकते हैं। ऐसा ही अध्ययन इस निम्न अनुमान का आधार है।

भारोपीय मूल भाषा का ध्वनि-समूह

ध्वनि के लिए इस परिवार की शाखाओं के प्राचीनतम उपलब्ध शब्दों तथा नामों आदि का विवेचन करते हैं। यहाँ उस विवेचन पर विचार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह विषय प्रस्तुत पुस्तक के बाहर है। हाँ, ग्रीक, अवेस्ता, संस्कृत आदि के आधार पर निष्कर्ष मात्र दिया जा रहा है।

मूल भारोपीय भाषा में निम्नांकित ध्वनियाँ थीं—

स्वर

(१) अंतस्थ स्वर[1]—इ, ऋ, लृ, उ, न म, ।

(२) मूल स्वर— अ, आ, ऍ, ओ, ओ;

(३) संयुक्त स्वर—अइ, आइ; अऋ, आऋ; अलृ, आलृ; अउ, आउ; अन, आन; अम, आम; ऍइ, एइ; ऍऋ, एऋ; ऍउ, एउ; ऍन, एन; ऍम, एम; ओइ, ओइ; ओऋ, ओऋ; ओलृ, ओलृ; ओउ, ओउ; ओन, ओन; ओम, ओम।

(यहाँ संयुक्त स्वरों के जोड़े रखे गए हैं जिनमें प्रथम स्वर ह्रस्व और दूसरा दीर्घ है।)

(४) उदासीन स्वर—ə (यह ह्रस्व स्वर का भी आधा होता है जिसका उच्चारण अस्पष्ट होता है।)

व्यंजन

(१) अंतस्थ व्यंजन—य् र् ल् व् न् म्

(२) शुद्ध व्यंजन—

कवर्ग—(१) क् ख् ग् घ् (उच्चारण निश्चित नहीं है। शायद कुछ क्य् ख्य ग्य् घ्य् जैसा रहा हो)

(२) क् ख् ग् घ् (उच्चारण कागज के 'क़' के समान पूर्णतः कंठ्य था)

(३) क् ख् ग् घ् (उच्चारण में ओठ से सहायता ली जाती थी अतः कुछ 'व' की ध्वनि भी आ जाती रही होगी और शायद क्व्, ख्व्, ग्व् घ्व् सा सुनाई देता रहा होगा।)

तवर्ग—त् थ् द् ध्

पवर्ग—प् फ् ब् भ

ऊष्म— स् (दो स्वरों के बीच में आने पर इसका उच्चारण ज़ हो जाता था)

---

1. अंस्तथ स्वर स्वर और व्यंजन के बीच में उच्चारित होते हैं। इसमें न और म भी हैं। इन्हें स्वनंत (sonant) कहते हैं। ये उस समय स्वर का काम करते थे।

अंतस्थ व्यंजन न् और म् ही सभी वर्गों के साथ अनुनासिक व्यंजन का कार्य करते थे। इनका उच्चारण स्थायी न रह कर ञ और ङ भी हो जाता था। विशेष स्थानों पर ये ही स्वतंत्र म और न भी हो जाते थे।

भारोपीय भाषा में एक से अधिक शुद्ध व्यंजन एक साथ आ सकते थे पर एक से अधिक मूल स्वर नहीं। स्वरों में अनुनासिकता नहीं थी।

भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण

(१) धातु में प्रत्यय जोड़कर शब्द (पद) बनते थे।

(२) आरंभ में उपसर्गों का बिल्कुल प्रचलन न था।

(३) मध्य-विन्यस्त प्रत्यय (Infix) का भी प्रयोग नहीं होता था।

(४) संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम आदि संज्ञा के अंतर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय भी अविकारी न होकर विकारी होते थे।

(५) एक, द्वि और बहु, इन तीनों वचनों का प्रयोग होता था।

(६) स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसक लिंग थे। उनका विचार केवल संज्ञा में होता था।

(७) क्रिया में उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष के अनुसार भी प्रत्येक के तीन रूप होते थे, अर्थात् ३ पुरुष थे।

(८) क्रिया में उसके किए जाने और फल का विचार प्रधान था और काल का गौण।

(९) संज्ञा की आठ विभक्तियाँ थीं।

(१०) समास का प्रयोग होता था जिसकी रचना में प्रत्ययों को छोड़ दिया जाता था।

(११) पद-रचना में स्वर क्रम का महत्वपूर्ण हाथ था। ग्रीक आदि में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जिनमें यदि ए स्वर है तो अर्थ वर्तमान सूचक है पर यदि उसके स्थान पर ओ हो गया तो अर्थ भूतकाल का हो जाता है।

(१२) सुर का भी प्रयोग होता था। भाषा संगीतात्मक थी।

(१३) सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व इतने दूध और पानी की भाँति मिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना साधारण कार्य नहीं था।

(१४) भारोपीय भाषा अंतर्मुखी श्लिष्ट योगात्मक थी।

भारोपीय भाषा-भाषी धीरे-धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग अलग विकास हुआ जिससे निकली आज सैकड़ों भाषाएँ और कई हजार बोलियाँ हैं। इन भाषाओं और बोलियों को मिला कर इसे भारोपीय परिवार कहा जाता है।

भारोपीय परिवार का विभाजन

ध्वनि के आधार पर इस परिवार के पहले दो वर्ग बनाये गये हैं। पहले पहल अस्कोली ने १८७० में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कंठस्थानीय ध्वनियाँ (क आदि) कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गईं पर कुछ में वे ऊष्म (स श आदि) हो गईं। इसी आधार पर वान ब्रैडके ने इस परिवार के सतम् और केन्टुम दो वर्ग बनाये। यह नाम इसलिए रखे गये कि सौ के लिए पाए जाने वाले शब्दों में यह भेद स्पष्ट है। सतम् अवेस्ता का शब्द है और केंटुम लैटिन का।

स्पष्टता के लिए दोनों वर्ग में सौ के लिए पाए जाने वाले शब्दों को देख लेना ठीक होगा—

सतम् वर्ग	केन्टुम वर्ग
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—केन्टुम
फारसी—सद	ग्रीक—हेक्टोन
संस्कृत—शतम्	इटैलियन—केन्टो
हिन्दी—सौ	फ्रेंच—केन्त
रूसी—स्तो	ब्रोटन—कैन्ट
बल्गोरियन—सुतो	गेलिक—क्युड
लिथुआनियन—स्जिम्तास	तोखारी—कन्ध

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को केन्टुम वर्ग की तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को सतम् वर्ग की कहा जा सकता है। पर इधर पूरब में हिट्टाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिली हैं जिनमें स के स्थान पर क है अतः पूरब पश्चिम वर्ग अलग अलग करना ठीक नहीं है।

[क] केन्टुम वर्ग

इस वर्ग की भाषाएँ या शाखाएँ यों हैं:—

केन्टुम
- —केल्टिक
- —ट्यूटानिक
- —लैटिन
- —हेलेनिक
- —हिट्टाइट
- —तोखारी

[१] केल्टिक

आज लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस शाख के बोलने वाले मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस (उस समय इसका नाम 'गाल' था) के एक बड़े भाग, स्पेन, एशिया माइनर और ग्रेट ब्रिटेन आदि में रहते थे पर अब आयर्लैंड, वेल्स, स्काटलैंड, मानद्वीप और ब्रिटेनी तथा कार्नवाल के ही कुछ भागों में इसका क्षेत्र शेष रह गया है।

लैटिन शाखा से इस शाखा का बहुत साम्य है—

(अ) दोनों में ही पुलिंग और नपुंसकलिंग ओकारान्त संज्ञाओं में संबंधकारक के लिए—ई प्रत्यय का प्रयोग होता है।

(आ) दोनों ही में क्रियार्थक संज्ञा अधिकतर—शन (tion) प्रत्यय लगाकर बनाई जाती है।

(इ) कर्मवाच्य की बनावट भी दोनों में लगभग एक सी है।

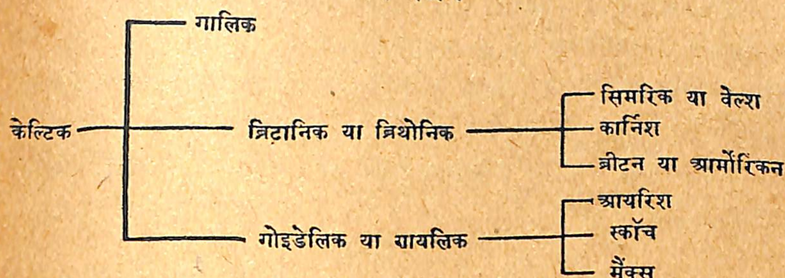
(ई) दोनों ही में उच्चारण भेद के कारण 'क' और 'प' दो वर्ग बनाए जा सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमें कुछ भाषाओं में जहाँ 'प' मिलता है वह दूसरी भाषाओं में उसके स्थान पर 'क' मिलता है—

वेल्श में 'पम्प' (= पाँच) का आइरिश में 'कोइक' है।

इस आधार पर इसके 'प' और 'क' दो वर्ग हैं। 'प' वर्ग को ब्रिटानिक और 'क' वर्ग को गायलिक कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक गालिक वर्ग भी है। इस प्रकार इसके ३ वर्ग हैं।

विभाजन



गालिक, रोम के राजा प्रथम सीजर के समय में बोली जाती थी। २८० ई० पू० यह एशिया माइनर में पहुँच गई थी। अब इस भाषा का दर्शन कुछ स्थान तथा आदमियों के नामों, पुराने लेखकों द्वारा उद्धृत शब्दों, सिक्कों और लगभग २५ अभिलेखों में ही मिलता है। अतः इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

सिमरिक या वेल्श 'प' वर्ग की एक शाखा है। इसके बोलने वाले आज भी हैं। इसका प्रधान क्षेत्र वेल्श है। इसके आठवीं सदी तक के लेख मिलते हैं। साहित्य का आरम्भ ११वीं सदी से हुआ है और १३वीं तक कविता आदि की पर्याप्त संख्या में रचना हुई है। कुछ रचना आज भी होती है। इसके बोलने वालों को अपनी भाषा का बहुत गर्व है।

कार्निश कार्नवाल की एक बोली थी। १७७० के लगभग इसकी इति-श्री हो गई। इसका प्राचीन साहित्य अवश्य हमें प्राप्त है जिसकी प्रधान पुस्तक १५वीं सदी की एक 'रहस्य-नाटिका' है।

ब्रीटन फ्रांस के ब्रिटेनी प्रदेश में बोली जाती है। इसे आर्मेरिकन भी कहते हैं। यथार्थतः यह कार्निश की ही एक शाखा जो पाँचवी सदी के लगभग अलग हुई थी। इसके पुराने उदाहरण दसवीं सदी तक के मिलते हैं। १२वीं सदी में साहित्य भी मिलता है।

'क' वर्ग की प्रधान शाखा आयरिश है। आयलैंड में जब तक अंग्रेजी राज्य था भारत की ही भाँति अंग्रेजी का बोलबाला था, पर देश के स्वतंत्र होने के उपरांत आयरिश भाषा को भी उचित स्थान मिला है। इसके पुराने उदाहरण पाँचवीं सदी के 'ओघम' के अभिलेखों में मिलते हैं। मध्यकाल से इसमें साहित्य (काव्य और पौराणिक गाथा प्रधानतः) की भी वृद्धि यथेष्ट हुई है। धार्मिक केन्द्र होने के कारण भी इस भाषा को कम बल नहीं मिला है लत जाक। ओ इस भाषा और साहित्य की उन्नति डी वेलरा के प्रयास के फलस्वरूप और भी तेजी से हो रही है।

स्कॉच स्काटलैण्ड के उत्तरी और उत्तरी पश्चिमी भाग की बोली थी। अब इसके बोलने वाले अंग्रेजी के प्रभाव से कम हो गये हैं। कुछ स्कूलों में धार्मिक प्रार्थना के लिए इस भाषा का प्रयोग वहाँ अब भी होता है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ मिलती हैं।

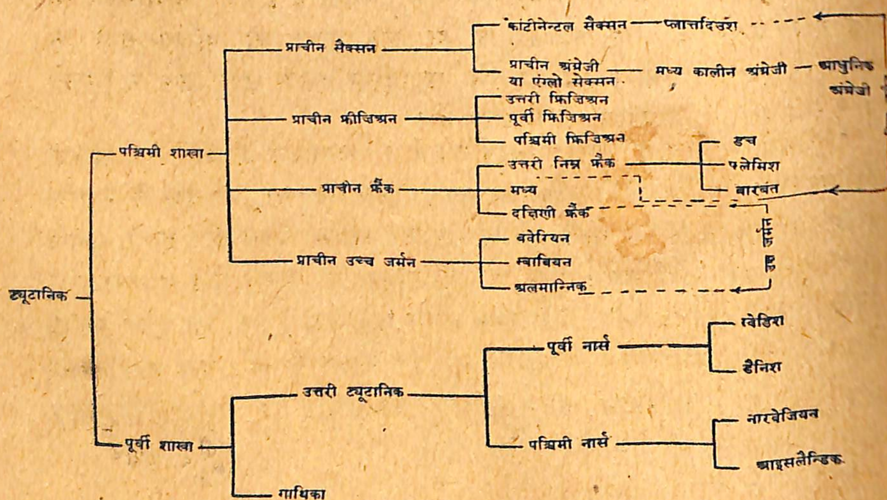
मैंक्स इंगलैन्ड के समीप मानद्वीप की भाषा है। यह बेचारी भी अब समाप्तप्राय है।

[२] ट्यूटानिक

यह शाखा भारोपीय परिवार की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है। इसकी अंग्रेजी भाषा आज की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इसका नाम जर्मेनिक भी है। यह शाखा अपनी ध्वनियों के परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। पहला परिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ जिसके कारण भारोपीय परिवार की अन्य शाखाओं से यह कुछ दूर हो गई। दूसरा परिवर्तन ७वीं सदी के लगभग हुआ जिसके कारण इस शाखा के ही उच्च जर्मन और निम्न जर्मन दो वर्ग हो गये। इसका विस्तृत वर्णन 'ध्वनि नियम' के प्रकरण में मिलेगा।

इसके प्राचीनतम उदाहरण तीसरी सदी के मिलते हैं जो इसकी पुरानी, रोमन और ग्रीक लिपि से भिन्न रूनी लिपि में हैं। ४थी सदी का इंजील का अनुवाद भी मिलता है। साहित्य इधर हजार वर्ष के लगभग से आरंभ हुआ है।

इस वर्ग की भाषाएँ धीरे-धीरे संयोगात्मक से वियोगात्मक होती जा रही हैं। भारोपीय मूल-भाषा में संगीतात्मक स्वाराघात का प्राधान्य था। इस वर्ग में अब केवल स्वीडिश में इसका अवशेष है। शेष सभी भाषाओं में बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया है। **विभाजन**



प्राचीन सैक्सन बोलियाँ सैक्सन आंग्लस और ज्यूट्स लोगों की थी। ये लोग वेसेक्स, ससेक्स, एसेक्स, केन्ट, वाइट, पूर्वी ऐंग्लिया, मरकिया तथा दक्षिणी स्काटलैंड के पूर्वार्द्ध में रहते थे। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुईं, जिन्हें उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी कह सकते हैं। आधुनिक अंग्रेजी मूलतः मध्यवर्ती शाखा से विकसित हुई है। स्काटलैंड की बोलियों का जन्म उत्तरी से है।

अंग्रेजी का आरंभ ११०० ई० से माना जाता है। लगभग साढ़े तेरह सौ तक प्राचीन काल और साढ़े चौदह सौ तक मध्यकाल है। इसके बाद अंग्रेजी का आधुनिक भाग आरम्भ होता है। आज की अंग्रेजी भाषा और उसका साहित्य संसार में सबसे धनी कहा जा सकता है। अंग्रेजी भाषा की तीन बोलियाँ हैं जिनमें स्काट के निम्न भाग की नार्थम्बरियन प्रधान हैं।

जर्मनी के उत्तरी भाग में प्लात्तदिउश शाखा है जिसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं।

फ्रिजियन का आरंभ तेरहवीं चौदहवीं सदी से स्पष्ट मिलता है। इसमें तीन बोलियाँ थीं। पश्चिमी बोली का क्षेत्र हालैंड के उत्तरी भाग में था। पूर्वी फ्रिजियन यम्स और वेजर नदी के मुहानों के बीच में बोली जाती थी, और उत्तरी बोली एब नदी मुहाने के उत्तर में। अब इसके बोलने वाले केवल जर्मनी और हालैंड के कुछ भागों में हैं। शेष क्षेत्र में डच आदि भाषाओं ने अधिकार जमा लिया है।

फ्रैंक भाषा का क्षेत्र राइन से नीदरलैंड तक था। धीरे-धीरे इसकी भी उत्तरी मध्य और दक्षिणी तीन शाखाएँ हो गईं। दक्षिणी में डच जर्मन की प्रकृति है और उत्तरी में निम्न जर्मन की। मध्यवर्ती शाखा दोनों के बीच की है। इसमें दोनों की ही कुछ-कुछ बातें आ गई हैं। उत्तरी शाखा से ही नीदरलैंड की बोलियों का भी विकास हुआ है जिनका साहित्य तेरहवीं सदी से मिलता है। इन बोलियों में डच और हालैंड की बोलियाँ प्रधान हैं। फ्लेनिश फ्लेंडर लोगों की बोली है जो प्रमुखतः उच्चारण में ही डच से भिन्न है। 'बारबंत' बोली भी इसीका साधारण भिन्नता लिए हुए एक रूप है।

ट्यूटानिक की पाश्चिमी शाखा की ऊपर दी गई सभी भाषाएँ तथा

बोलियाँ केवल मध्य (जो तटस्थ है) तथा दक्षिणी (जो उच्च जर्मन में हैं) को छोड़कर निम्न जर्मन के अन्तर्गत आती हैं।

अब हम उच्च जर्मन को ले सकते हैं। संपूर्ण जर्मनी तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग की यह साहित्यिक और संस्कृत भाषा है। इसमें ३ प्रधान शाखायें हैं। अलमानिक का क्षेत्र स्विटिजरलैंड का जर्मन भाषा-भाषी प्रदेश, अलसेस तथा बादेन के दक्षिण में है। स्वाबियन पश्चिमी बवेरिया, उरटेमबर्ग आदि में बोली जाती है। बवेरियन बोलने वाले शेष बवेरिया तथा आस्ट्रिया के एक बड़े भाग में हैं।

इस उच्च जर्मन का इतिहास तीन कालों में विभक्त हैं। प्राचीन उच्च जर्मन द्वितीय वर्ण परिवर्तन के पश्चात् ८वीं सदी से आरम्भ होकर बारहवीं तक है। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ, बाइबिल के खंडित अंश तथा कुछ और लेख आदि मिलते हैं। इसके बाद मध्य जर्मन का समय है। 'निबेलुं-जेन' काव्य की रचना इसी में हुई है। वर्तमान उच्च जर्मन बहुत ही गंभीर और संस्कृत है। यह रचनात्मक (building language) भाषा है जिसमें किसी भी शब्द का अनुवाद आसानी से किया जा सकता है। पूरे ट्यूटानिक परिवार में उच्च जर्नन अपेक्षाकृत अपने मूल के सबसे अधिक निकट है। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि से कुछ शब्द आवश्य उधार लिए गए हैं पर उनका भी स्वदेशीकरण कर लिया गया है। उच्च जर्मन भाषियों ने संस्कृत का भी गम्भीर अध्ययन किया है और दर्शन एवं भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका प्रमुख स्थान है।

ट्यूटानिक वर्ग की सबसे प्राचीन भाषा गाथिक है। इसके अवशेष एक तिथि पुस्तिका एवं उलफिलास की बाइबिल के अंश रूप में मिलते हैं। बाइबिल की पांडुलिपि लगभग पाँचवीं सदी की है, यद्यपि इसका रचना काल ३५० के समीप का है।

इसका क्षेत्र कारपैन्थियन्स के दक्षिण और दक्षिण पूरब में था। कुछ प्रचार स्पेन और इटली में भी हुआ पर यह वहाँ से शीघ्र ही समाप्त हो गई। कृष्ण सागर के किनारे यह भाषा नवीं सदी तक रही और कुछ स्थानों पर १६वीं सदी तक रहने का भी संकेत मिलता है। आकृति की दृष्टि से यह अंत तक संयोगात्मक रही साथ ही द्विवचन आदि भारोपीय की पुरानी बातें

भी इसमें थीं। इस भाषा को संस्कृत के बहुत निकट कहा जाता है। अब इसके क्षेत्र में नार्थ भाषाओं का प्रयोग होता है।

पूर्वी शाखा की दूसरी उपशाखा उत्तरी ट्यूटानिक या प्राचीन नार्स है। रूनी लिपि में इसके अभिलेख ५वीं सदी तक के मिलते हैं। आज से लगभग एक हजार वर्ष तक इसकी शाखाओं में आपस में अन्तर नहीं हुआ था। सभी में ध्वनि संबंधी कुछ विशेषताएँ एक थीं। आइसलैन्डिक भाषा में उसके उदाहरण हैं। आइसलैन्डिक में लगभग १३वीं सदी की 'एड्डा' नामक पौराणिक गीत तथा स्काल्ड लोगों की कुछ कविताएँ भी हैं।

दसवीं सदी के लगभग उत्तरी ट्यूटानिक की दो प्रधान शाखाएँ पूर्वी और पश्चिमी हो गईं। पूर्वी नार्स का विकास स्वेडिश और डैनिश के रूप में हुआ तथा पश्चिमी का नारवेजियन एवं आइसलैंडिक में। डैनिश भाषा डेनमार्क के अतिरिक्त उत्तरी श्लेस्विग तथा नारवे के कुछ सभ्य लोगों में प्रयुक्त होती है। इसके नमूने १३वीं सदी तक के मिलते। इसमें मुख-सुख के लिए ध्वनि-विकास खूब हुआ है। अन्य भाषाओं का भी इस भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वेडिश का प्रधान क्षेत्र स्वेडन तथा फिनलैंड का कुछ भाग है। इस भाषा में अब तक बहुत पुरानी प्रकृति पाई जाती है। भारोपीय परिवार की जिवित भाषाओं में से केवल यही एक ऐसी भाषा है जिसमें संगीतात्मक स्वाराघात स्पष्टतः मिलता है। नार्वे की भाषा नार्वेजियन है। सम्पूर्ण आइसलैंड तथा स्कैन्डीनेविया के पश्चिमी भाग में आइसलैंडिक भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा अपने भौगोलिक स्थिति के कारण अब तक लगभग संयोगात्मक है और दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी कम पड़ा है। इसमें इधर कुछ साहित्य-रचना भी हुई है।

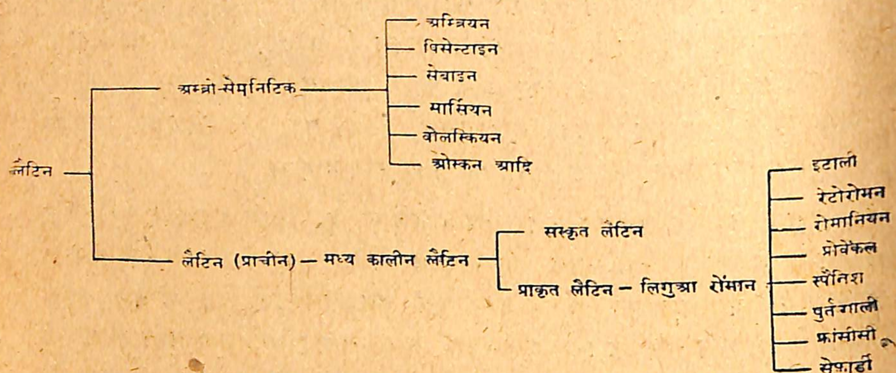
[३] लैटिन

इसका नाम इटाली भी है। इसकी सबसे पुरानी भाषा लैटिन है जो आज भी रोमन कैथोलिक संप्रदाय की धार्मिक भाषा है। आरंभ में लैटिन शाखा का प्रधान क्षेत्र इटली में था। केल्टिक की भाँति ही इस शाखा के भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं।

लैटिन		ओस्कन
क्वाम	=	पाम
'येकुअस	=	येपो

'क' वर्ग को लैटिन वर्ग तथा 'प' को अम्ब्रो-सेमनिटिक वर्ग कहते हैं। इन दोनों वर्गों के पृथक् पृथक् विभाजन हो सकते हैं—

विभाजन



अंब्रो सेमनिटिक शाखा की भाषाएँ उत्तरी अंब्रिया से लेकर दक्षिण में अपुलिया और लूकानिया तक मध्य अपेनाइन्स के दोनों ओर बोली जाती थीं। इनमें प्रथम (अंब्रियन) एवं अंतिम (ओस्कन) ही हम लोगों के लिए महत्वपूर्ण हैं। शब्द समूह को छोड़कर ये दोनों आपस में काफी समानता रखती हैं। लैटिन क दोनों ही में प हो जाता है। ओस्कन भाषा कुछ दिनों तक महत्वपूर्ण थी। अपने क्षेत्र में ईसा से सौ वर्ष पूर्व इसका पर्याप्त प्रचार था, और बाद में भी कुछ दिन तक रहा। इसके चिन्ह, सिक्कों, लैटिन लेखकों के उद्धरणों तथा लगभग दो सौ लेखों (पत्थर तथा धातुपत्र पर) में मिलते हैं। ओस्कन ओस्की लोगों की भाषा थी जो कपुआ और बेनेवेन्टम के आस-पास रहते थे।

अम्ब्रियन भाषा के भी प्राचीन लेख मिलते हैं जो लगभग २०० वर्ष ई० पू० के हैं। अब इन सबसे क्षेत्र में 'क' वर्ग की बोलियों का ही आधिपत्य है।

लैटिन बोलने वाले लोग लैटिअम के मैदानों में रहते थे। रोमन राज्य के विकास के साथ साथ इस भाषा का भी विकास हुआ। इसके लेख ५०० ई० पू० तक के मिलते हैं। धीरे-धीरे इस भाषा का प्रसार इतना हुआ था कि आज की रोमान्स भाषाओं के पूरे क्षेत्र में यह बोली जाने लगी थी। बहुत पहले से ही धीरे-धीरे यह संयोग से वियोग की ओर आ रही थी।

इसके इतिहास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। प्राचीन लैटिन का काल ५०० ई० पू० से तीसरी सदी तक है। मध्यकालीन लैटिन के दो रूप हैं। एक तो बहुत संस्कृत थी जो सभ्य लोगो की एवं साहित्य की भाषा थी। दूसरी भारतीय आर्यभाषा के सादृश्य पर प्राकृत लैटिन कही जा सकती है। यह साधारण लोगों कीं भाषा थी। संस्कृत लैटिन का साहित्य में प्रयोग तीसरी सदी से ७वीं तक होता रहा। धीरे-धीरे प्राकृत लैटिन में बहुत विकास हो गया। यही बाद में नियो-लैटिन हुई जिसका क्षेत्र इटली, सिसिली, स्पेन, गाल और डेसिया में था। विजयी लोगों की भाषा थी और हारे हुए लोगों पर लादी गई, अतः परिवर्तन तेजी से होने लगा, जिसके फलस्वरूप यह रोमन साम्राज्य की राष्ट्रभाषा, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रूप से विकसित होने लगी। थोड़े ही दिनों में अलग बोली, फिर अलग भाषाएँ हो गईं। इन्हें अब रोमान्स इसलिए कहा जाता है कि रोम साम्राज्य की भाषाएँ थीं।

अब प्रधान रोमान्स भाषाओं पर विचार किया जा सकता है।

इटाली का क्षेत्र इटली टिसिनो, सिसिली तथा कार्सिका में है। इसके लेख ७वीं सदी तक के मिलते हैं। इसमें भी कई बोलियाँ हो गई हैं। फ्लारेंन्स की बोली ही प्रधान है, जिसमें दाँते ने १०वीं सदी में अपना काव्य लिखा। यही साहित्यिक भाषा भी है। बोलियों में आपस में अंतर अधिक है। सबका साहित्य भी पृथक्-पृथक् है।

रेटोरोमन का नाम 'रेटियन', 'रोमांश' या 'लेडिक' भी है। यह इटली स्विटजरलैंड तथा आस्ट्रिया के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ट्यूटानिक परिवार का भी प्रभाव अधिक पड़ा है।

रोमानियन भाषा रूमानिया, ट्रान्सिलवेनिया तथा ग्रीस के कुछ भागों में बोली जाती है यह डैन्यूब नदी पर बसे रोमन लोगों की भाषा से निकली है। इसके लगभग चालीस प्रतिशत शब्द स्लाविक हैं। अन्य रोमान्स भाषाओं के प्रतिकूल इसमें बलगेरियन की भाँति उपपद (article) प्रत्यय की तरह शब्दों के अंत में लगाया जाता है। उत्तरी भाग में कुछ साहित्य है।

प्रोवेंकल भाषा रोमान्स भाषाओं में प्रथम भाषा है, जिसमें साहित्य-साधना का श्रीगणेश हुआ। इसकी प्रथम कविता नवीं सदी की है। इसका

क्षेत्र दक्षिणी फ्रांस है। १२वीं से १३वीं सदी तक इसमें साहित्य लिखा गया। बाद में फ्रेंच भाषा ने इसे दबा लिया और अब इसके बोलने वाले फ्रांस के दक्षिणी पूर्वी भाग में थोड़े से और बँचे हैं।

प्राकृत लैटिन के स्पेन में पहुँचने के पूर्व वहाँ बास्क और अरबी का राज्य था। इन दोनों (बास्क तथा अरबी) का ही शब्दसमूह तथा ध्वनि में स्पैनिश भाषा पर प्रभाव पड़ा है। इसी कारण रोमांस भाषाओं में स्पैनिश ही मूल लैटिन से अपेक्षाकृत बहुत दूर हट गई है। इसके चिह्न तो सातवीं सदी तक मिले हैं पर बारहवीं से नियमित लेख मिलते हैं। इसमें बहुत सी बोलियाँ हैं जिनमें कैस्टाइल प्रधान है। यही वहाँ की साहित्यिक एवं राज्य-भाषा है। स्पेन के लोगों के साथ-साथ अब यह स्पेन के बाहर भी चली गई है। अब अमेरिका में भी इसके बोलने वाले काफी हैं।

फ्रांसीसी इस वर्ग की सबसे प्रधान भाषा है। यह पेरिस की बोली का विकसित रूप है। इसके चिह्न आठवीं सदी उत्तरार्द्ध तक के मिलते हैं। ६वीं से १३वीं सदी तक इसका प्राचीन काल है। उसके बाद इसका विकास तेजी से आरंभ हुआ। इसके बोलने वालों ने सभी भाषाओं से उधार शब्द लेकर तथा अनेक नए गढ़कर शब्दसमूह को धनी बनाया, और साहित्य भी पर्याप्त रूप में लिखा। इसका उच्चारण बहुत कठिन और लिखित भाषा से बहुत दूर होता है। यह बहुत दिनों तक यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय भाषा रही है। अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में भी इसके कुछ क्षेत्र हैं। इसमें संगीतात्मक स्वराघात काफी मात्रा में विद्यमान है।

पुर्तगाली भाषा स्पैनिश से मिलती जुलती है। इस पर फ्रेंच और मूर लोगों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके लेख तेरहवीं सदी उत्तरार्द्ध से मिलते हैं। अफ्रीका तथा भारत में भी इसके छोटे-छोटे क्षेत्र हैं। भारतीय भाषाओं के शब्द समूह पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियों की भाषा पुर्तगाली और स्पैनिश से भिन्न है। इसे सेफ़ार्डी कहते हैं। इसका ढाँचा तो स्पैनिश सा ही है पर शेष बातें सेमिटिक परिवार से मिलती जुलती हैं।

[४] हेलेनिक

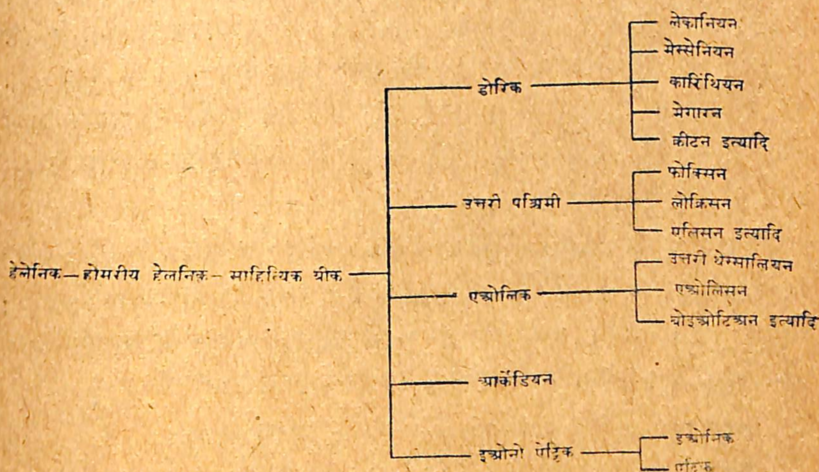
इसे ग्रीक शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा में कुछ भौगोलिक कारणों से बहुत पहले से छोटे-छोटे राज्य और उनकी बहुत सी बोलियाँ हो गई थीं। इसके प्राचीन उदाहरण महाकवि होमर के इलियड और ओडिसी महाकाव्यों

में मिलते हैं। इनका समय एक हजार ई० पू० माना जाता है। ये दोनों महाकाव्य अधिक दिन तक मौखिक रूप में रहने के कारण अपने मूल रूप में आज नहीं मिलते फिर भी उनसे ग्रीक के पुराने रूप का कुछ पता तो चल ही जाता है। ग्रीक भाषा बहुत सी बातों में वैदिक संस्कृत से मिलती जुलती है। दोनों ही में संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था। कालान्तर दोनों बलात्मक की ओर आने लगीं। दोनों ही में शब्दों के रूप बहुत अधिक हैं। हाँ संस्कृत में संज्ञा और सर्वनामों के रूप अधिक हैं तो ग्रीक में अव्यय और क्रिया आदि के। संस्कृत के परस्मै पद और आत्मने पद की भाँति ग्रीक में एक्टिव और मिडिल वायस होते थे। द्विवचन दोनों में था।

ग्रीक में संस्कृत की अपेक्षा स्वर अधिक हैं और संस्कृत में ग्रीक की अपेक्षा व्यंजन।

ग्रीक ने भारोपीय मूल भाषा के स्वरों को बहुत सुरक्षित रखा है। पर व्यंजनों में परिवर्तन भी अधिक हो गया है।

विभाजन



जब ग्रीस उन्नति पर था होमरिक ग्रीक का विकसित रूप साहित्यिक हुआ। उसकी बोलियाँ भी उसी समय अलग-अलग हो गईं।

एट्टिक साहित्य का लगभग चार सौ ई० पू० में बोलबाला था। अतः यही भाषा वहाँ की राज्य भाषा हुई। इसका नाम कोइने था। यह शुद्ध एट्टिक से धीरे-धीरे कुछ दूर पड़ गई और एशिया माइनर तक इसका

प्रचार हुआ। उधर मिस्र आदि में भी यह पहुँची। सभी जगह की स्थानीय विशेषताएँ विकसित होने लगीं। बिजैन्टाइन के समय में कोइने भाषा का रूप और भी विकसित हो गया। उसमें विदेशी शब्द अधिक आ गए, उस विकसित या बिगड़ी अवस्था से १४५० ई० के बाद वर्तमान ग्रीक का विकास हुआ। वर्तमान ग्रीक ग्रीस तुर्की, ग्रीक, क्रीट, साइप्रस आदि में बोली जाती है। कोइने भाषा (एटि्टक) ही प्लेटो, अरस्तु तथा सिकंदर आदि की भाषा थी। नव-विधान (New Testament) इसी में लिखा गया था।

डोरिक स्पार्टा के निवासियों की भाषा थी। बाद में इसका इटली आदि में भी विस्तार हुआ। पिन्डर कवि के गीत और कुछ खंडकाव्य इसके मुख्य साहित्य हैं।

[५] हिट्टाइट

एशिया माइनर के बोगाजकोई की खुदाई में कुछ कीलाक्षर लेख १९वीं सदी उत्तरार्द्ध में मिले हैं जिनसे हिट्टाइट भाषा का पता चला है। इसे लगभग डेढ़ हजार वर्ष ई० पू० का माना गया है। सइस आदि कुछ विद्वान् इसे सेमिटिक परिवार की मानते थे पर अध्यापक ह्राज्नी ने उसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की सिद्ध किया है। अब भी कुछ लोग इसे अनिश्चित परिवार की मानते हैं और भारोपीय शब्दों को उधार लिया गया बतलाते हैं। इसी कारण पीछे के पृष्ठों में अनिश्चित समुदाय में हम लोग भी इसे ले चुके हैं।

हिट्टाइट की विभक्तियाँ तथा सर्वनाम संस्कृत एवं लैटिन से बहुत अंशों में मिलते हैं। क्रिया में भी पर्याप्त साम्य है। कारक रचना भी अधिकांशतः भारोपीय है। समवेत रूप से विचार करने पर यह लैटिन के अधिक निकट जान पड़ती है। तुलना के लिए कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

हिट्टाइट	संस्कृत	लैटिन	
उग (मैं)	×	इगो	
तंत् (वह)	तत्	×	
कुइस (कौन)	कः	क्विस	
कुइद् (क्या)	×	क्विड	
वेटर (पानी)	उदन्	उदुस	अं० वाटर

इसके अतिरिक्त कुछ बातें सेमिटिक परिवार से भी मिलती हैं पर वह

सेमेटिक का प्रभाव मात्र है। भारोपीय मूल भाषा पर इसके पता चलने से बहुत प्रकाश पड़ा है।

[६] तोखारी

जर्मन विद्वानों ने बीसवीं सदी के आरंभ में पूर्वीय तुर्किस्तान के तुरफ़ान प्रदेश में कुछ ऐसे ग्रंथ प्राप्त किये जो भारतीय लिपि में थे। अध्ययन करने पर ग्रंथों की भाषा भारोपीय परिवार की सिद्ध हुई। इसी का नाम तोखारी भषा है। समीपता के कारण इस पर यूराल अल्टाई परिवार का बहुत प्रभाव पड़ा है। यह शक जाति के तोखारी लोगों भाषा थी। ग्रीयर्सन के अनुसार महाभारत एवं ग्रीक पुस्तकों में क्रम से तुषाराः तथा तोखारोई जाति का नाम है। संभव है यह उन्हीं लोगों की भाषा हो। ये लोग दूसरी सदी ई० पू० मध्यएशिया के शासक थे।

तोखारी भाषा में स्वरों की जटिलता कम है। सन्धिनियम कुछ संस्कृत से हैं। संख्याओं के नाम एवं सर्वनाम भी भारोपीय परिवार से साम्य रखते हैं। विभक्तियाँ भी उसी रूप में आठ हैं। शब्द भंडार संस्कृत के समीप है।

संस्कृत	तोखारी
पितृ	पाचर्
मातृ	माचर्
वीर	विर्

सौ के लिए तोखारी शब्द कन्ध है इसी कारण यह केन्टुभ वर्ग की भाषा मानी गई है।

(ख) सतम् वर्ग

इस वर्ग में निम्न शाखाएँ हैं—

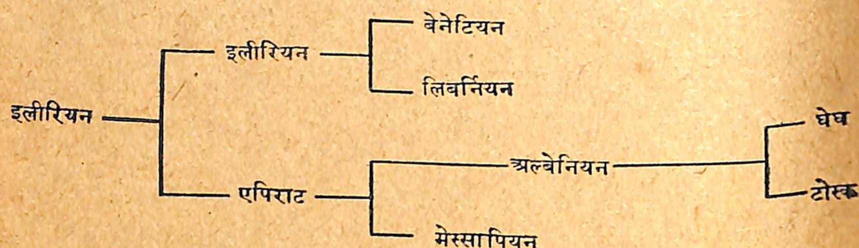
सतम्—
- —इलीरियन
- —बाल्टिक
- —स्लैवोनिक
- —आर्मेनियन
- —आर्य

[१] इलीरियन

इस शाखा के बोलने वाले एड्रिआटिक सागर के किनारे कारिन्थियन

की खाड़ी से इटली के दक्षिण पूर्वी भाग तक फैले थे। इसके प्राचीन रूप का कोई भी आज अवशेष नहीं है।

विभाजन



विभाजन में दिखाई हुई भाषाओं में से केवल अल्बेनियन के विषय में सामग्री है। शेष सभी बहुत पहले समाप्त हो गईं थीं। इसी कारण इस शाखा को अल्बेनियन भी कहते हैं।

अल्बेनियन के बोलने वाले अल्बेनिया तथा कुछ ग्रीस में हैं। इसके अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं, जिनके घेघ और टोस्क दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। घेघ का क्षेत्र उत्तर में और टोस्क का दक्षिण में है।

अल्बेनियन साहित्य लगभग १७वीं सदी से आरंभ होता है। इसके पूर्व के किसी भी प्रकार के लेख इस भाषा के नहीं मिलते अतः इसका ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया जा सकता। इधर इसने तुर्की, स्लावोनिक, लैटिन और ग्रीक आदि भाषाओं के शब्दों को बहुत लिया है। अब यह भी ठीक से पता चलाना असंभव सा है कि इसके अपने शब्द कितने हैं। इसका कारण यह है कि ध्वनि परिवर्तन के कारण बहुत घाल-मेल हो गया है।

बहुत दिनों तक विद्वान इसे स्वतंत्र शाखा मानने को तैयार नहीं थे पर जब किसी से भी यह पूर्णतः न मिल सकी तो अलग मानना ही पड़ा।

[२] बाल्टिक

इसे लेटि्टक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ आती हैं। प्रथम प्राचीन प्रशन है जो सतरहवीं सदी में ही समाप्त हो गई। इसका क्षेत्र बाल्टिक तट पर विश्चुला और नीमेन नदियों के बीच में प्रस्थित प्रशिया प्रदेश था। ।१५वीं सदी के आरंभ तथा १६वीं सदी की कुछ पुस्तकें इसमें लिखी मिली हैं। दूसरी भाषा लिथुअनियन है। इसका क्षेत्र प्रशा के उत्तर पूरब में है। इसका साहित्य भी १६वीं सदी के बाद से आरंभ होता है और

इसकी पुरानी प्रसिद्ध पुस्तक महाकवि दोनेलेटिस की 'सोज़न्स' है जो १७५० के लगभग लिखी गई थी। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि से यह भाषा बड़ी ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है और इसी कारण आज भी यह मूल भारोपीय भाषा से अधिक दूर नहीं है। इसमें एस्टि (संस्कृत अस्ति) एवं जोवाः जैसे रूप अब भी हैं। वैदिक संस्कृत की भाँति संगीतात्मकता और द्विवचन भी अभी इसमें हैं। इसकी तीसरी भाषा लेट्टिश है। यह रूस के पश्चिमी भाग में लैट्विया राज्य की भाषा है। यह लिथुआनियन से अधिक विकसित है। इसमें भी साहित्य का आरंभ १६वीं सदी से हुआ है।

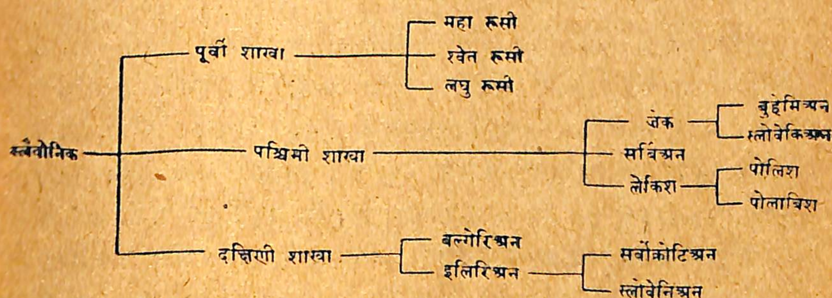
विभाजन

बाल्टिक
- —प्राचीन प्रशन
- —लिथुआनियन
- —लैट्टिश

[३] स्लैवोनिक

यह बहुत विस्तृत वर्ग है। इसमें पूर्वी यूरोप का एक बड़ा भाग आ जाता है। दूसरी-तीसरी सदी के लगभग तक इसके बोलने वाले एक सीमित क्षेत्र में थे, पर पाँचवी सदी के बाद से ये लोग इधर-उधर फैलने लगे, और नवीं सदी तक रूस, पोलैंड, गलसिआ, आस्ट्रिया का एक बड़ा भाग, बोहेमिया, मोराविआ, सर्विया, बलगेरिया, तथा स्लावोनिआ आदि इनके कब्जे में आ गया। आज भी यह क्षेत्र उनका है। नवीं सदी तक के लेख इस में मिलते हैं।

विभाजन



पूर्वी शाखा का १२वीं सदी तक लगभग एक ही रूप मिलता है। इसमें साहित्य ११वीं सदी से भी पूर्व का है। महा रूसी ही रूस की प्रधान भाषा

है। १८वीं सदी के पूर्व तक यह बहुत अस्तव्यस्त थी। उसके बाद इसे टकसाली रूप मिला। यह मूलतः मास्को की एक बोली मात्र है। श्वेत रूसी रूस के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। लघु रूसी का दूसरा नाम रुथेनियन भी है। इसके बोलने वाले कुछ आस्ट्रिया के गलीसिया प्रान्त में भी हैं। आधुनिक साहित्य प्रमुखतः महा रूसी में ही है। रूसी क्रांति के पश्चात् से इसका भंडार बहुत ही पूर्ण हो गया है। पश्चिमी शाखा की प्रधान भाषा जेक है। यह प्रधानतः बोहेमिआ की भाषा है अतः इसका नाम बोहेमिअन भी है। इसके लेख ६वीं सदी तक के हैं, पर नियमित साहित्य १२वीं सदी से मिलता है। १५वीं सदी के हुस्साइट युद्ध के समय में साहित्य की उन्नति खूब हुई। इधर डेढ़ सौ वर्षों से फिर इसका साहित्य बढ़ रहा है। स्लोवेकिअन इसी की एक बोली है जो उत्तरी हंग्री, तथा प्रेसबर्ग एवं कारपेथिअन्स के मध्य में बोली जाती है।

जेक की बहिन सर्बिअन का नाम 'सारोबिअन' एवं 'वेंडिक' भी है। यह धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। प्रशा और सैक्सोनी में इसके कुछ ही बोलने वाले अब शेष हैं। इसका प्राचीनतम रूप १६वीं सदी की एक प्रार्थना-पुस्तक में मिलता है।

पोलिश भाषा का मूल क्षेत्र अब पोलैंड है। जर्मनी में भी इसका प्रचार कभी था पर फिर निकाल दी गई। इसमें कुछ प्रार्थनाओं के अनुवाद १३वीं सदी के मिलते हैं। वही इसका प्राचीनतम साहित्य है। निम्न एब के पास के गुलामों की भाषा पोलाबिश पोलिश की ही बहन थी। पोलाबिश का लोप बहुत पहले हो गया। इसमें साहित्य आदि कुछ नहीं मिलता।

दक्षिणी शाखा की प्रसिद्ध भाषा बल्गेरिअन है। इसमें पुराने रूप को प्राचीन बल्गेरिअन या चर्च स्लैवोनिक कहा जाता है। इसमें बाइबिल का अनुवाद ९ वीं सदी के मध्य का मिलता है। इसमें द्विवचन का प्रयोग भी है और भाषा अधिक वियोगात्मक नहीं है। वर्तमान बल्गेरियन पूर्णतः वियोगात्मक हो गई है। यह अपने प्राचीन रूप से बहुत दूर चली आई है। जहाँ तक शब्दसमूह का प्रश्न है इसने स्वतंत्रता के साथ ग्रीक अल्बेनियन, रूमानियन तथा तुर्की शब्दों को अपनाया है। इसका प्रधान क्षेत्र बल्गेरिया के अतिरिक्त यूरोपीय तुर्की, ग्रीक आदि भी हैं। संभवतः इसी कारण इसके शब्दसमूह में विदेशी तत्व अधिक आ गए हैं।

सर्वोक्रोटिअन भाषा के बोलने वाले सर्विआ, दक्षिणी से हंग्री, स्लैवोनिया आदि कई स्थानों पर है। इसके अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका महत्व अत्यधिक है। इसके १२वीं सदी तक के कुछ लेख मिलते हैं पर पुराना साहित्य नहीं है। स्लोवेनिअन का क्षेत्र कार्निओला, दक्षिणी कारिन्थिया एवं स्टीरिया में है। इसके प्राचीन लेख १०वीं सदी तक के मिलते हैं।

[४] आर्मेनिअन

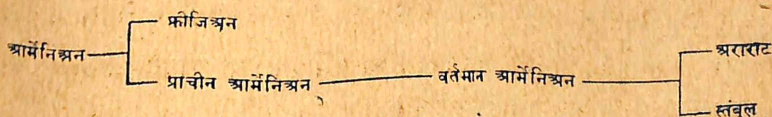
इसे कुछ लोग आर्य परिवार की ईरानी भाषा के अंतर्गत रखना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इसका शब्दसमूह ईरानी शब्दों से भरा है, पर ये केवल उधार लिए हुए शब्द हैं। इसकी योगात्मकता तथा ध्वनि आदि स्पष्टतः ईरानी से भिन्न हैं अतः इसे भारोपीय परिवार की एक स्वतंत्र शाखा मानना ही अधिक उपयुक्त है।

इसके कीलाक्षर-लेख मिले हैं, जिससे इसके प्राचीन साहित्य का अनुमान होता है। यह साहित्य धार्मिक था जिसे ईसाइयों ने ४थी सदी के लगभग नष्ट कर दिया। ईसाई साहित्य ४ थी से ११वीं सदी तक रचा गया। ६वीं सदी का एक इंजील का इसमें अनुवाद है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ के मूल साहित्य की भी हैं। इसका नवीन रूप प्रत्येक दृष्टि से प्राचीन रूप से बहुत दूर चला आया है, पर पुराने रूप का प्रयोग धार्मिक कार्यों में अब भी संस्कृत और लैटिन की भाँति होता है।

५वीं सदी में ईरान के युवराज आर्मेनिया के राजा थे अतः ईरानी शब्द इस भाषा में अधिक आ गए। तुर्की और अरबी शब्द भी इसमें काफी हैं। इस प्रकार आर्य और अनार्य दोनों ही प्रभाव इस पर पड़े हैं।

इसके व्यंजन आदि संस्कृत से मिलते हैं। जैसे फारसी दह और संस्कृत दशन् की भाँति १० के लिये इसमें 'तस्न' शब्द है। दूसरी ओर ह्रस्व स्वर ए और ओ आदि ग्रीक की भाँति हैं अतः इसे आर्य और ग्रीक के बीच में कहा जाता है।

विभाजन



यूरोप और एशिया के सरहद पर बोली जाने वाली प्राचीन भाषा फ्रीजि-अन[1] भी इसी के अंतर्गत मानी जाती है। वर्तमान आर्मेनियन के प्रधान दो रूप हैं। एक का प्रयोग एशिया में होता है और दूसरे का यूरोप में। इनका क्षेत्र कुस्तुनतुनिया तथा कृष्ण सागर के पास है। एशिवा वाली बोली का नाम अराराट है और यूरोप में बोली जाने वाली का स्तंबुल। स्तंबुल में साहित्य रचना भी होती है, और यही इसकी प्रधान बोली है।

[५] आर्य

भारोपीय परिवार की आर्य शाखा बहुत ही महत्वपूर्ण है। आर्य परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में मिलता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य किसी भी भाषा में नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ ढाई हजार ई० पू० तक लखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। पारसियों का धर्मग्रंथ 'ज़ेन्द अवेस्ता' भी लगभग ७वीं सदी ई० पू० का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने अनुपम सामग्री दी है और पश्चिम में भाषा विज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थतः प्रारंभ भी हुआ है जब से उन लोगों को इस आर्य शाखा के मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसे हम भाषा-विज्ञान के इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से देखेंगे।

इस शाखा के आर्य अन्य आर्यों का साथ छोड़ने के बाद जब आगे बढ़े तो कुछ लोग ईरान में रुक गये और कुछ लोग और बढ़कर भारतवर्ष में आ बसे। इस प्रकार इसकी भारतीय और ईरानी दो प्रमुख शाखाएँ हुईं। बहुत लोगों ने इन दोनों को भारोपीय की अलग-अलग शाखा माना है पर ऐसा मानना वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि ये दोनों बहुत-सी बातों में साम्य रखती हैं। यहाँ उन समान लक्षणों का सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भारतीय और ईरानी में समानता

(१) जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं भारोपीय मूल भाषा में तीन

[1] यह Phrygian है जो हालैंड की जर्मेनिक या ट्यूटानिक शाखा की फ्रीजिअन (Frisiam) से भिन्न है।

ह्रस्व मूल स्वर 'अ', 'एँ', 'ओ', तथा तीन दीर्घ मूल स्वर 'आ' 'ए' और 'ओ', कुल छः थे, पर भारतीय तथा ईरानी दोनों ही में एक ह्रस्व मूल स्वर 'अ' और एक दीर्घ मूल स्वर-'आ', ये दो ही छः के स्थान पर शेष रह गये।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*नेभास	नभस्	नबह
*ओस्थ	अस्थि	अस्ति
*याग	यज	यज़
*एपो	आपः	अप

(२) दोनों में भारोपीय के उदासीन स्वर ə के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*पəते	पिता	पिता

(३) दोनों ही में मूल भारोपीय 'र' (ऋ) का 'ल' (लृ) और 'ल' (लृ) का र (ऋ) होता देखा जाता है। संभवतः र और ल ध्वनि में उस समय भेद नहीं था। केन्टुम वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं।

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
	रुन्करे	लुंचामि	
लुके		वृकः	वह्रको
	लिंगो	रेह्मि	

(४) इस शाखा में इ, य, उ, व् क् और स् के पश्चात् आने वाला 'स' व्यंजन 'श' हो गया और बाद में संस्कृति में वह ष हो गया।

भारोपीय	अवेस्ता	संस्कृत
*स्थिस्थामि	हिश्तौति	तिष्ठामि
*जिउस्टर	जओशो	जोष्ट

(५) मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कंठ्य क् (क्य) ख्) ख्य) ग् (ग्य) घ् (घ्य) इस शाखा में क्रम से श् श्ह् ज् और ज्ह् हो गये। कालान्तर भारत में ये श् ज् और ह् हो गए और ईरान में स् ज् ज्ह्।

(६) मूल भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य क् (क्व) ख् (ख्व) ग् (ग्व) घ् (घ्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख ग घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए स्वर था तो क्रम से च् छ ज् झ हो गए।

(७) दोनों में स्वरांत संज्ञाओं को बहुवचन बनाने के लिये षष्ठी में '—नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

(८) दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष में '—तु' और '—न्तु' प्रत्ययें पाई जाती हैं।

(९) बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक से हैं और दोनों में उनका अर्थ भी एक ही है—

संस्कृत	अवेस्ता	संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः	असुर	अहुर
अनु	अनु	पुत्र	पुथ्र्
अन्य	अन्य	सप्त	हप्त
विश्व	विस्प	वसिष्ठ	वहिश्त
ददामि	ददामि	असि	अहि

(१०) वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतनी समीप हैं कि एक भाषा के बहुत से वाक्य केवल साधारण परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाए जा सकते हैं—

संस्कृत अवेस्ता

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः = यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् बन्दएँता मश्यो।

शूरं धामसु शविष्ठम् — सूरं दामोहू शविस्तम्।

भारतीय और ईरानी में अंतर

ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अंतर भी हैं। यदि ऐसा न होता तो दोनों अलग अलग क्यों होतीं। यहाँ कुछ प्रमुख अंतरों की ओर संकेत किया जा सकता है।

(१) चवर्ग के केवल दो व्यंजन च् और ज् ईरानी में हैं जबकि भारतीय में पाँच (च् छ् ज् झ् ञ्)।

(२) ईरानी में टवर्ग का एकांत अभाव है।

(३) पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ण ईरानी में नहीं हैं।

(४) पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है।

(५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ ८ स्वर ऐसे हैं जिनके स्थान पर भारतीय में अ या आ का प्रयोग होता है।

(६) आदि स्वरागम और अपिनिहिति भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। भरति—बरहति।

(७) ईरानी शब्दों के आरम्भ में भारतीय शब्दों में पाया जाने वाला 'स्' वहाँ 'ह्' हो जाता है। सप्त—हप्त।

(८) घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ईरानी में अल्प प्राण ग्, द्, ब, हो जाते हैं। भूमि—बूमि।

(९) अघोष अल्पप्राण क् त् प् वहाँ संघर्षी ख़, थ़, फ़, हो जाते हैं। क्रतुः—ख़तुश, सत्यः—हइथ्यो।

(१०) ऋ का ईरानी में अर, र, या अ हो जाता है।

ध्वनि संबंधी इन अंतरों के अतिरिक्त व्याकरण संबंधी अंतर बहुत से हैं पर उनकी गहराई में उतरना पुस्तक का विषय नहीं है।

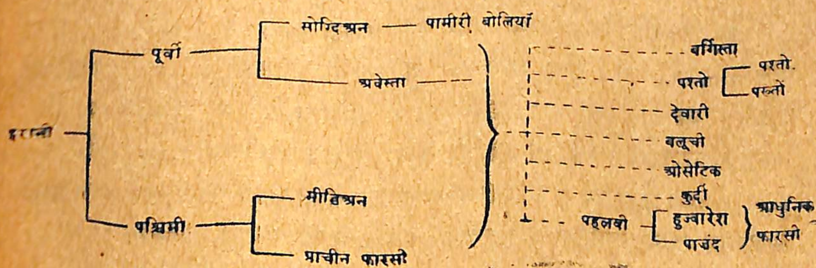
विभाजन



[१] ईरानी

ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले आरम्भ हो गई थी पर आज उन प्राचीन निधियों का कुछ भी पता नहीं है, अतः वहाँ की भाषा का शृंखला-बद्ध इतिहास नहीं बतलाया जा सकता। इसके पता न चलने का कारण यह है कि ग्रीक और अरब के विजेताओं ने उसे जला डाला। अब वहाँ का प्राचीनतम साहित्य पारसी धर्मग्रंथ अवेस्ता में मिलता है। इसकी भाषा ऋग्वेद से बहुत मिलती है। इसके अतिरिक्त कुछ पुराने शिलालेख भी मिले हैं।

विभाजन



[इसकी आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों के मूल का स्पष्ट पता नहीं है अतः अनिश्चित अंश बिन्दु से दिखाया गया है।]

पूर्वी शाखा की साग्दिअन भाषा का पता इसी सदी में लगा हैं। ईसवी सन् के आरम्भ की तथा कुछ और बाद की ईसाई और बौद्ध धर्म की कुछ पुस्तकें इस भाषा में मिली हैं। यह सग्दियाना की भाषा थी और कभी मंचूरिया तक फैली थी। ऐसा अनुमान है कि पामीरी आदि बोलियाँ इसी की बेटी हैं। यह हिन्दूकुश पर्वत पर एवं पामीर की तराई में प्रचलित है। पामीरी की प्रसिद्ध बोली ग़लचा है। साग्दिअन भाषा का समय अवेस्ता के बहुत बाद माना गया है।

अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा हो सकने के कारण प्राचीन बैक्ट्रियन भी कही जाती है। कुछ लोग भूल से इसे ज़िन्द भी कहते हैं। इसका यह नाम इसकी प्राचीनतम पुस्तक अवेस्ता (७वीं सदी ई० पू०) के कारण पड़ा है। अवेस्ता का अर्थ शास्त्र है, जिसमें 'गाथा' या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति हैं। इसमें यज़्न (यज्ञ) विस्पेरद (वलि सम्बन्धी कर्मकांड) तथा वेन्दिदाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी हैं। कुछ दिन बाद जब अवेस्ता वहाँ की जनभाषा नहीं रह गई और मध्यकालीन फ़ारसी या पहलवी का प्रचार हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी में की गई। इस टीका को ज़ेन्द कहते हैं। ज़ेन्द का अर्थ ही टीका होता है। अब दोनों शब्दों (ज़ेन्द और अवेस्ता) को मिलाकर लोग उस पुस्तक को तथा कभी कभी भाषा को ज़ेन्दावेस्ता या ज़िन्दावेस्ता कहते हैं।

ऊपर भारतीय से साम्य और अंतर दिखलाने में अवेस्ता की प्रधान बातों पर विचार हो चुका है।

मीडिअन भाषा के संबंध में केवल इसका नाम और एक शब्द स्पाक (कुत्ता) ज्ञात है। यह पश्चिमी ईरान में प्रचलित थी।

प्राचीन ईरान के पश्चिमी भाग को फ़ारस कहते थे। वहाँ की भाषा प्राचीन फ़ारसी थी। कुछ लोग इसे अवेस्ता से निकली हुई समझते हैं पर असल में यह बात नहीं है। प्राचीनता में प्राचीन फारसी अवेस्ता की यदि बिल्कुल समकालीन नहीं तो कुछ ही बाद की है। डेरिअस प्रथम (ई० पू० ५२१—४८५) आदि एकेमेनियन राजाओं के खुदवाये कीलाक्षर अभिलेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। इसका अलग साहित्य नहीं मिलता पर अभि-

लेखों में उपलब्ध लगभग ४०० शब्दों के आधार पर अध्ययन अवश्य हुआ है। यह बहुत सी बातों में अवेस्ता से मिलती है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्णमाला अवेस्ता की अपेक्षा अधिक सरल है। इस माने में वह संस्कृत के निकट है—

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
येज़ी	यदी	यदि

अवेस्ता के ज् के स्थान पर प्राचीन फ़ारसी में द् हो जाता है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत में ह् मिलता है।

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
अज़ेम	अदम	अहम

पुरानी फ़ारसी के पदों के अंत में व्यंजन प्रायः नहीं मिलते।

संस्कृत	अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी
अभरत्	अबरत्	अबर

प्राचीन फ़ारसी उस प्रदेश की प्रमुख भाषा थी। पर इसके अतिरिक्त जैबुली हिराती आदि बोलियाँ भी थीं। जिनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

प्राचीन फारसी का विकसित रूप मध्यकालीन फारसी या पहलवी कहलाता है। इसका प्राचीनतम रूप तीसरी सदी ई०पू०के कुछ सिक्कों में मिलता है। प्राचीन फारसी और मध्यकालीन के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। पहलवी का नियमित साहित्य तीसरी सदी से मिलने लगता है।

पहलवी के दो रूप थे। एक का नाम हु.ज्वारेश था, जिसमें सेमिटिक परिवार के शब्दों का आधिक्य है। इसकी लिपि भी सेमिटिक है। सस्सानिद राजवंश (२२६ ई० से ६५२ ई०) की राजभाषा यही थी। अवेस्ता का कुछ अनुवाद भी इस भाषा में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी पारसियों का धार्मिक-साहित्य इसमें है। इसके व्याकरण पर भी यथेष्ट सेमिटिक प्रभाव है।

पहलवी का दूसरा रूप पारसी या पा.जंद है। इसमें सेमिटिक प्रभाव नहीं है। इसका प्रचार पूर्वीय प्रदेशों में था। भारत में बसने वाले पारसियों

की भाषा यही है। यही कारण है कि गुजराती को पा.जंद ने बहुत प्रभावित किया है।

जिस प्रकार अवेस्ता और प्राचीन: फारसी संस्कृत से मिलती-जुलती हैं उसी प्रकार मध्यकालीन फारसी अपभ्रंश से।

आधुनिक फारसी हिन्दी की भाँति वियोगात्मक हो गई है। इसका आरंभिक ग्रंथ महाकवि फिरदोशी (९४० से १०२०) का 'शाहनामा' नामक राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसकी भाषा में अरबी के शब्द अधिक नहीं हैं पर उसके बाद आधुनिक फारसी अरबी से लदने लगी। यह मध्यकालीन की अपेक्षा अधिक सरल और मधुर है। ध्वनि परिवर्तन भी इधर विशेष हुआ है।

अब कुछ दिनों से राष्ट्रीयता की लहर यहाँ भी चली है और अरबी शब्दों को तुर्की की भाँति लोग बहिष्कृत कर रहे हैं। उन हटाए शब्दों के स्थान पर आर्य परिवार के शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है। इसी दृष्टिकोण से अफ़गानिस्तान में स्कूलों में संस्कृत एक अनिवार्य विषय होने जा रहा है।

आधुनिक फ़ारसी की बहुत सी प्रादेशिक बोलियाँ भी हैं। विद्वान इस संबंध में बहुत निश्चित नहीं हैं कि कौन बोलियाँ सीधे अवेस्ता से निकली हैं और कौन फारसी से। टकर महोदय तो आधुनिक फारसी और पहलवी के विषय में भी शंका करते हैं। उनका कहना है कि अवेस्ता और प्राचीन फारसी के बाद की सभी ईरानी भाषाएँ एवं बोलियाँ उस समय की बोलियों से विकसित हुई हैं। आज उनकी माँ के विषय में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ प्रधान बोलियों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। ये बोलियाँ इधर भारत से लेकर उधर कैस्पियन सागर तक फैली हैं। इनमें कुछ तो प्रत्येक बात में इतनी दूर हो गई हैं कि पहिचानी भी नहीं जातीं।

ओसेटिक बोली काकेशस के एक छोटे प्रदेश में बोली जाती है। इसकी ध्वनियों पर जार्जियन का अधिक प्रभाव पड़ा है। आस पास की अन्य अनार्य भाषाओं की भी स्पष्ट छाप इस पर है।

कुर्दी या कुर्दिश बोली आधुनिक फारसी के समीप है। इसमें एक बड़ी विशेषता यह है कि शब्दों के रूप छोटे हो गए हैं। उदाहरणार्थ आधुनिक फारसी का 'बिरादर' शब्द इसमें 'बेरा' हो गया है। इसी प्रकार 'सिपेद' (सफेद) का 'स्पी' मिलता है।

बिलुचिस्तान की बिलोची भाषा भी आधुनिक फारसी के निकट है। अभी तक यह भाषा कुछ संयोगात्मक है। साहित्य के नाम पर इसमें कुछ ग्राम-कथाएँ हैं। इसमें संघर्षी वर्ण अधिकतर स्पर्श हो गए हैं।

पश्तो का नाम अफ़गानी भी है। यह अफ़गान की भाषा है। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्यरचना, तथा बल आदि का प्रभाव पड़ा है। अब यह भारतीय और ईरानी की एक मध्यवर्ती भाषा सी हो गई है। ईरानी की उपर्युक्त सभी बोलियाँ या भाषाएँ साहित्य से लगभग शून्य हैं, पर पश्तो में १६वीं सदी के बाद से कुछ साहित्य-रचना हुई है। इसमें ग्राम-साहित्य भी काफी है। कुछ लोग पश्तो को सीधे अवेस्ता की संतान मानते हैं पर यह निश्चित मत नहीं हो सका है। पश्तो के ही एक रूप को पख्तो कहते हैं जो पश्चिमोत्तर अफ़गानिस्तान में बोली जाती है। दोनों में उच्चारण-भेद ही प्रधान है। पश्तान या पख्तान से ही हिन्दी का शब्द पठान बना है।

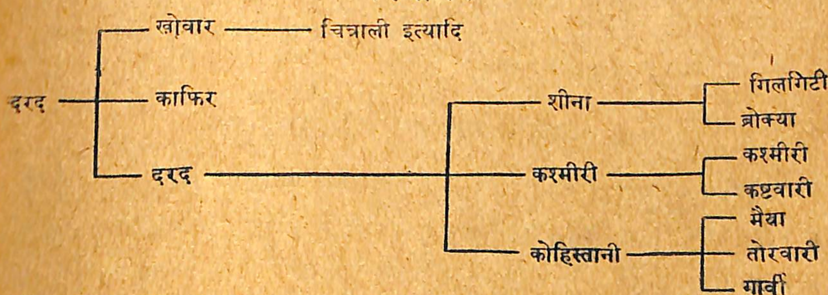
बिलुचिस्तान में ही एक भाषा देवारी है। अफ़गानिस्तान के केन्द्र में एवं सीमा प्रान्त पर ओरमुरी या वर्गिस्तान बोली का क्षेत्र है।

कुछ और भी इसमें बोलियाँ हैं पर उनका महत्व नहीं है।

(२) दरद[1]

इसका क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में है। कभी इसके बोलने वाले भारत के अन्य भागों में अवश्य थे क्योंकि मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भी ईरानी और भारतीय के बीच में है, पर यदि पश्तो ईरानी की ओर झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। अपने यहाँ इनकी भाषा को अपनी परिवार का समझा गया था और उसे पैशाची प्राकृत की संज्ञा दी गई थी।

विभाजन



[1] यह संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ पर्वत या पहाड़ होता है। संस्कृत साहित्य में कश्मीर के पास के देश के लिए भी 'दरद' का प्रयोग मिलता है।

खोवार का क्षेत्र दर्दिस्तान एवं ईरानी के मध्य में है। इसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमें चित्राली प्रमुख है। चित्राली के पश्चिम में काफिर वर्ग की बोलियाँ हैं। इसमें से किसी में भी साहित्य नहीं है।

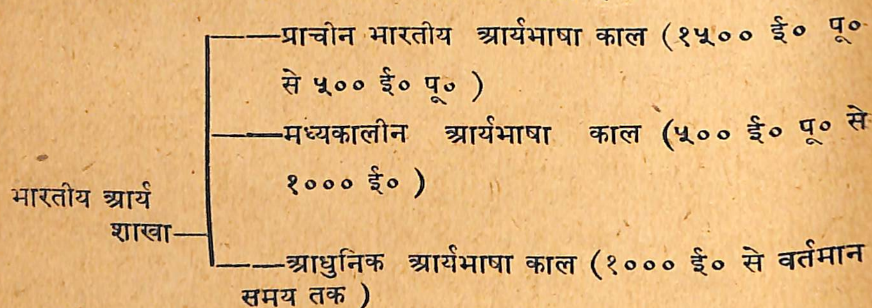
गिलगिट की घाटी में शीना बोली जाती है। यह दरद की प्रतिनिधि भाषा है। इसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं जिनमें गिलगिटी ही मुख्य है।

कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। इसमें १४वीं सदी से साहित्य मिलता है। इसके पूर्व यहाँ संस्कृत में साहित्य रचना होती थी। अब कश्मीरी का साहित्य और भी उन्नत हो गया है। एक आधुनिक कश्मीरी कवि की कविता की तुलना टैगोर ने किसी अपनी कविता से की थी। कश्मीरी की कई बोलियाँ हैं। कुछ बोलियाँ पंजाबी से मिलकर विचित्र हो गई हैं।

इस शाखा की अंतिम भाषा कोहिस्तानी है। कोहिस्तानी बोलने वाले बहुत कम है। मैया, तोरवारी आदि इसकी प्रधान बोलियाँ हैं।

[३] **भारतीय** (यहाँ भारतीय से अर्थ भारतीय और पाकिस्तानीय दोनों ही से हैं।)

आर्य शाखा की यह उपशाखा प्रमुख रूप से भारतवर्ष में है। मोटे तौर पर इसके इतिहास को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।



(क) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल

ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में इसका स्वरूप आज भी कुछ-कुछ सुरक्षित है। इस प्राचीनतम भाग को संहिता कहते हैं। वेद के शेष अंश ब्राह्मण एवं उपनिषद आदि में भाषा कुछ आगे बढ़ गई है। सूत्रकाल में और भी इसका विकास हुआ और साधारण जनता वेद आदि को समझने में अपने को असमर्थ पाने लगी। धीरे-धीरे वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक संस्कृत या

संस्कृत का युग भी समाप्त होने लगा। इस प्रकार संस्कृत भाषा बोल-चाल में असंस्कृत होने लगी। इसी को रोकने के लिए पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। संस्कृत नाम सम्भवतः उसी समय का है। अष्टध्यायी के कारण संस्कृत का स्वरूप निश्चित तो हुआ और लगभग आज तक वही है पर जन-भाषा का रुकना असम्भव था। बुद्ध के समय तक भौगोलिक दूरी के कारण संस्कृत का प्राकृतों में विकास आरम्भ ही नहीं हो गया था अपितु वे अपना अलग स्वरूप भी बना चुकी थी।

प्राचीन काल में हो 'प्राचीन संस्कृत' (Classical Sanskrit) भी आती है। यह कृत्रिम या साहित्यिक भाषा थी। जीवित भाषा प्राकृत का रूप धारण कर चुकी थो फिर भी यह साहित्य क्षेत्र में अबाध गति से कार्य करती रही। यहाँ की अनार्य भाषाओं पर तथा प्राकृतों पर इसका काफी प्रभाव पड़ा पर दूसरी ओर यह भी उनसे प्रभावित हुई। अनार्यों के कितने ही शब्द संस्कृत को अपनाने पड़े।

संस्कृत के महाभारत, रामायण, अभिज्ञान शाकुंतल आदि ग्रंथरत्न विश्वसाहित्य में अपना स्थान रखते हैं और संस्कृत साहित्य यदि संसार का सबसे धनी साहित्य नहीं तो कम से कम धनी साहित्यों में से एक अवश्य है।

आधुनिक काल में भी विशेष अवसरों पर संस्कृत का प्रयोग मंत्रों आदि के रूप में होता है। कुछ समाचार पत्र भी संस्कृत में अभी निकल रहे हैं। भारत की आधुनिक भाषाएँ आवश्यकता पड़ने पर नए शब्द संस्कृत से ही लेती हैं या उनके आधार पर गढ़ लेती हैं।

भाषा का स्वरूप

अंत में प्राचीन काल की भाषा के स्वरूप पर दृष्टि दौड़ा लेना ठीक होगा। मूल भारोपीय भाषा की तुलना में इसकी निम्नांकित विशेषताएँ महत्वपूर्ण हैं।

(१) स्वरों की संख्या कम हो गई।

(२) लृ का प्रयोग बहुत ही सीमित हो गया।

(३) चवर्ग और टवर्ग ध्वनियों का विकास हुआ।

(४) तीन कवर्ग के स्थान पर एक ही कवर्ग रह गया।

(५) स्पर्शों में प्रत्येक वर्ग में एक एक अनुनासिक जोड़ दिए गए।

(६) उदासीन स्वर भी लुप्त हो गया। उसके स्थान पर 'इ' का प्रयोग होने लगा।

(७) श् और ष् दो नए ऊष्म आए।

(८) ह् ध्वनि भी प्रयुक्त होने लगी।

इसके अतिरिक्त कुछ और बातों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है जो बाद की आर्य भाषाओं में नहीं पाई जातीं।

(१) ऐ और औ का उच्चारण क्रम से 'आइ' और 'आउ' था।

(२) शब्दों में व्यंजन ज्यों के त्यों थे। उनका लोप नहीं हो रहा था। (मध्य काल में हम देखेंगे कि यह लोप की प्रवृत्ति आ गई थी)।

(३) शब्दों में धातु का अर्थ अब तक सुरक्षित था। (बाद की लौकिक संस्कृत में अर्थ परिवर्तन कुछ कुछ आरंभ हो रहा था।)

(४) स्वाराघात पूर्णतः संगीतात्मक था पर धीरे-धीरे वह भी समाप्ति की ओर बढ़ रहा था।

(५) ३ लिंग, ३ बचन और ८ कारक थे।

(६) रूप-रचना जटिल और प्राचीन काल में कुछ अनियमित थी। लौकिक संस्कृत में ये दोनों बातें कुछ कम अवश्य हो गई थीं।

(७) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित नहीं था। वह कहीं भी रखा जा सकता था।

(८) उपसर्ग मूल शब्द से अलग हटा कर भी वाक्य में कहीं रखे जा सकते थे।

(ब) मध्यकालीन आर्यभाषा काल

ऊपर हम कह चुके हैं कि बहुत पहले जन-भाषा संस्कृत से आगे चली आई थी। यों इस काल का आरम्भ ५०० ई० पू० से माना जाता है पर यह एक समझने के लिए माना हुआ समय मात्र है।

प्राचीन काल की भाषा की तुलना में इस काल की भाषा बहुत सरल हो गई। रूपों की अधिकता कम हो गई। ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन भी महत्वपूर्ण हुए। इस काल को हम लोग सुविधा के लिए तीन भागों में बाँट सकते हैं।

मध्यकाल—
- —प्रथम काल (५०० ई० पू० से १ ई० पू०)
- —द्वितीय काल (१ ई० पू० से ५०० ई०)
- —तृतीय काल (५०० ई० से १००० ई०)

(१) प्रथम काल

इसकाल की प्रतिनिधि भाषा पाली और महाराज अशोक की प्राकृत है जिसका नमूना अशोक की धर्मलिपियों में एवं पाली ग्रंथों में मिलता है। पाली उस काल की साहित्यिक भाषा थी। विन्डिश, गाइगर, राइसडेविड

आदि विद्वान पाली को उस समय के आर्यभारत की राष्ट्रभाषा मानते हैं, और इसे कोसल प्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं। साधारणतया यह अर्धमागधी प्रदेश की बोली मानी जाती है, पर इसकी गठन पर विचार करने पर विन्डिश आदि विद्वानों की बातें ही ठीक ज्ञात होती हैं।

पाली में कथा-साहित्य बहुत है। इसके अतिरिक्त कुछ कोष और व्याकरण आदि भी इस भाषा में हैं। 'धम्मपद' की भाषा भी पाली है जिसे बौद्धधर्म की गीता कहा गया है।

अशोक के शिलालेखों में (जो जौगढ़, गिरनार, धौली, मनसेरा आदि में है) प्रथम काल के दूसरे रूप का दर्शन होता है। इन सभी की भाषा बिल्कुल एक नहीं है। प्रदेशों के अनुकूल उनमें परिवर्तन हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियाँ एक दूसरे से उस समय तक कुछ भिन्न हो चुकी थीं।

भाषा का स्वरूप

(१) प्राचीन काल की 'ऋ', 'लृ', 'ऐ' और 'औ' ध्वनियों का प्रयोग बन्द हो गया।

(२) 'ऐ' और 'औ' के स्थान पर 'ए', 'ओ' का प्रयोग होने लगा।

(३) संयुक्त व्यंजनों में अनुरूपता की प्रवृति पाई जाने लगी। (धर्म—धम्म, पुत्र--पुत्त)

(४) शब्दों में विसर्ग और अंतिम व्यंजन का लोप हो गया।

(५) 'र्' ध्वनि के साथ आने वाली 'तवर्गीय ध्वनियाँ' क्रम से टवर्ग में परिवर्तित होने लगीं। प्रथम—पठम, प्रति—पटि।

(६) 'य्' के स्थान पर 'ज्' (यमुना, जमुना) और 'व्' के स्थान पर 'ब' ध्वनि का प्रयोग होने लगा।

(७) स्, श् और ष् के स्थान पर केवल स् रह गया।

(८) शब्दों में अर्थ परिवर्तन होने लगा।

(९) संगीतात्मक स्वराघात लुप्त हो गया और उसके स्थान पर बलात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगी।

(१०) द्विवचन का प्रयोग समाप्त हो गया।

(११) संज्ञाएँ अधिकतर अकारांत होने लगीं।

(१२) कालों, कारकों, और वाच्यों के रूप अपेक्षाकृत कम हो गए।

(१३) क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

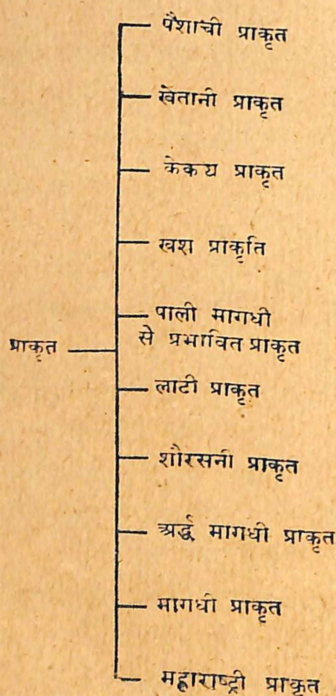
(२) द्वितीय काल

इसके अंतर्गत साहित्यिक प्राकृतें आती हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि अशोक के शिलालेखों की भाषा प्रादेशिकता के अनुसार एक दूसरे से कुछ भिन्न थी। यही भिन्नता धीरे धीरे अधिक हुई और अलग प्राकृतों का विकास हो गया। संस्कृत ग्रंथों में भी विशेषतः नाटकों में इन प्राकृतों का प्रयोगमिलता है। स्त्री एवं नीची श्रेणी के पात्र प्राकृत का ही प्रयोग करते पाए जाते हैं।

यह नित्य प्रति विकसित होने वाली जनभाषा की धारा है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक या कृत्रिम धारा भी आ रही थी। वैदिक संस्कृत से संस्कृत (पाणीनिय) में होते हुए इस द्वितीय काल में वह प्राकृतों के प्रभाव से न बच सकी और दोनों का मिश्रण हुआ। उस मिश्रित रूप को 'गाथा' कहते हैं। इसके बाद यह कृत्रिम धारा और आगे न बढ़ सकी।

इस द्वितीय काल में प्राकृतों के निम्न रूप थे—

विभाजन



पैशाची प्राकृत दरद प्रदेश की थी। यथार्थतः इसका मूल तो दरद भाषा में है, पर भारतीय शाखा से यह इतनी प्रभावित थी कि प्राचीनों ने ही इसे प्राकृत नाम दे दिया था। वर्तमान दरद भाषाएँ जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है इसीसे उद्भूत हैं। पैशाची में साहित्य था जो अब उपलब्ध नहीं है। इसका प्रधान लक्ष्य यह है कि स्वर के बीच में आने वाले स्पर्श घोष अघोष हो गए हैं जैसे गगनं—गकन, मेघ—मेख, राजा—राचा, गांधार—पंजाब एवं सीमांत प्रान्त की संस्कृत से विकसित बोलियों में तीन तीन प्राकृतों का विकास हुआ। इनमें पहली खोटानी है जिसका रूप खोटान के शिलालेखों में मिलता है। यह प्राकृत यहीं समाप्त हो गई। इससे आगे किसी भी भाषा का विकास न हो सका। दूसरी प्राकृत नाम विहिन है। इसके बोलने वाले सिन्ध में थे। इसीसे ब्राचड़ अपभ्रंश का जन्म हुआ। तीसरी केकय है। टक्क और मद्र प्राकृत भी इसी की शाखाएँ थीं इन सभी का क्षेत्र पश्चिमी पंजाब था।

खश प्राकृत नेपाल, गढ़वाल आदि के पास पहाड़ों में प्रचलित थी। पैशाची प्राकत, या दरद का प्रभाव भी काफी था।

पाली भाषा धर्मग्रंथों के साथ सिंहल गई। इस पर मागधी प्रभाव भी पड़ा था। इस द्वितीय काल में इसका भी एक प्राकृत रूप रहा होगा जिसकी कोई अलग संज्ञा नहीं है।

अशोक की गिरनार की बोली की सीधी संतान के कई प्राकृतें थीं। इन पर शौरसेनी का प्रभाव भी था। इनमें आभीरों की आभीरी, उज्जेन की अवंती, आनर्त या सौराष्ट्र (जो आज काठियावाड़ है) की सौराष्ट्री, लाट देश की लाटी, आदि थीं। इन सबको मिलाकर कल्पित नाम नागर प्राकृत रखा जा सकता है।

कुरु, पांचाल, पूर्वीपंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रान्त में शौरसेनी प्राकृत का प्रदेश था। प्राकृतों में सब से पुरानी सामग्री इसी की मिलती है। नाटकों में भी इसी का अधिक प्रयोग मिलता है यह अपने समय की संभवतः राष्ट्रभाषा थी। ईसवी के आरंभ के इसमें अश्वघोषकृत कुछ रूपक मिले हैं। इसका प्रधान लक्षण स्वरों से बीच में संस्कृत—त्—और—थ्—का क्रम से—द्—और—ध—हो जाना है। इसका नाम शूरसेन प्रदेश के नाम पर पड़ा है। पहले शूरसेन राज्य मथुरा के पास था। आज भी इस नाम का गाँव वहाँ है।

शौरसेनी और मागधी के बीच में अर्द्धमागधी का क्षेत्र था। इसका प्रयोग जैन ग्रंथों में हुआ है। अशोक के शिलालेखों की मूल भाषा भी यही है। इसमें र् का कहीं कहीं ल हो गया है और श तथा ष् के स्थान पर स ही मिलता है।

मागध जनपद की भाषा मागधी थी। नाटकों में इसका भी प्रयोग है। इसमें स और ष् के स्थान पर भी श् मिलता है। र् के स्थान पर ल तो सर्वत्र है। 'राजा' बेचारा भी 'लाआ' हो गया है। इसका अपना अलग साहित्य नहीं है। शाकारी, ढक्की, चांडाली और शाबरी आदि प्राकृतें इसी की शाखा कही जाती हैं।

महाराष्ट्र की प्राकृत महाराष्ट्री थी, इसमें दो स्वरां के बीच में आने वाले अल्पप्राण स्पर्श का लोप हो जाता हैं और महा प्राण का 'ह्' मात्र रह गया है। कुछ डॉ० घोष जैसे विद्वान महाराष्ट्री को शौरसेनी की शाखा मात्र मानते है।

भाषा का स्वरूप

(१) दो स्वरों के बीच में आने वाले अधिकतर व्यंजन लुप्त हो गए। (कोकिल—कोइल, शकट—सअढ)

(२) बीच में आने वाले महाप्राण केवल ह रह गए। (पृथिवी—पुहवी)

(३) बीच में रहने वाले—स—भी ह हो गए। (केशरी—केहरी)

(४) ओष्ठ्यस्पर्श का अधिकतर 'म्' हो गया। (नीप—नीम, आपीड़, आमेल)

(५) ड् नरम होकर प्रायः ल् या र् हो गए। (गरुड—गरुल)

(६) रूपों में और भी कमी हो गई जिसके कारण सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ने लगी। इस प्रकार भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक हुई पर अभी हिन्दी आदि की भाँति पूर्ण वियोगात्मक नहीं हुई थी।

(७) वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित हो गया।

(८) शब्दों में अर्थ परिवर्तन बहुत हो गया।

(९) समवेत रूप से भाषा पहले के अपेक्षा सरल हो गई।

(३) तृतीयकाल

इसमें प्राकृतों के विकसित रूप (अपभ्रंश) आते हैं। अपभ्रंश नाम से

स्पष्ट है कि नामकरण करने वाले का विचार था कि भाषा बिगड़ रही है, पर सच बात यह है कि यह बिगड़ना न होकर भाषा का विकास है। प्राकृतों को व्याकरण के सूत्र में बाँध दिया गया था पर उनके प्रचलित रूप को बाँधना सम्भव न था, अतः भाषा विकसित होती गई।

अपभ्रंश में साहित्य है। इसका प्राचीन रूप कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में मिल सकता है। नाथ संप्रदाय के भी बहुत से ग्रंथ अपभ्रंश में हैं। हिन्दी के विद्यापति आदि कुछ हिन्दी कवियों ने भी अवहट्ट ('अपभ्रंश' शब्द का अपभ्रंश) को अपनी लेखनी से पवित्र किया।

'प्राकृतसर्वस्व' के लेखक मार्कंडेय ने अपभ्रंश का ३ भाग किया है। नगर, उपनागर और ब्राचड़।

नागर गुजरात के नागर ब्राह्मणों के प्रदेश की थी। इसका व्याकरण हेमचन्द्र ने लिखा है। उनके अनुसार यह शौरसेनी प्राकृत से निकली थी। ब्राचड़ का क्षेत्र सिन्ध था। उपनागर दोनों के बीच में थी।

सत्य तो यह है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप विकसित हुआ होगा और इस प्रकार प्रमुखतः पैशाची का पैशाची अपभ्रंश, सिंध का ब्राचड़ अपभ्रंश, केकय से केकय अपभ्रंश खश से—खश अपभ्रंश, सिंहल का सिंहली या एलू अपभ्रंश, सौराष्ट्री आदि से विकसित सौराष्ट्री या नागर अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, अर्द्धमागधी से अर्धमागधी अपभ्रंश, मागधी से मागधी अपभ्रंश और महाराष्ट्री से महाराष्ट्री अपभ्रंश का अनुमान किया जा सकता है।

साहित्य में विशेषतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रयोग मिलता है।

भाषा का स्वरूप

(१) अबतक भाषा में अनुनासिक व्यंजन थे पर अब अनुनासिक स्वर भी आ गए।

(२) प्राकृत-काल के सम्बन्ध में देखी गई प्रवृत्तियाँ और भी आगे बढ़ीं, और बचे शब्दों पर भी अपना कार्य किया।

(३) दो स्वरों के बीच में आने वाला—म्—व हो गया। (कमल—कवँलु, भ्रमर—भँवरु)

(४) अकारान्त शब्दों में उकार आगया। (तत्र—तेत्थु) इसी प्रकार के और भी निरर्थक सर्ग लगने लने।

(५) कालों और कारकों के कारण बनने वाले क्रिया और संज्ञा के रूप और भी कम हो गये अतः अर्थ की स्पष्टता के लिए सहायक क्रिया तथा परसर्गों का प्रयोग पूर्णतया होने लगा। भाषा प्राकृतकाल से भी अधिक वियोगात्मक हो गई।

(६) ध्वन्यात्मक शब्दों (धड़ धड़, भड़ भड़) का प्रयोग साधारण भाषा में होने लगा।

(७) कविता में तुक की आवश्यकता पड़ने लगी।

(८) संगीतात्मक स्वराधात पूर्णतः लुप्त हो गया और बालात्मक स्वाराघात आ गया।

(९) संस्कृत से आवश्यकता पड़ने पर शब्द लिए गए अतः एक ही शब्द के तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव रूप साथ साथ प्रयुक्त होने लगे।

(१०) अनार्य भाषाओं से स्वतंत्रता के साथ शब्द लिए जाने लगे।

(११) शब्दों के प्राचीन अर्थों में बहुत परिवर्तन हो गया।

(ग) आधुनिक आर्यभाषाकाल

इसके अन्तर्गत उत्तरी भारत की सभी भाषाएँ आ जाती हैं। इनका आरम्भ एक हजार ई० के बाद से ही जन भाषा में होने लगा था पर साहित्य में १३वीं सदी बाद इनका काल आता है।

इन सभी का अलग अलग वर्णन हम लोग यहाँ कर सकते हैं। यों तो किसी न किसी अपभ्रंश से ही इनका जन्म माना जायगा पर सत्य यह है कि आधुनिक भाषाओं में से कोई भी अपनी अपभ्रंश माता की शुद्ध सन्तान नहीं है। उनमें मिश्रण खूब हुआ है, अतः आगे जब हम लोग किसी भाषा से किसी अपभ्रंश को सम्बन्धित कहेंगे तो इसका केवल मात्र इतना अर्थ होगा कि वह सम्बन्ध प्रधान है।

पैशाची अपभ्रंश से निकलने वाली काश्मीरी आदि का वर्णन ऊपर हो चुका है। ये भाषायें दरद भाषा के अन्तर्गत आती हैं। इनके एक क्षेत्र काश्मीरी की शारदा लिपि नागरी लिपि से ही विकसित है।

ब्राचड़ अपभ्रंश से निकलने वाली भाषा सिंधी पाकिस्तान के सिंध प्रान्त में बोली जाती है। इसका उल्लेख्य ग्रंथ 'शाहजो रिशालो' है। बोलने वाले अधिकतर मुसलमान हैं इसी कारण अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। फारसी से विकसित लिपि का प्रयोग होता है। कभी कभी देवनागरी

के एक विकृत रूप में या गुरमुखी में भी यह लिखी जाती है। इसमें बिचोली सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी पाँच प्रधान बोलियाँ हैं। बिचोली आज-कल भाषा बन गई है। कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है जिस पर गुजराती का अधिक प्रभाव पड़ा है।

केकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहँदा का विकास हुआ है। इस पर दरद शाखा का प्रभाव अधिक पड़ा है। डिलाही जटकी, हिंदकी या उच्ची भी इसके नाम हैं। लहँदा का अर्थ पश्चिम है। इसकी अपनी लिपि लंडा है पर यह फारसी लिपि में लिखी जाती हैं। ग्रामगीतों के अतिरिक्त कोई इसमें साहित्य नहीं है। इसकी ४ बोलियाँ लहँदा, मुल्तानी, पोठवारी और धन्नी हैं।

पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है। केकय से इसकी भी पैदाइश है पर शौरसेनी प्रभाव अधिक पड़ा है। दरद का भी कुछ प्रभाव है। इसकी भी लिपि लंडा है पर अब इसका सुधरा रूप गुरमुखी[१] व्यवहार में आता है। इसकी प्रसिद्ध बोली डोग्री है जो टाकरी लिपि में लिखी जाती है। वैदिक संस्कृति का पुरुषत्व आधुनिक भाषाओं में सबसे अधिक इसमें ही विद्यमान है।

खश अपभ्रंश से पहाड़ी भाषाएँ निकली हैं। पर्बतिया आदि भी इसके नाम हैं। लिपि नागरी है। इसके अंतर्गत तीन वर्ग हैं।

पूर्वी पहाड़ी की प्रधान बोली नेपाली है। इसमें आधुनिक साहित्य भी है। टर्नरने 'नेपाली डिक्शनरी' नामक पुस्तक लिखी है जो भाषा से विज्ञान की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। नेपाली को खसखुरा या गुरवाली भी कहते हैं।

मध्य पहाड़ी के गढ़वाली और कमासूनी दो रूप हैं। उनमें भी आधुनिक साहित्य कुछ है। लिपि देव नागरी है।

पश्चिमी पहाड़ी में लगभग ३० बोलियाँ हैं जिनमें चंबाली, जौनसारी, सिरमैरी आदि प्रमुख हैं। चंबाली की लिपि शेष से भिन्न है।

सभी पहाड़ी बोलियों पर राजस्थानी का ऐतिहासिक कारणों से यथेष्ट प्रभाव है।

---

१ गुरु अंगद सिंह ने १५५० के लगभग नागरी की सहायता से लंडा को सुधारा और गुरुमुखी नाम रखा।

मालद्वीप की माली भाषा और सिंहल की सिंहली पाली से निकली हैं। इनमें महाप्राण का अल्प प्राण और ऊष्मों का 'स' हो गया है। इनके प्राचीन रूप को एलु (अपभ्रंश) कहते हैं, जिस पर मराठी का प्रभाव पड़ा है।

नागर अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास हुआ है। इसके पश्चिमी रूप से गुजराती का विकास हुआ है। आज कल गुजराती साहित्य उन्नत हो गया है। इसके प्रथम प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता हैं। इसकी लिपि नागरी से विकसित हुई है। राजस्थानी की प्रधान बोलियाँ मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी आदि हैं। मारवाड़ी में प्राचीन साहित्य है। नागरी और महाजनी दोनों लिपियों का प्रचार इन बोलियों के क्षेत्र में हैं।

भीली और खानदेशी भाषाएँ अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं। भीली गुजराती की शाखा है जो आस-पास की जंगलों में बोली जाती है। खानदेशी राजस्थानी की पुत्री है जिसका प्रयोग खानदेश में होता है। इन दोनों में साहित्य नहीं है।

शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी का विकास हुआ है। इसके अंतर्गत दो बोलियाँ प्रधान हैं। एक तो ब्रज है जिसके साथ कन्नौजी आदि भी हैं। यह मध्यकाल में साहित्य की भाषा रही है अतः पर्याप्त मँजी हुई और मधुर है। दूसरी खड़ी बोली है जिसके हिन्दी और उर्दू दो रूप हो गए हैं। हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव है तो उर्दू पर फारसी अरबी और तुर्की आदि का। उर्दू में कुछ परिवर्द्धन के साथ फारसी लिपि प्रयुक्त होती है और हिन्दी में नागरी। हिन्दी का साहित्य इधर बहुत धनी हो गया है।[1]

अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है जिसमें अवधी बघेली और छत्तीसगढ़ी आदि बोलियाँ हैं। अवधी को तुलसी एवं जायसी आदि कवियों ने साहित्य में प्रयुक्त किया। में शेष बोलियों साहित्य नहीं है। इनकी लिपि भी नागरी है।

मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगला और उड़िया निकली हैं। बिहारी के अन्तर्गत भोजपुरी, मगही, मैथिली हैं। मैथिली का साहित्य सुन्दर है। विद्यापति इसके प्रसिद्ध कवि हैं। इसकी लिपि भी बंगला से मिलती-जुलती अपनी

---

१. इसी में हिन्दू और उर्दू का मिश्रित रूप हिन्दुस्तानी भी आता है।

अलग है। शेष बोलियों में साहित्य नहीं है। इस क्षेत्र में लिखने-पढ़ने में नागरी या महाजनी लिपि का प्रयोग होता है।

बँगला से बँगला और आसामी दो भाषाएँ निकली हैं। बँगला साहित्य बहुत उन्नत है। टैगोर जैसे उच्च साहित्यिक पाने का उसे गर्व प्राप्त है। बँगला लिपि नागरी से निकली है। बँगला के पूर्वी और पश्चिमी दो रूप हैं। एक का क्षेत्र पाकिस्तान है और एक का हिन्दुस्तान। बँगला में संस्कृत के शब्द अधिक हैं। इनके उच्चारण में अ का ओ और स् का श हो जाता है। आसामी का क्षेत्र आसाम है। इसे कुछ लोग बँगला की बेटी न मानकर बहिन मानते हैं। इसमें ऐतिहासिक ग्रंथ बहुत हैं। इसका व्याकरण और लिपि बँगला के समीप है।

उड़िया उत्कल देश की बोली है। इसे ओड्री भी कहते हैं। लिपि नागरी से निकली है पर बड़ी कठिन है। इसमें कृष्ण-साहित्य मिलता है। राजनैतिक कारणों से उड़िया में मराठी और तेलगू शब्द बहुत मिलते हैं।

महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का विकास हुआ है। बम्बई, पूना, बरार नागपुर आदि के पास इसका प्रदेश है। इसमें मराठी, बरारी और कोंकणी तीन प्रधान बोलियाँ हैं। द्रविड़ मिश्रित एक और बोली हल्बी भी है जो बस्तर में बोली जाती है। यहाँ कि लिपि मोड़ी[२] हैं यद्यपि साहित्य में नागरी का प्रयोग होता है। इसका साहित्य प्राचीन और प्रशस्त है।

हबूड़ी भाषा यूरोप के खानाबदोश लोगों की है। यह ईसा के जन्म के पूर्व भारतीय परिवार से अलग हुई। अब इसमें अनेक भाषाओं के अनेक शब्द आ गये हैं। इस भाषा में संस्कृत शब्दों के घ ध भ का ख थ फ हो गया है। इसको जिप्सी भाषा भी कहते हैं क्योंकि इनके बोलने वालों को जिप्सी कहा जाता है। सैम्सेन ने इनकी बोलियों का अध्ययन किया है।

उपर्युक्त आधुनिक भाषाओं को ग्रियर्सन ने ध्वनि आदि के आधार पर बाहरी, बीच की और भीतरी तीन समुदायों में बाँटा था, पर डा० चटर्जी ने इसे अशुद्ध सिद्ध किया और भूगोल के आधार पर नवीन वर्गीकरण सामने रखा। आज यही वर्गीकरण मान्य है :—

---

२. इसका आविष्कार शिवाजी के मंत्री बालाजी आवाजी ने किया था।

१—उदीच्य—सिंधी लहँदा, पंजाबी।
२—प्रतीच्य—गुजराती।
३—मध्यदेशीय—राजस्थानी, हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी), बिहारी
४—प्राच्य—उड़िया, बँगला, आसामी।
५—दाक्षिणात्य—मराठी।

भाषा का स्वरूप

(१) वर्तमान भाषाएँ पूर्णरूपेण वियोगात्मक होगई हैं। सहायक क्रिया और परसर्गों का सहारा पग पग पर लेना पड़ता है।

(२) नपुंसक लिंग का लोप हो गया है, केवल मराठी गुजराती सिंहली आदि में कुछ अवशेष है।

(३) ऋ और ष का उच्चारण नहीं होता है।

(४) द्वित्त वर्ण एक हो गए हैं। कर्म—कम्म—काम। पंजाबी में अवश्य इसके विरुद्ध भी कुछ प्रवृत्ति है।

(५) उच्चारण सुविधा के लिए य, व, की अभिश्रुति हो गई है। ग्यारह।

(६) कारक के दो ही रूप हैं एक विकारी और दूसरा अविकारी।

(७) काल के अलग रूप भी दो ही है। शेष को सहायक शब्दों से व्यक्त करना पड़ता है।

(८) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित हो गया है। राम ने मोहन को मारा और मोहन ने राम को मारा में केवल शब्दों के स्थान के अंतर के कारण बहुत अंतर है।

(९) तुर्की, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली शब्द उधार ले लिए गये हैं, अतः क़ ख़ ग़ ज़ थ़ द़ फ़ आदि कुछ नवीन ध्वनियाँ भी आ गई हैं। मुन्डा और द्रविड़ परिवारों का भी प्रभाव पड़ा है और उससे भी शब्द लिए गये हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि आधुनिक भाषाएँ पुनः वियोगात्मकता से संयोतात्मकता की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखला रही है।

[३] प्रशान्त महासागरीय खंड

हिंद महासागर तथा प्रशान्त महासागर आदि में उधर मैडागास्कर से लेकर चाइल के पश्चिम में इस्ट द्वीप तक इस खंड का विस्तार है। इन सब में आपस में पर्याप्त साम्य है। इसके अंतर्गत बहुत सी भाषाएँ और अनेक बोलियाँ हैं। इन सबको पाँच परिवारों में बाँटा जा सकता है।

प्रशान्त महासागरीय खंड——
—इंडो नेशिया या मलायन परिवार
—मलेनेशिया परिवार
—पालिनेशिया परिवार
—पापुआ परिवार
—आस्ट्रेलिया परिवार

कभी कभी पाँचों परिवारों को सम्मिलित नाम आस्ट्रोनेशिया परिवार या मलय पालिनेशिया परिवार दे दिया जाता है। कुछ लोगों ने प्रथम तीन परिवारों के लिए भी मलय-पालिनेशियाँ परिवार का प्रयोग किया है।

पाँचों परिवारों का स्रोत एक है। इस कारण बहुत सी बातों में समानता है। केवल शब्द समूह और ध्वनि के संबन्ध में ही प्रधान अन्तर है। समान लक्षण निम्न हैं—

(१) लगभग सभी अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
(२) धातुएँ प्रायः दो अक्षरी की होती हैं।
(३) स्वराघात बलात्मक होता है।
(४) आदि या मध्य या अंत में शब्द जोड़ कर पद बनाए जाते हैं।
(५) सभी धीरे धीरे वियोगात्मक हो रही हैं।

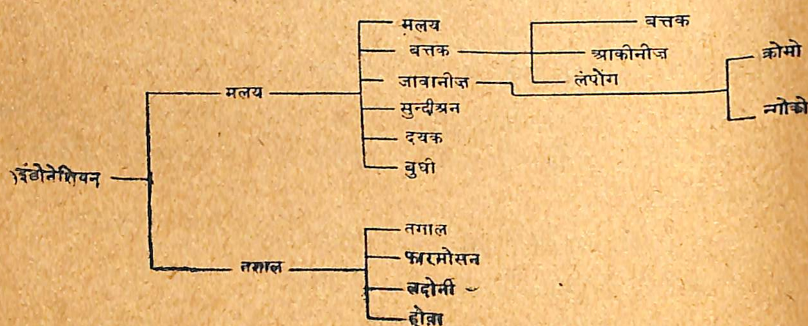
और विस्तार से देखने के लिए परिवारों को अलग अलग लेना ठीक होगा।

[क] इंडोनेशिया परिवार

इसे मलायन परिवार भी कहते हैं। इसमें आदि मध्य अन्त तीनों स्थानों में जोड़ कर पद बनाए जाते हैं। पर प्रधानता आदि में जोड़ने की है। यह परिवार अधिक विकसित नहीं है। शब्द और धातुओं में अधिक अंतर नहीं है। एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि सभी का समय पड़ने पर कार्य करता है। उदाहरणार्थ मलय भाषा का 'सकित' शब्द का अर्थ बीमार, बीमार होना, बीमारी होता है। बहुवचन बनाने के लिये अधिकतर

पुनरुक्ति कर दी जाती है। मलायन में रज = राजा और रजरज = बहुतसे राजे। इस परिवार का क्षेत्र पहले भारत का उपनिवेश था। अतः संस्कृत के शब्द काफी मिलते हैं। हाँ उनमें ध्वनि—परिवर्तन अवश्य अधिक हो गया है। इसके अतिरिक्त फारसी, अरबी, पुर्तगाली डच शब्द भी हैं। कभी-कभी तोतदो भाषा के शब्द मिलकर यहाँ एक शब्द हो गए हैं। अरबी और संस्कृ का योग = जवाहर-मनिकम = रत्न। यहाँ के नामों में संस्कृत शब्द अधिक मिलते हैं। आजकल के वहाँ के प्रसिद्ध नेता का नाम सुकार्नो (सुकर्ण) है। नागरी, अरबी और रोमन तीनों ही लिपियाँ कुछ परिवर्तित होकर यहाँ काम में आती हैं।

विभाजन



मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा के एक अंश, एवं बोर्नियों के किनारे मलय भाषा बोली जाती है। बत्तक वर्ग की तीनों बोलियों का क्षेत्र सुमात्रा हैं।

जावा के आधे से अधिक आदमी जावानीज़ का प्रयोग करते हैं। इस भाषा का नाम 'कवि' भी है, जिसका अर्थ कवि की भाषा है। कवि साहित्यिक भाषा है। इसके ८वीं सदी तक के लेख मिलते हैं। वर्तमान जावानीज़ के दो रूप हैं। प्रथम क्रोमो है, जिसका प्रयोग राजकीय कार्यों एवं साहित्य में होता है। दूसरी न्गोको है जिसका प्रयोग नीची श्रेणी के लोग करते हैं। जावा में ही सुन्दीअन के बोलने वाले भी कुछ हैं।

'दयक' भाषी बोर्नियो के मध्य और उत्तरी भाग में रहते हैं। बुघी और उसी की संगिनी मकासार भाषाएँ सेलेबेस में बोली जाती हैं।

तगाल फिलिपाइन की भाषा है। फारमोसन भाषा फारमूसा में बोली

जाती है। इस पर चीनी का प्रभाव अधिक पड़ा है। लदोर्न द्वीप में लदोर्नी और मैडागास्कर में होवा बोली जाती है। होवा का दूसरा नाम मलगसी भी है।

[ख] मलेनेशिया परिवार

यह परिवार फीजी आदि छोटे छोटे-द्वीपों में फैला है। इसमें बचन के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि एकवचन, द्विवचन, त्रिवचन और बहुवचन पाया जाता है। अलग-अलग द्वीपों में अलग-अलग भाषाएँ हैं। ल्वायल्ती भाषा में मनुष्य और बीसके लिए एक शब्द है। शायद यह इसलिए कि हाथ पैर मिलाकर मनुष्य के बीस अँगुलियाँ होती हैं। इन भाषाओं में किसी में 'चार' पर गिनती आधारित है तो किसी में दस या बीस पर। विकास में यह परिवार इंडोनेशियन से आगे है।

इस परिवार में संवंध वाचक सर्वनाम भी प्रत्यय लगाकर बनता है। यहाँ भी एक ही शब्द आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है (फिजी में रेकी का अर्थ मनोरंजन और मनोरंजन करना दोनों होता है)। जोर देने के लिए शब्द दोहरा दिए जाते हैं। (फिजी में ही 'तला'= भेजना, 'तलातला'=बारबार भेजना या खबर) इसमें प्रधानतः उपसर्ग और प्रत्यय लगते हैं।

विभाजन

मलेनेशिया—
- —फ़िज़ियन
- —कैलीडोनी
- —ल्वायल्ती
- —हेब्रिडी
- —सोलोमोनी आदि।

ये सभी भाषाएँ इन्हीं नामों के द्वीपों में बोली जाती हैं। फिज़ियन के अंतर्गत बहुत सी बोलियाँ हैं जो वाक्य रचना की दृष्टि से इंडोनेशियन परिवार से कुछ मिलती हैं।

[ग] पालिनेशिया परिवार

इस परिवार के बोलने वाले अधिक सभ्य हैं। पिछले दो परिवारों से यह अधिक विकसित परिवार है। इनका क्षेत्र मलेनेशिता के पूरब-दक्षिण में

है। इंडोनेशियन परिवार के शब्द इसमें पाए जाते हैं पर व्यंजनों का लोप हो गया है। वहाँ का अकर (जड़) इसकी मओरी भाषा में 'अक' और हवाई में 'अअ' हो गया है। इस परिवार में संयुक्त स्वर और संयुक्त व्यंजन बिल्कुल नहीं हैं। गिनती दस पर आधारित है। द्विवचन इसमें भी होता है पर त्रिवचन नहीं। इसमें कभी-कभी वाक्य में संबंध दिखाने के लिए स्वतंत्र निपात (Paricle) का प्रयोग होता है। यह परिवार अंग्रेजी हिन्दी आदि की भाँति पूर्णतः वियोगात्मक हो गया है। इसमें भी पुनरुक्ति के सहारे अर्थ की विशेषता प्रकट की जाती है। मओरी भाषा में हैरे=चलना, और हैरे हैरे=ऊपर नीचे चलना। हवाई में हुलि=खोजना, हुलि हुलि= अच्छी तरह खोजना।

विभाजन

पालिनेशियन—
- —मओरी
- —टोंगी
- —समोई
- —हवाई
- —ताहिती
- —मारक्वीसन

मओरी न्यूज़ीलैन्ड में, टोंगी टोंगा में, समोई समोआ में, हवाई हवाई द्वीप में, ताहिती ताहिती में तथा मारक्वीसन मारक्वीसाज़ में बोली जाती है। हवाई का नाम सैंद्विशी भी है।

[घ] पापुआ परिवार

यह परिवार न्युगिनी के समीप के छोटे-छोटे द्वीपों में फैला है। इसकी भाषाएँ आश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनों ही का प्रयोग होता है। मफ़ोर भाषा में—

म्नफ़=सुनना

जम्नफ़=मैं सुनता हूँ।

जम्नफ़उ=मैं तेरी बात सुनता हूँ।

बहुवचन के लिए '—सी' प्रत्यय लगायी जाती है। मफ़ोर में—

स्नून = आदमी

स्नूनसी = क़ई आदमी

इस परिवार की मफ़ोर भाषा ही प्रसिद्ध है और उसी का अध्ययन अब तक हो सका है। यह न्यूगिनी की प्रधान भाषा है।

[ङ] आस्ट्रेलिया परिवार

इनका क्षेत्र आस्ट्रेलिया और टस्मानिया था। ये भी अश्लिष्ट योगात्मक हैं। पद अधिकतर प्रत्यय जोड़ कर बनाये जाते हैं। टस्मानिया से इस परिवार की भाषा समाप्त हो गई। आस्ट्रेलिया में भी इसके बोलने वाले दिन पर दिन कम ही होते जा रहे हैं।

कुछ लोगों ने इस परिवार को द्रविड़ परिवार से जोड़ने का व्यर्थ प्रयास किया था।

इसकी प्रधान भाषा मैक्वारी है जो उसी नाम की झील के पास बोली जाती है। कमिलरोई भाषा का क्षेत्र भी उसके पास ही है। और भी कुछ छोटी-छोटी भाषाएँ हैं, जिनका विशेष महत्व नहीं है।

[४] अमरीका खंड

इसमें उत्तरी और दक्षिणी दोनों अमरीका की भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस खंड की भाषाओं एवं भाषा परिवारों का सम्यक् अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। जो कुछ अध्ययन हुआ है और उसी आधार पर यहाँ हम लोग इस खंड पर विचार करेंगे।

इस खंड में लगभग चार सौ भाषाएँ हैं जो लगभग ३० वर्गों में रखी जा सकती हैं। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य बनाने के लिए शब्दों की प्रधान ध्वनि या अंश को लेकर मिलाते जाते हैं और एक शब्द बन जाता है। चेरोकी का नाधोलिनिन (हमारे पास नाव ले आओ) का उदाहरण ऊपर हम ले चुके है। अलग शब्दों का प्रयोग यहाँ नहीं होता। कुछ भाषाओं में तो अलग शब्द जैसे हैं ही नहीं। वाक्य ही यहाँ शब्द है। यह असंस्कृत भाषाओं की निशानी है। पर यहाँ की मय आदि कुछ भाषाएँ कुछ सभ्य भी हैं और उनमें साहित्य मिलता है। इनके बोलने वालों ने कभी साम्राज्य स्थापन किया था पर, यूरोपीय लोगों ने उसे समाप्त कर दिया।

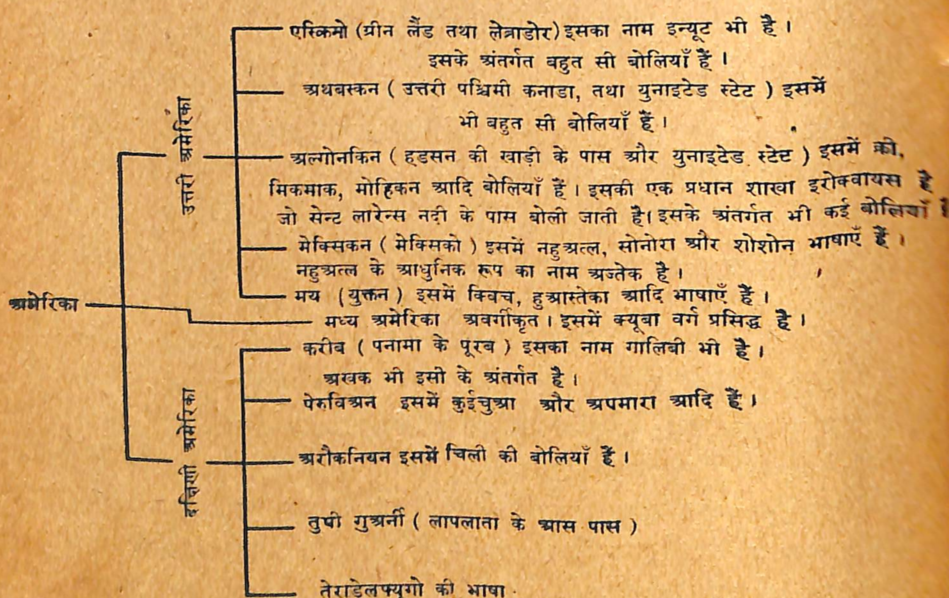
लिपि केवल नहुअत्ल और मय भाषाओं में हैं। कुछ भाषाओं में पत्थर घोघों या चमड़े आदि पर चित्र मिलते हैं, पर उनका पढ़ा जाना अब संभव नहीं है। यहाँ पहले रज्जुलिपि का भी प्रचार था।

आज से ५०० वर्ष पूर्व इन लोगों की संख्या लगभग ४-५ करोड़ थी पर अब मुश्किल से डेढ़ करोड़ बचे हैं।

कुछ ईसाई पादरियों ने इनकी भाषाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाया था। ऐसी भाषाओं में कुइचुआ, गुअर्नी आदि प्रधान हैं।

कुछ स्थानों पर ऐसा है कि स्त्रियाँ एक भाषा बोलती हैं और पुरुष दूसरी। एक बार ऐसा हुआ था कि अखक भाषा भाषी लोगों पर करीब भाषी लोगों की विजय हुई। उन लोगों ने पुरुषों को तो मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिया। फल यह हुआ कि स्त्रियों की पीढ़ी अब तक अखक भाषा बोलती है और पुरुष करीब भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक दूसरे को समझ लेते हैं पर प्रयोग एक का करते हैं। दोनों भाषाओं का एक दूसरे पर काफी प्रभाव पड़ा है।

विभाजन



अध्ययन और सामग्री के अभाव के कारण इस खंड की भाषाओं का वैज्ञानिक विभाजन या वर्गीकरण संभव नहीं है। कुछ लोगों ने राजनैतिक और भौगोलिक आधार पर दक्षिणी, उत्तरी और मध्य अमेरिका वर्ग माना है। कुछ अन्य लोगों ने यों ही मोटे रूप से २४ विभागों में बाँट दिया है। यहाँ दोनों के सामंजस्य के आधार पर वर्गीकरण दिया गया है।

चेरोकी भाषा उत्तरी अमरीका के ही अपलाशन वर्ग में है। इसका क्षेत्र फ्लोरिडा के आस-पास है। उत्तरी अमरीका में डकोटा, पानी, कोलोशे तथा पुब्लो आदि वर्ग भी हैं, पर उनका विशेष महत्व नहीं है और उनके बोलने वाले भी बहुत कम हैं।

—०—

तीसरा अध्याय

वाक्य विचार

वाक्य विचार (syntax)

भाषा का आरंभ ही वाक्यों से हुआ है और भाषा में सर्वत्र वाक्य ही प्रधान है। हम वाक्यों में ही बोलते हैं और वाक्यों में ही सोचते हैं। व्याकरण-पुस्तकों में हम लोग पढ़ते हैं कि 'वाक्य शब्दों का समूह है' पर यथार्थ यह है कि शब्द वाक्य के खंड हैं। वाक्य स्वाभाविक और सहजात हैं, पर शब्द तो हमने बना लिए हैं। यह हमारी कृत्रिम चीज है। अब भी कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जहाँ वाक्य हैं, पर अलग-अलग शब्द नहीं हैं। वहाँ अभी विभाजन की कृत्रिम क्रिया नहीं हुई है।

वाक्य एक शब्द से लेकर अधिक से अधिक शब्दों तक का हो सकता है। बोलने या बातचीत के वाक्य बहुधा छोटे हैं और लिखने में हम उन्हें मिला कर बड़ा कर लेते हैं। खेलने के बाद जब शाम को बच्चा माँ से आकर 'भूख' या 'खाना' कहता है तो वह पूरा वाक्य कहता है। यह एक शब्द नहीं है क्योंकि इसका आशय है 'भूख लगी है, खाना लाओ।' इसी प्रकार बातचीत में प्रायः हम एक शब्द का प्रयोग पूरे वाक्य के लिए करते हैं। लिपि के आरम्भ में एक रेखा, एक चित्र, एक गाँठ या एक रंग से इसी प्रकार एक वाक्य का बोध होता रहा होगा।

वाक्य का विभाजन

(क) अग्र और पश्च

अग्र और पश्च ये दोनों विभाग वाक्य में स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। विशेषत: जब हम धारा प्रवाह रूप से कुछ कहते हैं तो दोनों रूप अपने आप स्पष्ट होते रहते हैं।

भोजपुरी का एक उदाहरण लिया जा सकता है। यहाँ वाक्य के अग्र और पश्च भाग रेखा द्वारा स्पष्ट कर दिए गए हैं।

हमके खाए जाए के रहल। जाए में देरी हो गइल। देरी हो गइला से ओइजाँ क खयक्वे खतम हो गयल।

इसमें एक वाक्य का पश्च अंश संबन्ध दिखलाने के लिए दूसरे का अग्र हो गया है। समुन्नत भाषाओं में अब यह प्रवृत्ति नहीं है। हमारा मस्तिष्क इतना संस्कृत हो गया है कि इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऊपर के वाक्यों को आज का शिक्षित आदमी कहेगा तो उसके दो रूप होंगे। या तो वह सबको मिलाकर एक वाक्य कर देगा—

'मुझे खाने जाना था पर देर हो गई और फल यह हुआ कि खाना खतम हो गया।'

या कई वाक्य में कहेगा पर पश्च भाग को जोड़ने की आवश्यकता न होगी।

मुझे खाने जाना था। देर हो गई। खाना खतम हो गया।

(ख) उद्देश्य और विधेय

वाक्य का दो भागों में विभाजन होता है। उद्देश्य और विधेय। 'राम जाता है' में 'राम' उद्देश्य है और 'जाता है' विधेय। यह विभाजन ठीक है पर केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं पर लागू होता है। अन्य परिवारों में यह विभाजन इस रूप में संभव नहीं है।

यथार्थ यह है कि ऐसा कोई भी विभाजन नहीं है जो सभी भाषाओं के वाक्यों के लिए समान रुप से लागू हो।

वाक्यों के प्रकार

भाषाओं के आकृति मूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके हैं। संसार की सभी भाषाओं पर विचार करने से हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओं में समय-समय पर ये चारों प्रकार के वाक्य पाए जाते हैं अर्थात् विकास-चक्र के ये चार विराम मात्र हैं, पर अब यह चीज निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई एक भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों में नहीं जा सकती।

पृथक् पृथक् इन प्रकारों पर विचार किया जा सकता है—

(१) अयोगात्मक

इस वर्ग के वाक्यों में शब्दों का स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ संबंधतत्व दिखाने के लिए शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। अतः संबंध का प्राकट्य शब्दों के स्थान से ही होता है। यह पद-क्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की भाषाओं में प्रधान रूप से मिलती है।

भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक थीं पर उनसे विकसित हिन्दी आदि वियोगात्मक हो गई है। पद-क्रम यहाँ भी कुछ-कुछ निश्चित हो गया है।

१. राम ने मोहन को मारा

२. मोहन ने राम को मारा

दोनों में शब्द एक ही हैं, पर स्थान-परिवर्तन से अर्थ उलटा हो गया है। अंग्रेजी में भी यही बात है।

आर्य परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी अयोगात्मक नहीं है अतः पद-क्रम का निश्चय चीनी आदि जैसा नहीं है। हिन्दी में कर्ता पहले और क्रिया बाद में आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में प्रश्न वाचक आदि वाक्यों में यह साधारण नियम टूट जाता है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा अयोगावस्था की ओर जितनी ही जाती है उसके वाक्यों में पद-क्रम का महत्व उतना बढ़ता जाता है।

अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(२) प्रश्लिष्ट योगात्मक

प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने में उनका थोड़ा थोड़ा अंश कट जाता है।

मेक्सिकन में क = खाना
नकत्ल = मांस
नेवत्ल = मैं

तीनों को मिलाकर

नीनकक=मैं मांस खाता हूँ।

इन वाक्यों का विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता, इसी से

इनके शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है जो इनकी इस (प्रश्लिष्ट योगात्मक) संज्ञा का कारण है।

(३) अश्लिष्ट योगात्मक

इनमें प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। यहाँ शब्द प्रशिष्ट की भाँति मिलते नहीं पर अयोगात्मक की भांति संबंध जानने के लिए स्थान का ध्यान भी नहीं रखना पड़ता, प्रत्ययों से सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। इन वाक्यों में मूल शब्द और सम्बन्ध प्रकट करने के लिए जोड़े गए प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं। इसी कारण इनको पारदर्शकगठन वाले वाक्य कहा जाता है।

इसका भी उदाहरण अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

(४) श्लिष्ट योगात्मक

इन वाक्यों में विभक्तियों की प्रधानता रहती है। विभक्तियाँ अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों की भांति प्रत्यय रूप में लगती हैं। पर दोनों में भेद यह है कि अश्लिष्ट में प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं और उनका अस्तित्व खो नहीं जाता पर दूसरी ओर श्लिष्ट में इनका स्पष्ट पता नहीं चलता।

संस्कृत में प्रथमा एक वचन में 'सु' प्रत्यय जोड़कर पद बनाया जाता है पर जोड़ने के बाद जो पद बनता है उसमें 'सु' का बिल्कुल पता नहीं चलता—

राम+सु=रामः

कहीं-कहीं तो जोड़ने में प्रत्यय पूर्णतया लुप्त हो जाता है।

विद्या+सु=विद्या

वाक्य की गठन में परिवर्तन के कारण

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं शब्दों के योग से वाक्य बनता है अतः इसमें परिवर्तन मूलतः शब्दों में ही परिवर्तन है। आशय यह है कि शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन लाने वाले कारण ही यहाँ भी कार्य करते हैं। प्रमुखतः वाक्य की दृष्टि से कुछ प्रधान बातें यहाँ ली जा सकती हैं।

(१) अन्य भाषा का प्रभाव

जब दो भाषाओं अथवा संस्कृतियों का मेल होता है तो वाक्य की गठन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। हिन्दी की एक शैली 'उर्दू' वाक्य-

गठन के प्रभाव के कारण ही कुछ फारसी की ओर झुक गई है। अंग्रेजी की वाक्य गठन का भी कुछ प्रभाव हिन्दी पर स्पष्ट है। यह प्रभाव प्रमुखतः दो बातों में स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रथम तो यह कि कुछ लेखक अंग्रेजी की भांति छोटे-छोटे वाक्य लिखने लगे हैं जिसमें छाया स्पष्ट हो जाती है। दूसरे कुछ लोग कभी-कभी क्रिया के बाद कर्म रखने लगे हैं। यद्यपि हिन्दी में उसका स्थान क्रिया के पूर्व है। अंग्रेजी से अनूदित पुस्तकों में ये बातें आवश्यकता से अधिक मिलती है। विशेषतः मुहावरों और लोकोक्तियों में तो कभी-कभी यह रुप खटकने भी लगता है। प्रेमचंद जैसे सिद्धहस्त लेखक भी इससे नहीं बच सके हैं। पंडित नेहरू के वाक्यों में अंग्रेजी की छाया बहुत ही अधिक मिलती हैं। कभी-कभी अंग्रेजी पर भी भारतीय भाषाओं की छाया देखी जाती है। वे भारतोय जो अधिक अंग्रेजी नहीं जानते जब अंग्रेजी बोलते हैं तो अपनी भाषा के पद-क्रम का आरोप अंग्रेजी पर करते पाए जाते हैं पर इसका कोई स्थायी प्रभाव संभव नहीं है।

(२) ध्वनि विकास से विभक्तियों का घिस जाना

धीरे-धीरे सम्बन्ध तत्त्व को स्पष्ट करने वाली विभक्तियाँ जब घिस जातो हैं तो अर्थ को गड़बड़ी से बचाने के लिए सहायक शब्द जोड़ने पड़ते हैं ऐसा करने से वाक्य संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर बढ़ने लगते हैं। भारोपीय परिवार की अधिकतर आधुनिक भाषाएँ इसी कारण प्रभावित हुई हैं और उनका वाक्य कुछ अयोगात्मक भाषाओं की भांति पद-क्रम प्रधान या स्थान-प्रधान होता जा रहा है।

(३) बल का प्रदर्शन

बल से वाक्य-गठन में क्षणिक परिवर्तन होता है पर धीरे-धीरे वह प्रवृत्ति भी बन जाता है। इसका प्रभाव शब्द-क्रम पर विशेषतः पढ़ता है। बल के लिए क्रम में परिवर्तन करके बहुधा उसे प्रथम स्थान दे दिया जाता है।

'मैं घर जाता हूँ।' यह हिन्दी का यह व्याकरण सम्मत साधारण वाक्य है पर यदि जाने पर बल देना हुआ तो 'जाता हूँ मैं घर' भी कहा जाता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण लिए जा सकते हैं।

(४) बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन

इसके परिवर्तन से अभिव्यंजना-शैली तथा अलंकरण शैली प्रभावित

होती है अतः वाक्य की गठन भी अछूती नहीं रह पाती। जैसे, युद्ध कालीन व्याख्यानों में वाक्य घुमे फिरे न होकर सीधे अधिक होते हैं। या रोकर अपना दुःख सुनाने वाला दुखी, अलंकृत वाक्य नहीं कहता। जोर देने के लिए उसमें कभी-कभी पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है।

वाक्य-विचार का अध्ययन, जैसा कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के विभागों पर विचार करते समय कहा जा चुका है, तुलनात्मक और ऐतिहासिक दो प्रकार का हो सकता है, पर विषय कठिन और सूक्ष्म होने के कारण किसी ओर भी विद्वानों का ध्यान अभी तक अधिक नहीं गया है। हिन्दी-वाक्य विचार पर तो अभी जरा भी कार्य नहीं हुआ है। इसकी अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

सामग्री के अभाव के कारण यहाँ और अधिक नहीं कहा जा सकता।

———

चौथा अध्याय

रूप विचार

रूप-विचार (Morphology)

भाषा विज्ञान के रूप विचार विभाग में शब्द की रचना पर विचार किया जाता है। शब्दों के रूप या उनकी रचना पर विचार करने के पूर्व शब्द पर ही विचार कर लेना आवश्यक है। शब्द से हम अधिकतर ध्वनि के उस समूह का आशय लेते हैं जिसका कुछ अर्थ होता है और जिसके संयोग से वाक्य बनता है। पर शास्त्रीय ढंग से विचार करने के लिए हमें अधिक गहराई में जाना पड़ेगा। जैसा कि पाणिनि ने स्पष्ट किया है 'वाक्य से अलग शब्द' और 'वाक्य में प्रयुक्त शब्द' एक नहीं हैं। वाक्य में अलग शब्द तो शुद्ध शब्द रहता है पर वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे इस योग्य बना लिया जाता है कि वह वाक्य के अन्य शब्दों के साथ अपना संबन्ध स्पष्ट कर सके। उदाहरण के लिए 'पत्र' शब्द को लें। यह एक शब्द मात्र है। संस्कृत के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। इसमें कोई संबन्ध-सूचक विभक्ति जोड़नी होगी। जैसे 'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द तो पत्र है और वाक्य में प्रयोग करने के लिने उसे 'पत्रं' का रूप धारण करना पड़ा है। इस प्रकार शब्द दो प्रकार के होते हैं. एक को तो 'शब्द' कहते हैं जो विभक्ति या संबंधतत्व से शून्य शुद्ध शब्द होते हैं। दूसरे को 'पद' कहते हैं। शब्द में जब संबंध-सूचक विभक्ति जोड़ दी जाती है तो वह पद हो जाता हैं। ऊपर के उदाहरण में 'पत्र' शब्द है और 'पत्रं' पद।

स्थान-प्रधान या अयोगात्मक (चीनी आदि हैं) भाषाओं में शब्द और पद का यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। इसका कारण यहहै कि वहाँ

शब्दों में संबंध आदि दिखाने के लिए किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं अपेक्षित होता। शब्द के स्थान से ही संबंध प्रकट हो जाता है। हिन्दी, अंग्रेजी आदि भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाएँ भी कुछ ऐसी हो गई हैं, पर ये पूर्णतः चीनी की भाँति नहीं हैं इनमें शब्दों के रूप में कोई परिवर्तन (पत्र, पत्र जा रहा है, पत्र लिख दो, आदि सभी में पत्र का एक ही रूप है) तो नहीं होता लेकिन कभी-कभी परसर्ग आदि से संबंध का संकेत देना पड़ता है। (पत्र में क्या लिखा है ? पत्र ने गजब ढा दिया।)

अब हमें शब्द और पद पर विचार करना है। पद प्रायः शब्द पर ही आधारित रहता हैं, अतः पहले शब्द को ही लेना ठीक होगा।

शब्द

एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें तो केवल एक ही चीज़ होती है जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं।

कुछ प्रश्लिष्ट योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का एक ही शब्द बन जाता है, जैसे पीछे हम लोग 'नाधोलिनिन' आदि देख चुके हैं। ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका रूप मात्र शब्द सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे एक प्रकार से बने-बनाए शब्द हैं अतः उन पर भी विचार करने की आवश्यकता नहीं।

शेष सभी भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर प्रत्यय जोड़ कर होती हैं। भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्व पूर्ण है। इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता है। (सैमिटिक में भी कुछ यही बात हैं) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उनमें उपसर्ग (पूर्व प्रत्यय) और और प्रत्यय दोनों ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से मूल के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जैसे विहार, संहार परिहार आदि में। प्रत्यय जोड़कर उसी अर्थ के विभिन्न पक्षों के लिए शब्द बनाए जाते हैं।

प्रत्यय भी दो प्रकार की होती है एक, जो सीधे धातु में जोड़दी जाती है उसे 'कृत्' कहते हैं। दूसरी को तद्धित कहते हैं। तद्धित को कृत् जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

पद

हम ऊपर कह चुके हैं कि शब्द को वाक्य में प्रयोग होने के योग्य बना लेने पर उसे पद की संज्ञा दे दी जाती है। ऐसा करने के लिए हमें केवल योगात्मक भाषाओं पर ही ध्यान दौड़ाना होगा क्योंकि अयोगात्मक में पद नाम की शब्द से कोई अलग वस्तु नहीं होती। योगात्मक भाषाओं में पद बनाने के लिए शब्द में सम्बन्ध-तत्व के जोड़ने की आवश्यकता होती हैं। शब्द पर हम विचार कर चुके हैं अतः अब केवल सम्बन्ध-तत्त्व और उसके जोड़ने की विधि पर विचार कर लेना पर्याप्त है।

सम्बन्ध-तत्त्व (Morpheme)

वाक्य में दो तत्त्व (संबन्ध और अर्थ) प्रधान होते हैं। दोनों में भी प्रधान अर्थ तत्व (Semanteme) है। दूसरे को सम्बन्ध-तत्व कहते हैं। सम्बन्ध-तत्व का कार्य है विभिन्न अर्थ-तत्वों का आपस में सम्बन्ध दिखला देना। उदाहरणार्थ एक वाक्य लिया जा सकता है :—'राम ने रावण को बाण से मारा।' इस वाक्य में चार अर्थ-तत्व है— राम, रावण, बाण और मारना। वाक्य बनाने के लिये चारो अर्थ-तत्वों में सम्बन्ध तत्व की आवश्यकता पड़ेगी, अतः यहाँ चार सम्बन्ध तत्व भी हैं। 'ने, सम्बन्ध तत्व वाक्य में राम का सम्बन्ध दिखलाता है और इसी प्रकार 'को' और 'से' क्रम से रावण और बाण का। मारना से 'मारा' पद बनाने में सम्बन्ध-तत्व इसी में मिल गया है।

यहाँ हमें एक ओर ऐसे सम्बन्ध तत्व मिले जो शब्द के साथ ही अलग हैं (राम ने) और दूसरी ओर एक ऐसा मिला जो शब्द में ऐसा घुल मिल गया है (मारा) कि पता नहीं चलता। इसी प्रकार कुछ और तरह के भी सम्मन्ध तत्व होते हैं। यहाँ उन सभी पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना समीचीन होगा।

संबन्ध-तत्व के प्रकार

(१) शब्द-स्थान

इसमें वाक्य के अन्तर्गत स्थान से ही शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है। यह सम्बन्ध-तत्व सबसे सूक्ष्म कहा जा सकता है क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार का योग नहीं होता। चीनी आदि एकाक्षर परिवार की भाषाओं में

इसी संबन्ध-तत्व का विशेषतः प्रयोग होता है। वहाँ अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जाती है। बैंग=राजा, तीन=घर अतः बैंग तीन=राजा का घर। वेल्श में शब्द स्थान इसके उलटा है। वहाँ ब्रेनहिन=राजा और ती=घर। पर यदि राजा का घर कहना होगा तो 'ब्रेनहिन ती' न कहकर 'ती ब्रेनहिन' कहेंगे। अंग्रेजी तथा हिन्दी में भी कुछ इस प्रकार के प्रयोग हैं। हिन्दी में मैं रोटी खाता हूँ और रोटी जल रही है में स्थान के कारण रोटी दोनों वाक्यों में दो प्रकार के सम्बन्ध दिखलाती है। उपर्युक्त उदाहरण लेना चाहें तो हिन्दी में भी चीनी की भाँति अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जायगी। जैसे 'राजघर'=राजा का घर। अंग्रेजी में भी इसी प्रकार 'लाइट हाउस' गोल्ड मैडल' आदि हैं। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन) में ऐसे सम्बन्ध अपवाद स्वरूप ही मिल सकते हैं।

(२) शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना

जिन भाषाओं में सम्बन्ध तत्व जोड़कर या अर्थतत्व (शब्द) में कुछ विकार लाकर पद बनाया जाता है वहाँ कभी कभी बिना योग या विकार के शब्द भी पद का कार्य करते हैं, अतः शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना भी एक प्रकार का सम्बन्ध तत्व हुआ। संस्कृत में सम्बोधन कारक में कोई विभक्ति नहीं लगती। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में भी कर्त्ता कारक एकवचन में सरित् पात् वणिक आदि का अविकृत रूप पाया जाता है। अंग्रेजी में सामान्य वर्तमान बहुवचन में क्रिया का मूल रूप बिना विकार के ही प्रयुक्त होता है। जैसे, 'दे गो' (They go)।

(३) स्वतन्त्र शब्द

स्वतंत्र शब्द भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्व का कार्य करते हैं। हिन्दी के लिए तो यह बात नई नहीं है। का, के, को, से, पर में आदि परसर्ग (कारक चिह्न) इसी वर्ग के हैं। अंग्रेजी में भी इनका प्रयोग मिलता है। संस्कृत शब्द 'इति' का भी कुछ ऐसा ही प्रयोग था। किसी वाक्य के अन्त में उसे रखने का आशय यह है कि वह उद्धरण है। 'इत्यमरः' इस सम्बन्ध में काफी प्रसिद्ध है। ग्रीक में भी एकाध 'आउ' आदि शब्द इस प्रकार के मिलते हैं।

(४) अपश्रुति[1]

इसमें सम्बन्ध तत्त्व शब्द का अंग बन जाता है। इसके सर्वोत्तम उदा-

1- vocalic ablaut

हरण सेमिटिक तथा भारोपीय भाषाओं में मिलते हैं, जहाँ स्वर के आने से या परिवर्तन से ही काम चल जाता है। अंग्रेजी में सिंग (sing) सैंग (sang) संग (sung) इसी प्रकार बनता है। यहाँ केवल स्वर के अंतर से काम चल गया है। जर्मन भाषा में इसी प्रकार विर गेबेन (wir geben)=हम देते हैं और विर ग बेन (wir gaben)=हमने दिया। अरबी में हिमर= खच्चर और हमीर=कई खच्चर। हिन्दी संस्कृत में भी ऐसी उदाहरण कुछ मिलते हैं। चल से चला, कर से करा, दशरथ से दाशरथी इत्यादि।

(५) स्वराघात

बहुत सी भाषाओं में स्वराघात द्वारा भी सम्बन्धतत्त्व प्रकट किया जाता है। स्यामी, चीनी तथा अफ्रीका की कुछ भाषाओं में तो स्वराघात का महत्व बहुत ही अधिक है। ग्रीक और संस्कृत में भी इसका यथेष्ट स्थान है। अंग्रेजी मे उदहरणार्थ कनडक्ट (conduct) में यदि 'क' पर बलाघात होगा तो शब्द संज्ञा होगा पर यदि 'ड' पर होगा तो क्रिया हो जायगा। स्लैवोनिक और लिथुआनिअन भाषाओं में भी इसका कम महत्त्व नहीं है। ग्रीक में 'पेट्रोक्टोड' में यदि स्वराघात प्रथम 'ओ' पर लगेगा तो अर्थ होगा 'पिता द्वारा मारा गया' पर यदि द्वितीय 'ओ' पर होगा तो अर्थ बदलकर 'पिता को मारने वाला' हो जायेगा। अफ्रीका की फुल भाषा का एक उदाहरण और लिया जाता है। 'मी वारत' पूरा एक स्वर में कहा जाय तो 'मैं मारूँगा' अर्थ होगा लेकिन यदि 'त' पर स्वराघात हो तो 'मैं नहीं मारूँगा' अर्थ होगा।

(६) स्वराघात का न होना

कुछ स्थानों पर स्वराघात का न होना भी काम करता है। संस्कृत की क्रियाएँ प्रयोगानुसार स्वराघातयुक्त या स्वराघात शून्य होती थीं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी सम्बन्ध-तत्त्व मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित उपर्युक्त ही हैं।

संबधतत्व और अर्थतत्व का संबन्ध

इन दोनों के सम्बन्ध सभी भाषाओं में एक जैसे नहीं होते। इसका कुछ अनुमान हम लोग ऊपर के विवेचन से भी लगा सकते हैं। यहाँ स्वतन्त्र रूप से सम्बन्ध के प्रकारों पर विचार किया जायगा।

(१) पूर्ण संयोग

कुछ भाषाओं 'में' अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों एक दूसरे से इतने मिले रहते हैं कि एक ही शब्द एक साथ दोनों तत्त्वों को प्रकट करता है। भारोपीय एवं सैमिटिक दोनों ही परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। ऊपर अप-श्रुति शीर्षक में ऐसे ही सम्बन्ध-तत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

अरबी में क़तल् में केवल स्वर या कुछ व्यंजन जोड़कर कई शब्द ऐसे बनाए जा सकते हैं जिनमें दोनों तत्त्व एक में मिले हैं। जैसे क़ातिल, क़तल, यक्तुलु (वह मारता है), उत्कुल आदि। अंग्रेजो के भी सैंग (sang) आदि शब्द ऐसे ही हैं।

इन दोनों परिवारों की प्राचीन भाषाओं में तो यह बात बहुत ही अधिक थी पर नवीन भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं अतः सर्वत्र यह बात नहीं पाई जाती।

(२) अपूर्ण संयोग

कभी कभी ऐसा होता है कि दोनों तत्त्व एक में मिले रहते हैं, अतः एक ही शब्द द्वारा दोनों प्रकट होते हैं पर मिलन अपूर्ण रहता है और इस कारण सम्बन्ध और अर्थतत्त्व दोनों स्पष्ट देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त की भाँति इनका संयोग नोरक्षीरवत न होकर तिलतंडुलवत होता है। अंग्रेजो की निर्बल क्रियाएँ (ed) लगाकर भूतकाल में परिवर्तित की जाती है। उनमें दोनों तत्त्व मिले रहने पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। asked talked इत्यादि। द्राविड़, तुर्की एवं एस्पेरैंतो आदि भाषाओं में भी दोनों तत्त्वों का सम्बंध लगभग ऐसा ही मिलता है। इसमें प्रधानतः उपसर्ग या प्रत्यय के रूप में सम्बंध-तत्त्व रहता है! कभी कभो मध्य-प्रत्यय का भो प्रयोग करना पड़ता है।

(३) दोनों स्वतन्त्र

कुछ भाषाओं में दोनों तत्त्वों की सत्ता पूर्णतः स्वतंत्र होती है। इसके अंतर्गत भी कई भाग किए जा सकते हैं।

(क) चीनी आदि भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते हैं। पूर्ण शब्द और रिक्तशब्द। भाषाओं के वर्गीकरण में हमलोग इनसे परिचित हो चुके हैं। रिक्तशब्दों का सर्वदा प्रयोग तो नहीं होता क्योंकि यह स्थान-प्रधान भाषा है

पर कभी कभी होता भी है। उदहरणार्थ

पूर्णशब्द { वो = मैं या मुझे
उलत्सु = लड़का

रिक्तशब्द ती = अंग्रेजी के एपास्ट्रफी (') आदि की भाँति अधिकारी चिह्न अतः वो ती उलत्सु = मेरा लड़का।

भारोपीय परिवार के प्राचीन 'इति' 'आउ' आदि तथा नवीन ने को से टू (To) आदि भी एक प्रकार से ऐसे ही रिक्तशब्द हैं।

(ख) 'क' वर्ग में दोनों तत्त्व स्वतंत्र होते हुए भी साथ साथ थे। वाक्य में सम्बन्धतत्त्व का स्थान अर्थतत्त्व के पास ही कहीं था पर कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें दोनों तत्त्वों का इस प्रकार का साथ नहीं रहता है। वाक्य में पहले संबंध तत्त्व प्रकट करने वाले शब्द आ जाते हैं और फिर अन्य शब्द। अमेरिका चक्र की चिनूक भाषा का एक उदाहरण यहाँ लिया जा सकता है—

वह—उसने—वह—से। मारना—आदमी—औरत—लाठी
= उस आदमी ने औरत को लाठी से मारा

वाक्य की ऐसी बनावट देख कर हम लोगों का आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है।

(४) संबंध-तत्त्व का आधिक्य

कुछ भाषाओं में संबंध-तत्त्वों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इसका फल यह होता है कि वाक्य में प्रति शब्द के साथ एक संबन्ध तत्त्व रहता है और एक के स्थान पर तीन-तीन चार-चार दिखाई पड़ते हैं।

फुल भाषा का एक उदाहरण—

बी = बहुवचन बनाने के लिए संबंधतत्त्व

रिव—बी रैन-ए-बी बी = ये सफेद औरतें।

बंटू परिवार की सोविया भाषा में

मू = एक व्यक्ति का चिह्न है।

मु-न्तु मु—लोट्ठ = सुन्दर आदमी

हिन्दी आदि में केवल संज्ञा (आदमी) के साथ बहुवचन की विभक्ति लगाने से काम चला जाता, पर इन भाषाओं में संज्ञा के सभी विशेषणों में भी विभक्ति लगानी पड़ती है।

यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा में केवल एक ही तरह के संबन्ध-तत्त्व मिलें और दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध भी एक ही तरह का हो। अधिकतर भाषाओं में कई प्रकार के संबंध-तत्त्व मिलते हैं।

हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व

लगभग सभी प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व हिन्दी में हैं। का को से में ने आदि चीनी की भाँति रिक्त शब्द है। वाक्य में किसी हद तक कर्ता क्रिया कर्म का स्थान भी निश्चित सा है अतः स्थान द्वारा प्रकट होने वाला सम्बन्ध-तत्त्व भी है। बातचीत करते समय वाक्यों में स्वराघात के कारण भी कभी-कभी परिवर्तन हो जाता है। (काकु वक्रोक्ति) 'मैं जा' रहा हूँ' तथा मैं' जा रहा हूँ, में अंतर है। कहीं-कहीं तुर्की आदि की भाँति अपूर्ण संयोग भी मिलता है। जैसे बालकों (बालक+ओं)। इसी प्रकार स्वर और व्यंजन के परिवर्तन द्वारा दोनों तत्त्वों का पूर्ण संयोग भी मिलता है, जिनमें दोनों को अलग करना असंभव है। जैसे करना से किया या जाना से गया। अपश्रुति के उदाहरण के लिए 'कुकर्म' से 'कुकर्मी' आदि कुछ शब्द लिये जा सकते हैं।

इस तरह लगभग सभी उदाहरण हिन्दी में हैं। ऐसे एकाध सभी प्रकार के उदाहरण सभी भाषाओं में मिल सकते हैं, पर प्राधान्य केवल एक या दो प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व का होता है। हिन्दी में स्वतंत्र शब्द तथा स्थान से प्रकट होने वाले सम्बन्ध तत्त्व का प्राधान्य है।

संबंध-तत्त्व के कार्य

संबन्ध-तत्त्व के कारण क्रिया संज्ञा तथा विशेषण के विविध भावों का प्रदर्शन किया जाता है।

(१) क्रिया

क्रिया के सम्बन्ध में सम्बन्ध-तत्त्व का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भूत वर्तमान तथा भविष्यत् काल को दिखलाना है। जैसे जाना से जाता है, जायेगा और गया। क्रिया पुरुष के अनुसार भी परिवर्तित होती है अतः उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुषों के भाव को भी सम्बन्ध-तत्त्व को दिखलाना पड़ता है। इसी प्रकार वचन लिंग तथा वाच्य पर आधारित क्रिया के विभिन्न रूप भी इसी के द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं। नकारात्मक प्रेरणार्थक एवं प्रश्न सूचक वाक्य में विशेषता भी सम्बन्ध-तत्त्व के कारण ही आती है।

(२) संज्ञा

संज्ञा के सम्बन्ध में कर्ता कर्म करण सम्प्रदान आदि कारकों तथा लिंग और वचन के भावों को सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त अन्य शब्दों को संज्ञा का रूप देने के लिए या एक संज्ञा से दूसरी संज्ञा बनाने के लिए भी सम्बन्ध-तत्त्व की आवश्यकता पड़ती है।

विशेषण

लिंग और वचन, इन्हीं दोनों के आधार पर विशेषण के भी विभिन्न रूप होते हैं, जो सम्बन्ध-तत्त्व द्वारा प्रकट किए जाते हैं। संज्ञा से विशेषण बनाने में भी इसकी आवश्यकता होती है।

इन सबके अतिरिक्त विशेषण या संज्ञा से क्रिया-विशेषण आदि बनाने में भी सम्बन्ध-तत्त्व का प्रयोग होता है। सर्वनाम के सम्बन्ध में सम्बन्ध-तत्त्व का लगभग वही कार्य है जो संज्ञा के सम्बन्ध में है।

उपर्युक्त कार्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल शब्द और अव्यय (जिसमें विकार नहीं होता) को छोड़ कर सर्वत्र सम्बन्ध-तत्त्व की माया का ही प्रसार है।

रूप-परिवर्तन और उसके कारण

शब्दों और पदों के रूप एक से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन होता रहता है। रूप-परिवर्तन ध्वनि-परिवर्तन के बहुत समीप है। दोनों में साधारणतया अंतर नहीं ज्ञात होता। इसका कारण यह है कि दोनों ही के कारण शब्द या पद के रूप में परिवर्तन आ जाता है। फिर भी दोनों के कुछ अंतरों पर यहाँ विचार किया जा सकता है।

रूप परिवर्तन और ध्वनि परिवर्तन में अंतर

ध्वनि-परिवर्तन में प्रमुखतः शब्द से कोई संबन्ध नहीं रहता अपितु स्वतंत्र रूप से ध्वनि तत्त्व में परिवर्तन होता है। रूप परिवर्तन का सम्बन्ध शब्द (जिसमें रूप भी शामिल है) से है। ध्वनि परिवर्तन का एक नियम लगभग सर्वत्र आने वाले उस ध्वनि-तत्त्व पर लागू होता है। आगे हम ध्वनि नियम आदि में देखेंगे कि एक ध्वनि-तत्त्व में परिवर्तन आरंभ हुआ तो सामान्य ध्वनि-तत्त्व रूप से पूरी भाषा के उस ध्वनि विशेष को प्रभावित करता है पर रूप-परिवर्तन का इस प्रकार सामान्य ध्वनि-तत्त्व से कोई सम्बन्ध

नहीं। वह केवल एक शब्द के ही रूप तक सीमित रहता है। इस प्रकार रूप-परिवर्तन का क्षेत्र बहुत संकुचित है, पर इसके विरुद्ध ध्वनि-परिवर्तन में भाषा का पूरा संस्थान परिवर्तित हो जाता है। अतः वह बहुत व्यापक है। ध्वनि-परिवर्तन होने पर पुराने अवशेष बहुत कम मिलते हैं पर रूप-परिवर्तन होने पर भी बहुधा पुराने रूप मिलते हैं और उनका प्रयोग भी होता रहता है।

रूप-परिवर्तन

भाषा में रूप के सम्बन्ध में दो प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। नियम के विरुद्ध अपवाद-स्वरूप जितने रूप होते हैं वे सामान्य मस्तिष्क के लिए बोझ ज्ञात होते हैं, अतः इस भार से मुक्त होने के लिए लोग नियमानुकूल अर्थात् पुराने नियम के आधार पर नया रूप बना लेते हैं और पुराने को छोड़ देते हैं। पर साथ ही दूसरी ओर अभिव्यंजना की सुविधा के लिए बिल्कुल नए रूप तथा सम्बन्ध तत्त्व भी बनते रहते हैं।

इन दोनों ही प्रवृत्तियों में रूप-परिवर्तित हो जाता है।

परिवर्तन का कारण

(१) उपर्युक्त दो प्रवृत्तियों में से प्रथम का प्रधान कारण सरलता या आसानी है। इस आसानी को प्राप्त करने के लिए बहुधा सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है। अंग्रेजी की बली क्रियाएँ इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्बल होती जा रही हैं। पूर्वीय के लिए पौरस्त शब्द अपने यहाँ था पर इधर पाश्चात्य के सादृश्य पर पौर्वात्य—एक नया रूप दिखाई दे रहा है।

(२) भूल या स्मरण शक्ति की कमजोरी के कारण भी कभी लोगों को पुराने रूप स्थान पर सादृश्य-प्रभूत नवीनरूपों का प्रयोग करना पड़ता है।

(३) अज्ञान भी इसका एक प्रधान कारण है। बच्चों में यह बात प्रधान रूप से देखी जाती है। कम पढ़े लिखे लोग तथा अन्य भाषा-भाषी भी ऐसी अशुद्धियाँ अधिक करते हैं, यद्यपि इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता, क्योंकि कुछ दिन बाद लोग सीख जाते हैं। यहाँ के अंग्रेजी पढ़ने वाले आरम्भ में (ox) का (oxes) बना लेते हैं पर बाद में सुधार कर (oxen) का प्रयोग करने लगते हैं। हिन्दी में 'करा' और 'किया' की अशुद्धि भी इसी प्रकार की है।

(४) दूसरी प्रवृत्ति में भी साहश्य ही कार्य नहीं करता है। पर प्रथम से कम। बहुधा वहाँ किसी अन्य (नवीन) आधार पर रूप परिवर्तन होता है। जब साहश्य के कारण सभी रूप एक से हो जाते हैं तो अर्थ की स्पष्टता नहीं आ पाती, अतः नवीन सम्बन्ध-तत्त्व एवं रूप अपेक्षित होते हैं। इधर हिन्दी की बोल चाल की भाषा में उत्तम पुरुष एक वचन का रूप 'मैं' प्रायः लुप्त सा हो रहा है और उसके स्थान पर बहुवचन का 'हम' शब्द प्रयुक्त हो रहा है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि अर्थ में अस्पष्टता रहेगी अतः स्पष्टता लाने के लिए बहुवचन में 'लोग' शब्द जोड़ा जाने लगा है। हम जा रहे हैं, और हम लोग जा रहे हैं। मैं के स्थान पर हम और हम के स्थान पर हम लोग अभी लिखित भाषा में नियमतः स्वीकार नहीं हुए हैं पर हो ही जायेंगे। अवधी में संज्ञा के प्रथमा के रूपों में भी यही बात थी। अब अस्पष्टता को हटाने के लिए '—न' जोड़ा जाने लगा है। घोड़ा-घोड़ना, मनई-मनइन। हिन्दी के परसर्गों का प्रयोग इस साहश्य-प्रभूत अस्पष्टता को मिटाने के लिए ही होने लगा था।

उपर्युक्त ४ कारणों में प्रथम तीन तक कारणों की आत्मा कम से कम प्रयास करने की इच्छा है, तथा परिवर्तन का आधार साहश्य है, पर चौथे में परिवर्तन का आधार लगभग नवीन है और कारण अस्पष्टता को मिटाना है।

इस प्रकार एकरूपता और अनेकरूपता की दौड़ साथ-साथ होती है, और उनके बीच में रूप परिवर्तन पलता रहता है।

———

पाँचवाँ अध्याय

ध्वनि-विचार

ध्वनि-अवयव

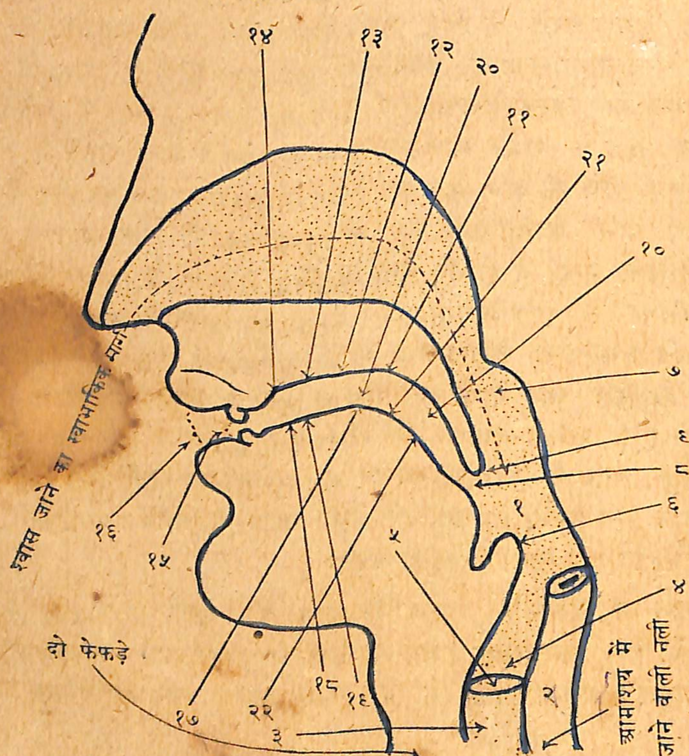
श्वास-नालिका, भोजन-नालिका और अभिकाकल

हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि नीचे के चित्र में दिखलाया गया है श्वास श्वासनालिका में होती हुई फेफड़ों मेंपहुँचाती है। उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वासनालिका के पीछे भोजननालिका है जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों (श्वास तथा भोजन) नालिकाओं के बीच में दोनों को पृथक करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नालिका के विवर के साथ श्वास-नालिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है, जिसे अभिकाकल या स्वरयंत्रमुखआवरण (Epiglottis) कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नालिका के मुख के पास आता है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वास-नालिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नालिका में चला जाता है। यदि श्वास-नालिका बन्द न हो तो, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नालिका में चला जायेगा और मनुष्य की तुरंत ही मृत्यु हो जायेगी। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण अन्न के एक आध टुकड़े श्वास नालिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी सरक जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवत: इसी लिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नालिका को खुला रहना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह द्वारा होता हुआ भोजन-नालिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका विवर में होते हुए श्वास-नालिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का

ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्क-प्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिये भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाक से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नालिका के साथ साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं, जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता (Spontaneous Nazalization) हो जाती है, (सर्प—साँप, वक्र—बाँका) जो इसी बात को प्रदर्शित करती है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी स्वाभाविक है।

ध्वनि-यंत्र का चित्र



१. श्वास नालिका (Wind pipe)
२. भोजन नालिका (Gullet)
३- स्वर यंत्र (Larynx)
४. स्वरयंत्र मुख (Glottis) या काकल
५. स्वर तंत्री (Vocal chord)
६. स्वरयंत्र मुख आवरण, या अभिकाकल (Epiglottis)
७. नासिका विवर (Nazal Cavity)
८. मुख विवर (Mouth Cavity)
९. अलिजिह्व या कौवा (Uvula)
१०. कंठ (Guttur)
११. कोमल तालु (Soft Palate)
१२. मूर्धा (Cerebral)
१३. कठोर तालु (Hard Palate)
१४. वर्त्स या ऊपरी मसूढ़ा (Alveola)
१५. दंत (Teeth)
१६. ओष्ठ (Lips)
१७. जिह्वा (Tongue)
१८ जिह्वा की नोक (Tip of the tongue)
१९. जिह्वाग्र (Front of the tongue)
२० जिह्वामध्य (Middle of the tongue)
२१. पश्च जिह्वा (Back of the tongue)
२२. जिह्वामूल (Root of tongue)

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्र-मुख और स्वर-तंत्री

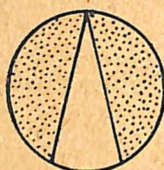
श्वास नालिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे स्वर-यंत्र कहते हैं। यहाँ श्वास नालिका कुछ मोटी होती है। स्वर-यंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले परदे होते हैं जिन्हें स्वरतंत्री कहते हैं। परदों के बीच के खुले भाग को काकल या स्वर-यंत्र-मुख कहते हैं। इसी मुख से होकर हवा आती-जाती है। पर इस मुख या काकल का स्वरूप सर्वदा एक सा नहीं रहता। जब स्वरतंत्री के परदे बहुत समीप आ जाते हैं तो बड़ा रहता है।

स्वर-तंत्री के परदे जब ढीले रहते हैं तो पुरुषों में उनकी लंबाई लगभग पौन इंच और स्त्रियों में आधा इंच होती है। तन जाने पर क्रमशः पुरुषों

और स्त्रियों में लगभग एक इंच और पौन इंच हो जाती है। बचपन में ये अपेक्षाकृत और भी छोटे होते हैं।

स्वर-तंत्री के परदे प्रमुख रूप से चार अवस्थाएँ धारण करते हैं—

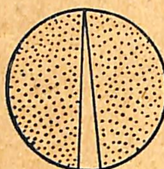
पहली अवस्था में दोनों परदे शिथिल पड़े रहते हैं। बीच में त्रिभुजाकार



[१]

स्थान छूटा रहता है। यह अवस्था उस समय की है जब हम साधारण रूप से श्वास लेते हैं, या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं।

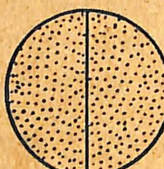
दूसरी अवस्था वह जब परदों के दोनों अधर इतने समीप आ जाते हैं कि वायु को रगड़ खाकर जाना पड़ता है। इस अवस्था में घोष ध्वनियों का



[२]

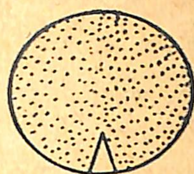
उच्चारण किया जाता है। जब स्वर-तंत्रियाँ इस दशा में रहती हैं और वायु निकलता है तो रगड़ के कारण कंपन होता है जिसका अनुभव गले पर हाथ रख कर किया जा सकता है।

तीसरी अवस्था में दोनों अधर तनकर इतने मिल जाते हैं कि रास्ता पूर्णतया बन्द हो जाता है। ऐसा करने में एक प्रकार की अन्तर्मुखी ध्वनि (click) सी आवाज होती है। इस आवाज या ध्वनि को अरबी का 'हमजा' या स्वर-यंत्रीय व्यंजन कहते हैं।



[३]

चौथी अवस्था में दोनों अधर मिलते तो हैं पर नीचे पूरे का लगभग चौथाई भाग खुला रहता है। ऐसी अवस्था में फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ



[४]

उच्चरित होती है। इस दशा में रास्ता छोटा होने के कारण ही ध्वनि धीमी हो जाती है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा

स्वरयंत्र के ऊपर उसका ढक्कन (अभिकाकल) होता है जिसके संबंध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है जिसे हम चौराहा (Crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है जहाँ से चार मार्ग (१ श्वास-नालिका, २ भोजन नालिका, ३ मुख विवर और ४ नासिका-विवर) चारो ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के नीचे अभिकाकल है उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा सा भाग उस स्थान पर होता है जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को कौवा या अलिजिह्व कहते हैं। इसका भी कार्य अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा को विभिन्न दशाओं में हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है जिसमें यह ढीला होकर नीचे गिरा रहता है। इसके गिरे रहने से मुख विवर और श्वास नालिका का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और श्वास अबाध गति से नासिका विवर से होकर आता जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए 'हँ' या 'हूँ' ध्वनि कहते है तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है। संस्कृत के शुद्ध अनुस्वार का उच्चारण भी इसी प्रकार होता था।



[१]

दूसरी अवस्था में कौवा सामने की ओर खड़ा हो

जाता है और नासिका-विवर में श्वास नालिका से आई हवा को तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुखविवर से आता जाता है। अनुनासिकेतर स्वर या व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।


[२]

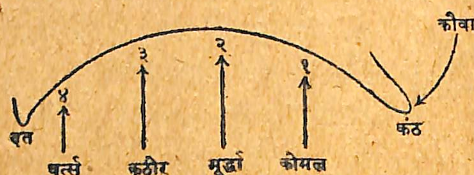
तीसरी और अंतिम अवस्था उस समय की है, जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुखविवर को। वह मध्यमें रहता है अतः श्वास, नासिका और मुख दोनों ही से होकर निकलता है अनुनासिक (स्वर तथा व्यंजन) का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।


[३]

तालु, जिह्वा, दंत और ओष्ठ

कौवा पर विचार करने के पश्चात् एक ओर नासिका-विवर है दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई ऐसा अंग नहीं है जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले अतः मुख—विवर की ओर हम आ सकते हैं।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है, जिसके कंठ-स्थान और दंत के बीच में क्रम से ४ भाग हो सकते हैं। १. कोमल तालु, २. मूर्द्धा, ३. कठोर



तालु, तथा ४. वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों का इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।



मुख विवर के निचले भाग में जिह्वा है। साधारण अवस्था में यह ढीली नीचे पड़ी है, पर बोलने में वायु-अवरोध के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। इसे पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

१=मूल ५ ४ ३ २ १ ३=मध्य

२=पश्च



४=अग्र

५=नोक

ध्वनि-उच्चारण में इन पाँचों भागों का अलग अलग महत्व है, साथ ही अभिकाकल और कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सबका सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के समय किया जा सकेगा।



मुख विवर के तीसरे प्रधान अंग दंत हैं, जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी मूल और अग्र दो भाग किये जा सकते हैं। यों तो दाँत हिल-डोल नहीं



←अग्र

←मूल

सकते पर बोलते समय आवश्यकतानुसार जबड़े से सहायता लेकर हम इनको ऊपर नीचे या आगे पीछे कर लेते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम अंग ओठ हैं। व्यंजनों में इनका कार्य अधिक नहीं होता, केवल पवर्ग के उच्चारण में ये श्वास को रोकते हैं। पर स्वरों में तो लगभग सभी के उच्चारण में इनको ऊपर नीचे जाना पड़ता है। इसका आगे यथास्थान वर्णन किया जायेगा।

ध्वनि और ध्वनियों का वर्गीकरण

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं ?

हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु भी दो प्रकार का है। एक तो वह है जो हम नाक या मुँह के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ हवा होती है। इस शुद्ध हवा, से दुःख है कि हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित

नहीं कर पाते। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि की ध्वनियों तथा अफ्रीका की क्लिक ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा साथ दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेंफड़े की गन्दगी साफ करके बाहर निकलती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा पहली का गंदा रूप मात्र है। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में यही अशुद्ध वायु हमारी सहायता करता है।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास रूप में श्वास नालिका के पथ से बाहर चलता है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वरतंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चलकर आवश्यतकतानुसार नासिका विवर, मुख विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा को हम फिर आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु दंत और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं जो बाहर आकर ध्वनि की संज्ञा पाती है।

ध्वनि मुख से निकल कर किसी के कान तक कैसे जाती है?

फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों के आन्दोलन के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर के वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहरें पैदा कर देती है। वे लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं, और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कंपन पैदा कर देती हैं। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत इस विषय पर विस्तार के साथ विचार नहीं जा सकता। यह भौतिक शास्त्र के अध्ययन का विषय है।

हम कैसे सुनते हैं?

इस बात को स्पष्ट करने के लिये संक्षेप में कान की बनावटको देख लेना अधिक सुन्दर होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा है, जिनको क्रम से वाह्य कर्ण, मध्यवर्ती कर्ण और आभ्यन्तर कर्ण कह सकते हैं।

वाह्य कर्ण के भी दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष स्थान नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नालिका के बाहरी भाग से आरंभ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नालिका की लंबाई लगभग एक इंच होती है। नालिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो वाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती है।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी सी कोठरी है जिसमें तीन हड्डियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा वाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर इनका संबन्ध आभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है।

इसके पीछे आभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं।

ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो वाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली पर कंपन उत्पन्न करती हैं। इस कंपन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है, और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि और ध्वनितत्व

किसी भी वस्तु से किसी भी तरह कुछ ऐसा हो जो किसी के द्वारा सुना जा सके तो उसे साधारणतः हम ध्वनि की संज्ञा देंगे। पानी में मछली के कूदने से या किसी के सर पर डंडा मारने से जो आवाज होगी उसे भी ध्वनि कहेंगे। इक्केवाला जब 'टिक् टिक्' की आवाज मुँह से पैदा करके घोड़े को तेज़ चलाता है तो वह भी एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करता है। पर, जहाँ तक भाषा-विज्ञान में प्रयुक्त 'ध्वनि' शब्द का अर्थ है इन तीनों में से कोई भी ध्वनि नहीं है। इसीलिये भाषा-विज्ञान-विशारदों ने साधारण ध्वनि से अपनी ध्वनि को अलग करने के लिये उसे भाषा-ध्वनि (Speech Sound) का नाम दे दिया है।

भाषाध्वनि वह ध्वनि है जिसे मनुष्य अपने मुँह के नियत स्थान से निश्चित प्रयत्न द्वारा किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिये उच्चरित करे और श्रोता जिसे उसी अर्थ में ग्रहण करें।

एक ही मनुष्य प्रत्येक 'भाषा-ध्वनि' (क, ख्, ग्, आदि भाषा-ध्वनियाँ हैं) का उच्चारण सर्वदा एक प्रकार से नहीं करता। कहा तो ऐसा जाता है कि उसका प्रत्येक बार का उच्चारण भी भिन्न होता है। 'कमलाकर कान्त की

कहानियाँ सुन्दर हैं।' वाक्य में 'क्' भाषा-ध्वनि पाँच बार आई है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस वाक्य को कहने वाला इन पाँचों 'क्' का उच्चारण भिन्न-भिन्न ढंग से करेगा। इतना ही नहीं वह केवल 'कान्त' शब्द ही पाँच बार कहे तो पाँचो बार 'क्' का उच्चारण पाँच प्रकार से होगा। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से 'क्' के ये भिन्न-भिन्न रूप अलग-अलग 'भाषा-ध्वनियाँ हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से इनको एक माना जाता है, और इन सबके लिए एक ही लिपि चिह्न 'क्' का प्रयोग होता है। यह 'क्' 'भाषा-ध्वनि' क ध्वनि श्रेणी, ध्वनितत्व या ध्वनिग्राम (Phonemes) कहलाती है, क्योंकि इसके अंतर्गत 'क्' के उपर्युक्त अनेकों रूप आ जाते हैं।

ध्वनितत्व (Phoneme) मिलती-जुलती अनेक भाषा ध्वनियों (जैसे ऊपर की अनेक 'क्' भाषा-ध्वनियाँ) की प्रतीक वह एक ध्वनि है जिसका खंड न हो सके। 'राम' शब्द में र्+आ+म्+अ ये चार ध्वनि-तत्व हैं।

यों तो ध्वनितत्व अनेक हो सकते हैं पर प्रत्येक भाषा अपनी आवश्यकता-नुसार उनकी संख्या परिमित कर लेती है। वैज्ञानिक दृष्टि से उचित तो यह है कि एक ध्वनितत्व (Phoneme) के लिये एक लिपि चिह्न हो पर ऐसा कम भाषाओं में है। स्पेन, बोहेमिया और पोलैन्ड की भाषाओं को छोड़ कर शेष सभी भाषाओं में कुछ ध्वनितत्वों (Phonemes) के लिये तो दो या तीन चिह्न हैं, (अंग्रेजी के Son Sun बीच के 'अ' ध्वनितत्व o और u दोनों से इन शब्दों में प्रकट किए गये हैं। आज की हिन्दी में निराश और कोष के अंत में आने वाला 'श' ध्वनितत्व एक है पर श और ष दो चिह्नों का प्रयोग होता है।) और दूसरी ओर कुछ के लिये चिह्न हैं ही नहीं (अंग्रेजी में महा प्राण ध्वनितत्वों के लिये चिह्न नहीं है। हिन्दी की बोलियों में कुछ नए ध्वनितत्व—ह्रस्व ए, ल्ह न्ह म्ह—हैं जिनके लिये अभी अब तक हमारे पास चिह्न नहीं हैं)।

ऊपर के विचारों को थोड़े में यों कहा जा सकता है कि संसार में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ हैं, पर भाषा में केवल 'भाषा-ध्वनि' कार्य करती है। यह भाषा-ध्वनिभी भिन्न-भिन्न प्रकारसे उच्चरित होती है, इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से मिलती-जुलती भाषा ध्वनियों को एक मान कर उसे ध्वनितत्व का नाम दिया गया है।

भाषा-विज्ञान के अंतरगत ध्वनि रूप में इसी ध्वनितत्व[1] का विवेचन किया जाता है, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनितत्व शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये। पर यह शब्द बड़ा है, अतः इसके स्थान पर ध्वनि का ही प्रयोग किया जाता है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

घोष और अघोष

'हम कैसे बोलते हैं?' इस पर विचार करते समय हम देख चुके है कि फेफड़े से बाहर निकलते समय श्वास ध्वनियंत्र में आने के पूर्व तक अविकारी रहता है। ध्वनियंत्र ही वह पहला स्थान जहाँ ध्वनि-वैभिन्य होता है। यहाँ दो बातें संभव हैं। या तो स्वर-तंत्रियाँ ढीली पड़ी रहती हैं और बिला किसी प्रकार की रुकावट, श्वास निकल जाता है। या फिर स्वरतंत्रियाँ कड़ी होकर रोकती हैं और श्वास को संघर्ष कर निकलना पडता है। पहले प्रकार के असंघर्षी श्वास से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे अघोष कहते हैं, क्योंकि संघर्ष न होने से घोष नहीं होता। दूसरा संघर्षी श्वास संघर्ष के कारण घोष करता हैं अतः उससे उत्पन्न ध्वनि को घोष कहते हैं।

ये घोष और अघोष, ध्वनियों के दो मूल वर्ग हैं। दोनों कान बन्द कर या गले पर हथेली रख कर जाने जा सकते हैं। आजकल लैरिंगोस्कोप या काइमोग्राफ[2] से इनका अंतर और भी स्पष्ट देखा जाता है।

सभी स्वर घोष हैं, पर उनका फुसफुसाहट वाला रूप अघोष होता है। व्यंजनों में कुछ घोष हैं और कुछ अघोष।

स्पर्श

स्वास स्वर-यंत्र से घोष या अघोष होकर निकलता है, तो उसकी दो अवस्थाएँ संभव हैं। १. मुख-विवर में कुछ रुकावट हो, २. मुख-विवर में से स्वतंत्रता से निकल जाय। इन दोनों में से प्रथम की पुनः दो दशाएँ संभव हैं। १. रुकावट पूर्ण हो, २ रुकावट अधूरी हो।

---

१. ध्वनितत्व शब्द Phoneme का हिंदी अनुवाद है। इसके लिये हिन्दी में ध्वनिमात्र, ध्वनि-श्रेणी, ध्वनि-ग्राम आदि शब्द भी प्रचलित हैं, पर यह शब्द मुझे अधिक उपयुक्त लगा। इसी प्रकार इस पुस्तक में Semanteme के लिये अर्थतत्व और Morpheme के लिए रूपतत्व का प्रयोग हुआ हैं। २. इन दोनों का परिचय परिशिष्ट में है।

पूर्ण रुकावट वाली ध्वनियों में जिह्वा की सहायता से श्वास को मुख-विवर में तालु पर या ओठों की सहायता से ओठ पर पूर्ण रूप से रोक कर फिर झटके के साथ खोलते हैं, तब ध्वनि सुनाई पड़ती है। इन ध्वनियों का नाम स्पर्श इसलिये है कि श्वास को रोकने के लिये तालु का जिह्वा से या ओठ का ओठ से स्पर्श कराना पड़ता है।

स्पर्शों का वर्गीकरण

स्पर्श ध्वनियों के वर्गीकरण के संबन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि स्पर्श तालु के किस भाग में हुआ। यों तो स्पर्श विन्दु अनेक हो सकते हैं, पर साधारणतया पाँच माने गये हैं। इन पाँचों का नाम तालु के उन भागों पर आधारित किया गया है जहाँ स्पर्श होता है। क्रम से एक एक को ले सकते हैं। (उदाहरण के लिये यहाँ हिन्दी ध्वनियों को लिया जायगा।)

(१) कंठ्य (Velar)

कंठ्य स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियंत्र से आये घोष या अघोष श्वास को हम कंठ के पास रोक कर झटके से मुक्त करते हैं। ऐसा करने के लिए जिह्वा के पश्च भाग को उठाकर कोमल तालु से स्पर्श कराते हैं। इसीलिये इसे कंठ्य स्पर्श कहना वैज्ञानिक[१] नहीं कहा जा सकता। इसका उचित नाम 'कोमल तालव्य स्पर्श' होगा। हिन्दी कवर्ग इसी के अन्तर्गत आता है।

(२) मूर्द्धन्य (Cerebral)

इसमें स्पर्श-विन्दु और आगे चला आता है। तालु के बिचले भाग से जिसे मूर्द्धा कहते हैं, जिह्वा का अग्र भाग ऊपर उठ कर मिलता है। मिलते समय कुछ भाषाओं जीभ की नोक उलट जाती है और कुछ में नहीं। हिन्दी भाषा का टवर्ग इस में है, जिसके उच्चारण में जिह्वा उलट कर स्पर्श करती है।

---

१. प्राचीन काल में इसका उच्चारण कंठ से होता था अतः अब तक यह इसी नाम पुकारा जाता है।

(३) तालव्य (Palatal)

तालव्य-स्पर्श-ध्वनियों के उच्चारण में कठोर तालु से जीभ का अगला भाग ऊपर उठकर मिलता है। स्पर्श बिन्दु के कठोर तालु पर होने से इसका नाम तालव्य है। हिन्दी का चवर्ग इसके अंतरगत आता है, पर वह अब शुद्ध रूप में स्पर्श नहीं रह गया है। उसके उच्चारण में स्पर्श के साथ-साथ घर्षण भी होता है अतः इसे लोग तालव्य स्पर्शी न कह कर तालव्य संघर्ष स्पर्शी कहने लगे हैं। पहले इसका स्पर्श विन्दु मूर्द्धा और कंठ के बीच में कहीं होता था, पर अब यह आगे चला आया है।

(४) दंत्य (Dental)

यहाँ स्पर्श-विन्दु दाँतों के मूल के कुछ ऊपर चला आता है। जिह्वा का नोक ऊपर उठ कर दाँतों से मिलता है। हिन्दी का तवर्ग दंत्य है, पर उसकी न् ध्वनि वर्त्स्य हो गई है, अर्थात् न् के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपरी मसूढ़े पर स्पर्श करती है।

(५) ओष्ठ्य (Labial)

इसमें जिह्वा का काम नहीं रहता। दोनों ओष्ठों से श्वास रोका जाता है। इसी कारण इसे ओष्ठ्य स्पर्श कहते हैं। हिन्दी का पवर्ग इसी में आता है।

अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक

उपर्युक्त पाँच प्रकार के स्पर्शों के और भी भाग किए जाते हैं। हम आरम्भ में ही कह चुके हैं कि स्पर्शों के उच्चारण के लिये आने वाला श्वास स्वर तंत्रियों के प्रभाव से घोष या अघोष होकर आता है। अतः इन पाँचों में प्रत्येक के मोटे-मोटे दो भेद हो गए—१. घोष स्पर्श, २. अघोष स्पर्श। अघोष स्पर्श के भी प्राणत्व के आधार पर दो भेद होंगे। १. अघोष अल्पप्राण स्पर्श (जिसमें ह ध्वनि न हो। जैसे क, त) २. अघोष महा प्राण स्पर्श (जिसमें ह

ध्वनि हो। जैसे ख, थ)। दूसरी ओर घोष स्पर्श के तीन भेद होते हैं। दो तो अघोष की भाँति प्राणत्व के आधार पर। १. घोष अल्प प्राण स्पर्श (ग, द आदि), २. घोष महा प्राण स्पर्श (घ ध आदि)। तीसरा भेद अनुनासिक है (ङ ण आदि), जिसे घोष अनुनासिक कह सकते हैं। इनके उच्चारण में कौवा बीच में रहता है जिसके फलस्वरूप थोड़ा-थोड़ा स्वास मुँह और नाक दोनों से निकलता है। इन पाँच अनुनासिकों के अतिरिक्त उपर्युक्त २० स्पर्शों के उच्चारण में कौवा नासिका-विवर को बन्द किये रहता है अतः श्वास केवल मुँह से निकलता है।

इस प्रकार ऊपर के कंठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य, दंत्य और ओष्ठ्य इन पाँचों स्पर्श वर्गों में से प्रत्येक वर्ग के निम्न पाँच भेद हुए :—

१. अघोष अल्पप्राण (क त प आदि)
२. अघोष महाप्राण (ख थ फ आदि)
३. घोष अल्पप्राण (ग द ब आदि)
४. घोष महाप्राण (घ ध भ आदि)
५. अनुनासिक या घोष अल्पप्राण अनुनासिक (ङ न म आदि)

पार्श्विक, लुंठित और संघर्षी

ऊपर हम उन ध्वनियों पर विचार कर रहे थे जिनके उच्चारण में श्वास को बिल्कुल रोक कर छोड़ा जाता है। यहाँ उस दूसरे वर्ग पर विचार जायेगा जिसके उच्चारण में रुकावट पूर्ण नहीं रहती।

पार्श्विक ध्वनि का इस वर्ग में प्रथम स्थान है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक को उपर्युक्त वर्त्स्य अनुनासिक ध्वनि न् की भाँति ऊपर के मसूड़े से मिलाते तो हैं, पर दोनों ओर रास्ता खुला रहता है, जिसके कारण दोनो ओर से श्वास निकलता रहता है। हिन्दी की 'ल्' ध्वनि इसके उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। अंग्रेजी के 'ल्' ध्वनि की भी प्रकृति लगभग यही है।

लुंठित ध्वनि में भी जीभ की नोक मसूड़े पर जाती है, पर वहाँ दो तीन बार जल्दी जल्दी श्वास को रोक कर छोड़ देती है। हिन्दी या अंग्रेजी की र् ध्वनि इसके अंतर्गत है।

इस श्रेणी का तीसरा विभाग संघर्षी ध्वनियां का है। इसमें मुख-द्वार को इतना सँकरा कर देते हैं कि श्वास संघर्ष करके या रगड़ खाकर निकलता

है। संघर्षी के अंतर्गत प्रथम श्रेणी ऊष्मों की है। हिन्दी के स श (ष) आदि ऊष्म हैं। इनके उच्चारण में जीभ मसूढ़े या कठोर तालु के पास रास्ता सँकरा करती है। ऊष्म ध्वनियों की एक विचित्र विशेषता यह है कि बिना स्वर के भी इनका उच्चारण चाहे जितनी भी देर तक किया जा सकता है। संस्कृत में स् श् ष् तीन ऊष्म हैं, जो संघर्ष स्थान के कारण दन्त्य, तालव्य और मूर्द्धन्य कहलाते हैं। आज हिन्दी में इनके उच्चारण में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। दन्त्य वर्त्स्य हो गया है और मूर्द्धन्य तालव्य हो गया है।

अरबी की फ़् थ़् द़् आदि, फारसी की ख़् ग़् आदि तथा अंग्रेजी की फ़् व़् झ़् आदि ध्वनियाँ भी संघर्षी हैं।

ह् ध्वनि भी संघर्षी है, पर इसका संघर्ष मुख द्वार में न होकर स्वर-यंत्र मुख में होता है।

अर्द्धस्वर

कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके उच्चारण में मुखद्वार सँकरा तो करते है पर इतना अधिक नहीं कि रगड़ हो। इस प्रकार ये ध्वनियाँ अर्द्धस्वर या अर्द्धव्यंजन कही जा सकती हैं। क्योंकि ये दोनों के बीच में पड़ती हैं। इसमें य् व् दो ध्वनियाँ हैं। य् में मुख-द्वार तालु के पास जीभ के ऊपरी भाग से सँकरा किया जाता है। व् में कोमल तालु और ओष्ठ दोनों के पास पथ सँकरा किया जाता है। अमूमन इन्हें कहा तो जाता है अर्द्धस्वर पर इनकी गणना व्यंजनों में होती है।

यहाँ तक हम जितनी ध्वनियों पर विचार कर चुके व्यंजन कही जाती हैं। व्यंजन की पुरानी परिभाषा यह थी कि जिसका उच्चारण बिना स्वर की सहायता के न हो सके। पर, यह नितान्त अशुद्ध है। हिन्दी के अधिकतर शब्दों के अन्त के अकारान्त व्यंजन बिना स्वर के उच्चरित होते हैं। जैसे राम् दाल् आदि। इसकी दूसरी परिभाषा यह हो सकती है कि जिसका उच्चारण देर तक न हो सके, (देर तक किसी व्यंजन का उच्चारण करने से स्वर का उच्चारण सुनाई पड़ने लगता है।) पर ऊपर हम कह चुके हैं कि ऊष्मों का उच्चारण देर तक बिना स्वरों की सहायता के किया जा सकता है, अतः यह परिभाषा भी ठीक नहीं।

व्यंजन-ध्वनियों के अध्ययन में हम देख चुके हैं कि उनके उच्चारण में श्वास के बाहर आने में कुछ न कुछ व्याघात अवश्य उपस्थित होता है। स्पर्श में तो व्याघात पूर्ण होता है पर शेष में अधूरा। अतः उसके आधार

पर हम कह सकते हैं कि **'व्यञ्जन वह अघोष या घोष ध्वनि है जिसके निकलते समय मुख-विवर में पूर्ण या अपूर्ण बाधा उपस्थित हो।'**

स्वर

स्वर-तंत्रियों से वायु के चलने पर बीच में जिन ध्वनियों के उच्चारण में बाधा होती थी, उन पर विचार करने पर ऐसी ध्वनियाँ बँच जाती हैं, जिनके उच्चारण में मुख-विवर में बाधा नहीं उपत्थित की जाती। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वरतंत्री से अघोष घोष दोंनों ध्वनियाँ निकलती हैं। मुख विवर से अबाध रूप से निकल जाने वाली अघोष ध्वनि को स्वर कहते हैं। फुसफुसाहट वाले स्वरों का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है अतः यहाँ केवल स्वरों पर विचार किया जायेगा।

प्रश्न यह उठता है कि स्वरतंत्री से निसृत घोष ध्वनि तो एक ही प्रकार की होतीं होगी, आगे चलने पर मुख विवर में कोई रुकावट होती नहीं तो फिर भिन्न-भिन्न स्वरों की भिन्न-भिन्न ध्वनि कैसे बनती है। साथ ही अपनी भिन्नता के आधार पर इनके कितने वर्ग हो सकते हैं। यहाँ वर्गीकरण में किसी विशेष भाषा के स्वरों पर विचार न करके प्रधान स्वर (Cordinal Vowels) पर विचार किया जावेगा।

स्वरों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से किया जाता है :—

(१) जीभ का कौन सा भाग ऊपर उठता है ?

स्वरों को भिन्नता प्रदान करने में जीभ का बहुत बड़ा हाथ है। इस दृष्टिकोण से जीभ को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। १. अग्र २. मध्य और ३. पश्च। जिन स्वरों के उच्चारण में अग्र भाग ऊपर उठता है उन्हें अग्र स्वर कहते हैं। इसी प्रकार पश्च भाग उठाकर बोले जाने वाले स्वरों को पश्च स्वर कहते हैं। मध्य स्वर में कोई भाग नहीं उठता अपितु, बीच का भाग कुछ धँस जाता है।[1]







---

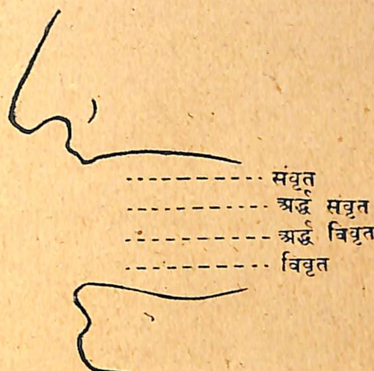
१. बीच में धँसने का कारण यह है कि मध्यस्वर के उच्चारण में अग्र और पश्च दोनों भाग थोड़ा ऊपर उठ जाते हैं।

(२) जीभ का ऊपर उठने वाला भाग कितना उठता है ?

ऊपर के तीन भागों में से प्रत्येक के और भाग इस आधार पर हो सकते है कि उठने वाला भाग कितना उठता है।

जब जीभ कम से कम उठती है और इस कारण मुख विवर अधिक विवृत रहता है तो स्वर को विवृत स्वर कहते हैं।

जब जीभ अधिक से अधिक ऊपर उठती है पर इतना अधिक नहीं कि श्वास को बाहर निकलने में संघर्ष करना पड़े तो मुख-विवर बहुत पतला या संवृत हो जाता है और उस समय के उच्चरित स्वर को संवृत कहते हैं। ये दोनों दो अंतिम सीमाएँ हैं। बीच में अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत दो और दशाएँ हो सकती हैं।



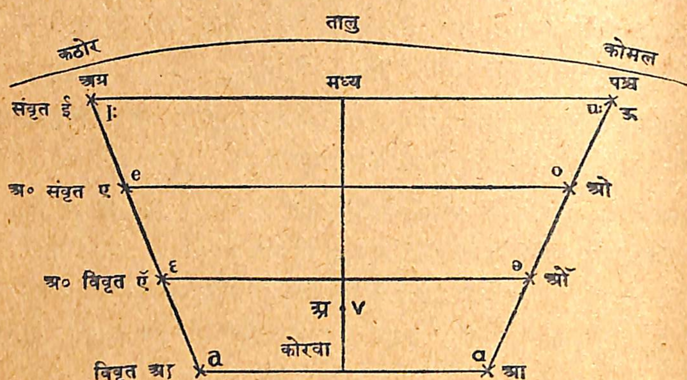
(३) ओष्ठों की बनावट कैसी है ?

यह दृष्टिकोण अपना बहुत महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। विभिन्न स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की बनावट परिवर्तित होती रहती हैं। जिनके कहने में ओष्ठ गोल हो जाते हैं उनको वृत्तमुखी (Rounded) और जिनमें गोल नहीं होते उनको अवृत्तमुखी (unrounded) कहते हैं। ऊ तथा ओ आदि वृत्तमुखी और इ तथा ए आदि अवृत्तमुखी हैं।

प्रधानस्वर

ध्वनिशास्त्र के प्रसिद्ध मनीषी प्रो० डैनियल जोन्स ने इन्हीं आधारों पर प्रधान स्वरों (Cordinal Vowels) को निश्चित किया है। इन्हें कुछ

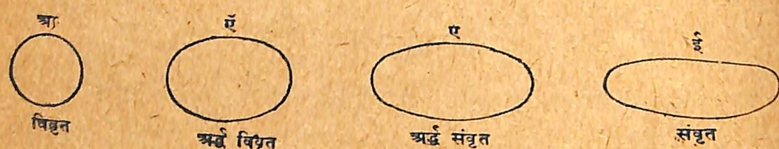
लोग मान स्वर भी कहते है। इनका चित्र इस प्रकार हैं —



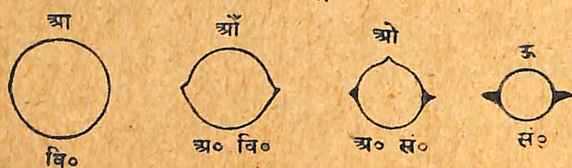
मध्य को छोड़कर इनकी संख्या आठ है। ये किसी विशेष भाषा में नहीं पाये जाते। भाषा विज्ञान की दृष्टि से सभी भाषाओं के स्वरों का स्थान निश्चित करने में मान के रूप में इनसे सहायता मिलती है। स्वर-वर्गीकरण के लिए दिए गए ऊपर के प्रथम दो सिद्धान्तों पर ही ये आधारित हैं।

प्रधान स्वरों में ओठों का स्वरूप

इस सम्बध में जीभ तथा तालु की अवस्था पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं यहाँ ओठों पर विचारकिया जायेगा। अग्र स्वरों में विवृत से संवृत की ओर हम ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं, ओठ अधिकाधिक फैलते जाते हैं। इनमें प्रथम



तो वृत्तमुखी हैं और शेष अवृत्तमुखी। दूसरी ओर पश्चस्वरों में विवृत से



संवृत की ओर जाने में वे अधिकाधिक गोल होते जाते हैं अतः इनमें लगभग सभी वृत्तमुखी हैं।

वर्गीकरण पर एक दृष्टि

उपर्युक्त अध्ययन को सार रूप में कहा जा सकता है कि ध्वनियों के वर्गीकरण के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

१. स्वर-तंत्रीय प्रयत्न—इसके अनुसार ध्वनियों के घोष और अघोष दो वर्ग हो जाते हैं। हिन्दी ध्वनियों में सभी स्वर, पंच स्पर्श वर्गों के अंतिम ३ व्यंजन (ग् घ ङ, ज् झ् ञ्, ड् ढ् ण्, द् ध् न्, ब् भ म्) तथा ह् य् र् ल् व् घोष हैं। शेष सभी (फुसफुसाहट वाले स्वर, क् ख च छ् ट् ठ् त् थ् प् फ् स् श् और विसर्ग) अघोष हैं।

२. आभ्यन्तर प्रयत्न ((degree of openness)—इसके अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो वर्ग हो जाते हैं। इसके बाद स्वर के अग्र मध्य पश्च, तथा संवृत, अर्द्ध संवृत, अर्द्ध विवृत और विवृत आदि भाग हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, स्पर्श संघर्षी, अनुनासिक, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त (जिसमें मुख द्वार को जीभ की नोक उलट कर झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर खोलते हैं। जैसे हिन्दी के ड़् ढ़्) और संघर्षी आदि भेद होते हैं।

३. उच्चारण स्थान—इस आधार पर ध्वनियों के स्वर यंत्रमुखी, जिह्वामूलीय (फारसी के ख़ ग़ आदि जिनका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के बीच में हवा को संघर्ष के साथ निकाल कर किया जाता है।), कंठ्य, मूर्द्धन्य, तालव्य, वर्त्स्य दंत्य, दंत्योष्ठ्य (फारसी के फ़ आदि) और द्वयोष्ठ्य आदि भेद होते हैं।

४. प्राणत्व के आधार पर स्पर्श और स्पर्श संघर्षी के अल्प प्राण और महाप्राण दो भेद होते हैं।

५. लगभग सभी स्वरों तथा व्यंजनों का अनुनासिक रूप भी हो सकता है। साधारणतया अननुनासिक व्यंजनों तथा स्वरों के उच्चारण के समय कौआ सीधा खड़ा होकर नासिका-विवर की ओर श्वास नहीं जाने देता, अतः पूरा श्वास मुँह से आता है। स्वरों तथा व्यंजनों को अनुनासिक रूप देने के लिए कौआ इस प्रकार बीच में आजाता है कि थोड़ा श्वास नासिका से तथा थोड़ा मुख से निकलता है। इस प्रकार उनके उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है।

क्लिक (Clicks) ध्वनियाँ

क्लिक ध्वनियाँ क्या हैं ?

अब तक हम उन ध्वनियों के वर्गीकरण पर विचार कर रहे थे जिनका उच्चारण श्वास को भीतर से बाहर निकाल कर किया जाता है। पर इसके उलटे संसार में कुछ ऐसी भी भषाएँ हैं जिनमें श्वास को भीतर खींचते समय उच्चारण किया जाता है। ऐसी ध्वनियाँ क्लिक कहलाती हैं। ये ध्वनियाँ अफ्रीका की कई भाषाओं में कुछ-कुछ पाई जाती हैं, पर बुशमैन भाषा परिवार (दक्षिणी अफ्रीका) की भाषाओं में तो इनका प्राधान्य है। एक पादरी ने, जिसे इनके अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ इनके विषय में लिखा है कि ऐसी ध्वनियों का प्रयोग करने वाले बोलते समय भूँकते हुए ज्ञात होते हैं।

भारोपीय भाषाओं में क्लिक ध्वनियाँ

यह सुनकर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि भारोपीय परिवार की भाषाओं में भी कुछ क्लिक ध्वनियाँ हैं। कुछ विद्वानों का तो ऐसा मत है कि प्रागैतिहासिक काल में भारोपीय कुल में और भी अधिक क्लिक ध्वनियाँ थीं। धीरे-धीरे उनका लोप हो गया।

आज एक ऐसी भी ध्वनि है जो प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक जाति में लगभग एक ही प्रकार से उच्चरित की जाती है और उसका अर्थ भी सर्वत्र एक ही है। यह ध्वनि चुम्बन की है, जिसका अर्थ प्यार होता है। यह भी एक प्रकार की क्लिक ध्वनि है। दुःख है कि मानव की इस सर्वमान्य एवं सर्वप्रिय ध्वनि का भाषा में स्थान नहीं है न, तो इसके लिए कोई लिपि चिह्न ही है।

भारोपीय कुल की अनेक भाषाओं में घृणा संतोष, दुःख आदि के प्रदर्शन के लिये क्लिक ध्वनियों का अब भी प्रयोग होता है यद्यपि भाषा में उसको स्थान नहीं दिया गया है।

आधुनिक ब्रिटन में 'हम प्यार करते हैं' के लिये एक शब्द केरोम (Karom) का केरोम्प (Karomp) हो गया है। वेन्द्रिय का कहना है कि यह पी (p) का बढ़ना क्लिक ध्वनि के कारण है। फ्रान्सीसी भाषा में संदेह प्रकट करने के लिये टी (t) की एक प्रकार की क्लिक ध्वनि प्रचलित है। टी (t) की ही वर्त्स्य क्लिक ध्वनि का प्रयोग वहाँ आश्चर्य प्रकट करने के लिये होता है।

हिन्दी में भी क्लिक ध्वनियाँ कम नहीं हैं। काँटा गड़ जाने पर या साधारण चीड़-फाड़ में जिसमें बेहोश नहीं किया जाता हम 'सी' ध्वनि द्वारा अपना दुःख प्रकट करते हैं। किसी की दर्दनाक कहानी सुनकर हम करुणापूरित होकर सहसा 'च च् च् च्' कह पड़ते हैं। इक्का वाला घोड़े को टिक् टिक् ध्वनि उच्चरित करके आगे बढ़ाता है। जब कोई वस्तु हमें पसन्द नहीं आती तो अनमनस्कता के साथ अपना भाव प्रकट करने के लिये एक प्रकार की 'टक' या 'टिक' ध्वनि करते हैं। ये सभी ध्वनियाँ क्लिक हैं।

क्लिक ध्वनियों का वर्गीकरण

कुछ लोगों का कहना है कि सभी ध्वनियों का क्लिक उच्चारण हो सकता है। दो एक ध्वनियों को छोड़ कर यह बात ठीक भी है। स्पर्श ध्वनियों के क्लिक उच्चारण में स्पर्श विन्दु तो साधारण ध्वनि का ही रहेगा अंतर केवल इतना पड़ेगा कि यों भीतर से आती हुई हवा रुकती है और फिर उसका स्फोट होता है पर क्लिक स्पर्श में बाहर से जाने वाली हवा स्पर्श विन्दु पर रुकेगी और फिर उसका स्फोट भीतर की ओर होगा। इसी कारण क्लिक स्पर्शों का उच्चारण साधारण स्पर्शों भी भाँति इच्छानुसार ऊँचे स्वर का नहीं किया जा सकता। उनकी लहरें भीतर बनेगी नकि बाहर। अन्य ध्वनियों को क्लिक बनाने में भी कुछ यही कठिनाई है।

बुशमैन परिवार की भाषाओं में क्लिक ध्वनियों का बाहुल्य है, अतः उनका वर्गीकरण भी किया गया है। ये छः हैं, जिनमें से १. मूर्द्धन्य, २. तालव्य, ३. पार्श्विक, ४. दन्त्य, तथा ५. ओष्ठ्य प्रधान हैं, और इनके लिये क्रम से !, ǂ, ||, |, तथा ⊙ ध्वनि चिह्नों का प्रयोग होता है।

संयुक्त ध्वनियाँ

संयुक्त ध्वनियाँ और ध्वनि-संयोग

ऊपर हम लोग ध्वनियों के वर्गीकरण पर विचार कके हैं। वर्गीकृत ध्वनियों में से जब एक ध्वनि दूसरे से मिलती है तो उसे सयुक्त ध्वनि कहते हैं। ध्वनि-संयोग इससे कुछ भिन्न है। संयुक्त ध्वनि में दो ध्वनियाँ एक में मिलती है, जैसे पक्का (क्+क्)। पर ध्वनि संयोग में दो ध्वनिथाँ केवल पास-पास आ जाती हैं, जैसे आदमी (आ और द् पास-पास हैं)।

संयुक्त ध्वनियाँ और ध्वनि-संयोग इन दोनों ही पर यहाँ कुछ वर्गों में बाँटकर विस्तार से विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

व्यंजन और व्यंजन

व्यंजन-संयोग में उच्चारण के संबंध में कोई विशेष बात नहीं कहनी है, क्योंकि दोनों व्यंजनों का उच्चारण बीच के स्वर के कारण अलग किया जाता है[1]। जैसे कमल में क् और म् बीच के अ के कारण अलग-अलग हैं। संयुक्त व्यंजन की समस्या अवश्य विचारणीय है। इसके मोटे रूप से दो भेद हो सकते हैं। १. एक ही व्यंजन का संयुक्त होना, जैसे पक्का। ऐसी दशा में दोनों 'क्' का उच्चारण अलग-अलग नहीं होता, (व्यंजनों के उच्चारण में साधारणतया तीन स्पष्ट अवस्थाएँ होती हैं—(क) श्वास का स्वरयंत्र से आना, (ख) स्पर्श बिन्दु पर आकर रुकना या अस्पर्श ध्वनियों में मुख विबर के विकार पैदा करने वाले स्थान पर विकृत होना, तथा (ग) स्पर्श ध्वनियां में स्फोट या श्वास का स्पर्श बिन्दु से आगे बढ़ना, तथा अन्य ध्वनियों में विकारी स्थल पार कर जाना।) केवल उसके उच्चारण की तीन अवस्थाओं में मध्य या बीच की अवस्था कुछ अधिक हो जाती है ('पक्का' में संयुक्त व्यंजन 'क्क के उच्चारण में स्वरयंत्र से उतना ही और उसी प्रकार श्वास चलेगा जैसे एक क् के उच्चारण में। तीसरी अर्थात् स्फोट की अवस्था भी एक क की भाँति ही होगी। पर दूसरी अवस्था की अवधि बढ़ जायेगी। अर्थात् श्वास को स्पर्श-बिन्दु पर अधिक देर तक रुकना पड़ेगा।)। अस्पर्श व्यंजनों के संयोग में भी इसी प्रकार केवल दूसरी अवस्था ही कुछ लम्बी हो जाती है।

दो भिन्न व्यंजनों का भी संयोग होता है। जैसे चक्र। यहाँ उच्चारण में संयुक्त व्यंजन में प्रथम व्यंजन की प्रथम अवस्था तो साधारणतः पूरे व्यंजन की भाँति होती है और दूसरी अवस्था भी लगभग स्वतंत्र और पूर्ण होती है, पर तीसरी अवस्था दूसरे व्यंजन में मिल जाती है। यहाँ क् के उच्चारण की तीसरी अवस्था र् में मिल गई है। र् के उच्चारण की तीनों अवस्थाएँ पूर्ण होती है।

भिन्न व्यंजनों में सभी का संयोग नहीं होता। सघोष और अघोष का संयुक्त होना कम देखा जाता है अगर कभी ऐसी दशा आती भी है तो उनमें से कोई एक परिवर्तित हो जाता है। दो महाप्राण ध्वनियों का संयोग भी बहुत कम होता है।

---

१. सत्य यह है कि व्यंजन संयोग होता ही नहीं। दो व्यंजन पास-पास आते हैं तो संयुक्त व्यंजन के ही रूप में।

दो भिन्न ध्वनियों के संयोग से यदि कुछ ऐसा हुआ कि उच्चारण में असुविधा पड़ रही है तो या तो एक का उच्चारण हो नहीं होता, या बीच में या पहले कुछ और आ जाता है। अंग्रेजी के टाक (Talk) नो (know) आदि में यही बात हुई है। प्राकृत में इसी कारण अधिकतर समीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है।

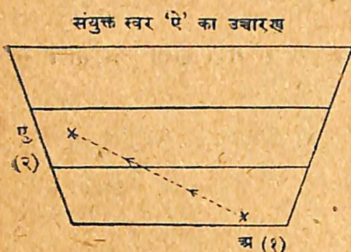
व्यंजन और स्वर

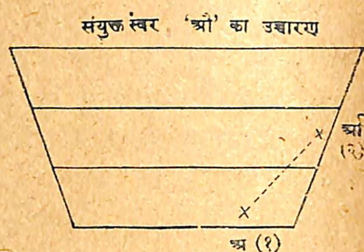
इनका संयोग तो ऊपर की भाँति साधारण है। इसके उच्चारण आदि के संबंध में कोई असुविधा नहीं। जैसे 'आय' में आ और य का स्वतंत्र उच्चारण है। इनके संयुक्त होने के विषय में कुछ बातें विचारणीय अवश्य हैं। किसी व्यंजन के पूर्व स्वर नहीं जोड़ा जा सकता। यदि व्यंजन के पूर्व स्वर रहेगा तो 'आय' की भाँति अलग-अलग रहेगा। व्यंजन के बाद में आने वाला स्वर ही जोड़ा जाता है। जैसे 'गया' में अंत में 'य्' में 'आ' जोड़ा गया है। उच्चारण के संबंध इतना हो कहा जा सकता है कि व्यंजन और स्वर के संयुक्त होने में व्यंजन की पहलो और दूसरी अवस्थाएँ स्पष्टतः स्वतंत्र रहती है पर तीसरी अवस्था स्वर में मिलकर स्वर का रूप धारण कर लेती है। 'का' और 'की' के 'क्' की प्रथम और द्वितीय अवस्थाएँ एक सी रहेंगी पर तीसरी' (स्फोटावस्था) क्रम से 'आ' और 'ई' से मिलकर तदनुरूप हो जायगी।

स्वर और स्वर

स्वरसंयोग (Vowel Combnation) औरों की भाँति साधारण है। हिन्दी में तीन तीन स्वरों तक के संयोग के उदाहरण मिलते हैं—आइएगा, पिआऊ। संयुक्त स्वर (Diphthong) में दो स्वर मिल जाते हैं। इनके उच्चारण में मुख अवयव को प्रथम स्वर के उच्चारण स्थान से दूसरे के उच्चारण स्थान की ओर शीघ्रता से ले जाते है। इस प्रकार शीघ्रता के साथ उच्चारण दोनों का होता है पर जैसा कि टकर ने लिखा है दोनों ही वहाँ मिलकर एक तीसरा रूप धारण कर लेते हैं। हिन्दी में अ और ए का शीघ्रता से इस प्रकार उच्चारण करने से 'ऐ' की की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अ और ओ से औ हो जाता है।

ऐसा भी देखा जाता हैं कि संयुक्त स्वर कभी कभी कुछ समय व्यतीत होने पर मूल स्वर हो जाते हैं। 'ए' और 'ओ' पहले संयुक्तस्वर थे पर आज मूल स्वर हो गए हैं।





ध्वनियों के गुण

(१) मात्रा काल

किसी ध्वनि विशेष के उच्चारण में काल या समय की जो मात्रा लगती है उसे उस ध्वनि का मात्रा काल कहते हैं। प्राचीन वैयाकरण केवल स्वर का ही मात्रा काल मानते थे। इसका कारण कदाचित् यह था कि उनका विश्वास था कि बिना स्वर की सहायता से व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। तो जब उसका अलग उच्चारण नहीं हो सकता तो उसके मात्रा काल का प्रश्न ही नहीं उठता। अब तो यह सिद्ध हो चुका है कि स्वर से अलग व्यंजन का भी उच्चारण हो सकता है, और जो ध्वनि उच्चरित होगी उसमें कुछ न कुछ समय अवश्य लगेगा। अतः स्वर और व्यंजन दोनों ही के मात्रा काल होते हैं।

मात्रा काल की माप

संस्कृत व्याकरणों में तीन प्रकार के मात्रा कालों का उल्लेख मिलता है। ह्रस्व दीर्घ और प्लुत। अ, इ, उ आदि की मात्राएँ ह्रस्व समझी जाती हैं और लोगों का यह अनुमान है कि एक बार चिटकी बजाने में जितना समय लगता है उतना ही समय ह्रस्व के उच्चारण में लगाना चाहिए। आ, ई, ऊ आदि की मात्राएँ दीर्घ समझी जाती हैं और इनमें दो बार चिटकी बजाने जितना समय लगा समझा जाता है। इस प्रकार ह्रस्व का दूना दीर्घ समझा जाता है, यद्यपि ऐसी बात है नहीं। दीर्घ में ह्रस्व से कुछ ही अधिक समय लगता है। प्लुत मात्रा ह्रस्व के तीन गुना समय लगने वाली समझी जाती है और तीन बार चुटकी बजाने से इसकी माप होती है। संस्कृत में साधारणः तो इसका प्रयोग नहीं होता था, पर जहाँ होता था वहाँ ध्वनि या स्वर विशेष के आगे ३ लिखकर इसे प्रकट करते थे। आज भी कुछ लोग 'ओ३म' लिखते हैं, जिसमें प्लुत की पुरानी परंपरा अक्षुण्ण है।

आज की जन भाषाओं में जब दूर से किसी आदमी को पुकारना हो तो अब भी प्लुत ही नहीं बल्कि ऐसी मात्राओं का भी प्रयोग चलता है जिसमें स्वर उतनी देर तक एक ही प्रकार से खींचा जाता है जब तक श्वास रहे। भोजपुरी में यदि भोला नाम के किसी आदमी दूर से बुलाना हुआ और चुटकी उसकी माप रखी जाय तो लिखने में 'भोला १०' तो कम से कम लिखना ही पड़ेगा। आज कल नाटकों में इसे 'भोला SSSSSS' रूप में प्रकट किया जाता है। इस प्रकार मात्रा काल के अनेक भेद हो सकते है, पर भाषा में साधारणतः अर्द्धह्रस्व, ह्रस्व, और दीर्घ का प्रयोग होता है।

व्यंजनों में मात्रा काल

ऊष्म व्यंजनों (श्, ष्, तथा स्) के उच्चारण में छोटा से छोटा और बड़ा से बड़ा मात्रा काल लग सकता है क्योंकि बिना किसी स्वर की सहायता के भी इनका उच्चारण देर तक किया जा सकता है। शेष व्यजन (क् त् प् आदि) बिना किसी स्वर के अर्द्धह्रस्व ही रहते हैं क्योंकि ह्रस्व और दीर्घ मात्रा काल तो साथ के स्वर के उच्चारण में लगता है। पर इसका आशय यह नहीं कि बिना स्वर के ये शेष व्यंजन अर्द्धह्रस्व से ऊपर उठ ही नहीं सकते। परिपक्व में क और व मिलकर ह्रस्व हो गए हैं। आशय यह है कि दो व्यंजन मिलकर ह्रस्श हो सकते है। तीन व्यंजन मिलकर दीर्घ भी हो सकते हैं, जैसे ज्योत्स्ना में त्+स्+न्।

स्वरों में मात्राकाल

ह्रस्व और दीर्घ दो भेद आसानी से स्वरों के किए जा सकते है, जिसके अनुसार अ, इ, उ, ह्रस्व हैं और आ ई ऊ ए ओ दीर्घ हैं। संयुक्त स्वर ऐ और औ भी दीर्घ माने जाते हैं। अर्द्धह्रस्व का उदाहरण अधिक नहीं मिलता। 'स्कूल' शब्द के उच्चारण करने में सुविधा के लिए 'स्क' के पूर्व एक 'इ' का हलका उच्चारण किया जाता है। मात्रा काल की दृष्टि से यह ध्वनि अर्द्धह्रस्व या अर्द्ध मात्रा वाली कही जा सकती है। अंग्रेजी शब्द गोल्डस्मिथ का उच्चारण सौकर्य के लिए गोल्डिस्मिथ किया जाता है। यहाँ ल्ड की 'इ' अर्द्धह्रस्व है। प्लुत ध्वनि पर हम विचार कर चुके हैं। कोई भी स्वर प्लुत बनाया जा सकता है।

मात्रा काल का अंकन

लिखते समय मात्रा काल व्यक्त करने के लिए कोई सर्वमान्य चिह्न नहीं

हैं। कविता में ह्रस्व के लिए '।' तथा दीर्घ के लिए 'ऽ' का प्रयोग होता है। अंतर्राष्ट्रीय लिपि चिह्न में ह्रस्व के आगे एक बिन्दु (.) और दीर्घ के आगे (:) देते हैं। हिन्दी में तो स्वरों में स्वयं इस विषय में काफी स्पष्टता है। अ का दीर्घ आ, इ का दीर्घ ई, उ का दीर्घ ऊ आदि, अतः अंकन की कोई खास आश्वयकता नहीं है। हाँ प्लुत आदि में होती है तो संख्या या 'ऽ' से प्रकट कर लेते हैं।

(२) स्वराघात (Accent)

बोलने में ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के किसी एक शब्द पर या शब्द के किसी एक भाग पर हम शेष से अधिक जोर देते हैं। ऐसा करने से अर्थ में परिवर्तन भी कभी-कभी देखा जाता है! इस जोर या आघात को स्वराघात कहते है। हाँ के उच्चारण करने में विशेष प्रकार से जोर देने पर स्वीकृति, आश्चर्य, और नकारात्मकता का बोध होता है। तुम घर अभी जावोगे का साधारण अर्थ तो सीधा है पर 'तुम' पर जोर देने से अर्थ होगा कि तुम्हीं जाओगे कोई दूसरा नहीं। 'घर' पर जोर देने पर अर्थ होगा कि तुम्हें घर ही जाना पड़ेगा और कहीं नहीं। इसी प्रकार 'अभी' और 'जाओगे' पर ज़ोर देने पर भी अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जायगी।

स्वराघात प्रधानतः दो तरह का होता है। (क) संगीतात्मक या गीतात्मक और (ख) बलात्मक।

(क) संगीतात्मक स्वराघात (pitch accent)

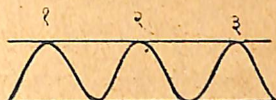
इसमें संगीत के सरगम की भाँति सुर ऊँचा या नीचा होता है। इसका सीधा संबंध स्वर तंत्रियों से है। जब स्वर तंत्रियां ढीली रहेंगी तो संगीतात्मक स्वराघात नहीं हो सकता। यह ठीक उसी प्रकार हैं जैसे तार के पूर्णतः ढीले रहने पर वीणा आदि बाजे व्यर्थ हो जाते हैं। इससे एक बात यह भी स्पष्ट है कि संगीतात्मक स्वराघात केवल घोष ध्वनियों में ही संभव है, क्योंकि अघोष ध्वनियों में स्वरतंत्रियों में तनिक भी तनाव नहीं रहता।

यों तो थोड़े बहुत दोनों ही प्रकार के स्वराघात लगभग सभी भाषाओं में होते हैं पर प्रधानता के अनुसार एक ही स्वराघात किसी भाषा की प्रकृति की विशेषता माना जाता है। इसी आधार पर कुछ भाषाएँ संगीतात्मक कही जाती हैं और कुछ बलात्मक।

संगीतात्मक स्वरघात वाली भाषाओं को यदि कोई विभाषाभाषी सुने तो

उसे ऐसा लगेगा, जैसे बोलनेवाला गा रहा हो। आज हम जब किसी चीनी या फ्रांसीसी को सुनते हैं तो कुछ ऐसा ही लगता है।

इन भाषाओं में ध्वनियों का उच्चारण सप्तक (सरगमपधनि) की भिन्न-भिन्न ध्वनियों में होता है। यह भेद निश्चित काल में लहरों की संख्या पर निभर करता है। यदि काइमोग्राफ मशीन पर 'अ' ध्वनि को 'स' सप्तक पर उच्चरित करें और मानलें कि तीन लहरें बनती हैं तो उसी 'अ' ध्वनि



को यदि 'ग' सप्तक पर उच्चरित करें तो उतनी ही ऊँचाई की उतनी ही लम्बी जगह में और अधिक लहरें बनेगीं। और यदि मान लें कि ५ लहरें



बनेगी तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा। इस लहर की वृद्धि से आघात या बल में वृद्धि प्रकट होती है।

वैदिक संस्कृत संगीतात्मक थी। उसमें संगीतात्मकता की शुद्धि पर इतना अधिक ध्यान था कि लिखने में भी इस स्वराघात के निशान लगा दिए जाते थे। अशुद्ध रूप में पढ़ना बड़ा भारी पाप समझा जाता था। उदात्त अनुदात्त और स्वरित इसके तीन भेद थे (उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः)। लिखने के लिए प्रमुख चार प्राणालियाँ थीं। उनमें भी सबसे अधिक प्रचलित ऋग्वेद की थी जिसके अनुसार उदात्त (ऊँचा स्वर) के लिए कोई चिह्न नहीं दिया जाता था, अनुदात्तरि नीचा स्वर) के लिए नीचे बेड़ी लकीर (—) दी जाती थी और स्वर्गत (समस्वर) के लिए ऊपर खड़ी पाई (।)। उदाहरणार्थ

अग्निना, देवस्यं

प्राचीन ग्रीक भी संगीतात्मक भाषा थी और उसमें उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित के लिए क्रम से ऐक्यूट (Acute), ग्रेव (Grave) तथा सरकम्पलेक्स (Circumflex) शब्द थे।

चीनी भाषा अभी आज तक संगीतात्मक है। इसमें प्रधानतः चार सुर (Tones) मिलते हैं। इस आधार पर एक ही शब्द के अर्थ सुरों म

भिन्न-भिन्न हो जाते है। उदाहरणार्थ 'येन' का प्रथम सुर (कुछ ऊँची) में अर्थ 'धूम्र', द्वितीय सुर (साधारणत प्रश्नात्मक) में 'नमक,' तृतीय सुर (तेज़ प्रश्नात्मक) में 'नेत्र' और चतुर्थ (उत्तरात्मक) में 'हंस' होगा।

हैमिटिक परिवार के भाषा वर्गों में एक फुलफुल्डे वर्ग है। इस वर्ग की भाषाएँ बन्तू से मिलती जुलती हैं। इनमें भी संगीतात्मकता का आधिक्य है और उसका अर्थ पर भी यथेष्ट प्रभाव है। यहाँ 'मिवरत' का एक सुर में अर्थ होगा 'मैं मारूँगा' पर यदि 'त' को कुछ ऊँचा करके कहा जाय अर्थात् उसके कहने में लहरों की संख्या बढ़ जाय तो 'मैं नहीं मारूँगा' अर्थ हो जायगा।

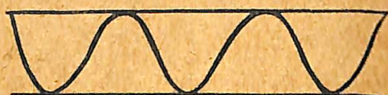
आधुनिक भारत की भाषाओं में बँगला, तथा हिन्दी की बिहारी वर्ग की ग्रामीण बोली भोजपुरी भी कुछ-कुछ संगीतात्मक है।

(ख) बलात्मक स्वराघात (Stress Accent)

संगीतात्मक स्वराघात का संबंध स्वरतंत्री से है अतः उसमें सुर ऊँचा नीचा किया जा सकता है पर बलात्मक स्वराघात का संबंध फेंफड़े से है। इसमें केवल बल के साथ उच्चारण होता है, अर्थात् फेंफड़ा तेजी से हवा फेंकता है अतः जिस पर बलात्मक स्वराघात होता है वह ध्वनि शेष से केवल अधिक जोर की सुनाई पड़ती है। पुरानी भाषाओं में अवेस्ता तथा लैटिन और आधुनिक में आधुनिक ग्रीक, फारसी तथा अंग्रेजी अपने बलात्मक स्वराघात के लिए प्रसिद्ध हैं। डां० तारापोरवाला ने लिखा हैं कि इन भाषाओं के बोलने वालों को सुनना ठीक हथौड़े की चोट जैसा लगता है। आशय यह है कि वह संगीतात्मक भाषाओं जैसा सुहावना नहीं लगता।

संगीतात्मक की भाँति बलात्मक में लहरों की संख्या में वृद्धि नहीं होती, बल्कि उनकी संख्या उतनी ही रहती है और ऊँचाई में वृद्धि हो जाती





हैं। जितनी तेजी से फेंफड़े वायु फेंकेंगे लहरां की ऊँचाई उतनी हो अधिक होगी। इसे भी काइमोग्राफ पर देखा जा सकता है।

अंग्रेजी में इसके कारण शब्दों के अर्थ में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। कनडक्ट (Conduct) शब्द में यदि बलाघात या बलात्मक स्वराघात आरंभ में होगा तो यह संज्ञा होगा और यदि बीच में डी (d) के अ पर कर दें तो क्रिया हो जायेगा। अंग्रेजी में इसका इतना अधिक ध्यान रखा जाता है कि कोष (Dictionary) में प्रत्येक शब्द पर यह स्पष्टता के साथ अंकित रहता है। इसके अंकन के लिए तिरछी पाई काम में लाई जाती है।

हिन्दी में बलात्मक स्वराघात प्रायः शब्दों के उपान्त पर होता है इसी कारण अंतिम अक्षर हल हो गए हैं। दाल्, कमल् आदि।

(ग) रूपात्मक स्वराघात

प्रधानतः उपर्युक्त दो ही स्वराघात माने जाते हैं; एक में स्वर ऊँची नीची आवाज में बोले जाते हैं और दूसरे में अधिक बल से बोले जाते हैं। यह तीसरा स्वराघात दोनों से भिन्न है। यदि दो आदमी एक ही बलात्मक और संगीतात्मक स्वराघात से बोले तो भी उनकी आवाज एक न होगी। पहचानने वाला दूर से सुनकर बतला देगा कि यह राम की आवाज है और दूसरी श्याम की। यह अंतर रूपात्मक स्वराघात के कारण है। रूपात्मक स्वराघात स्वरतंत्रियों की बनावट पर आधारित रहता है। किसी की स्वरतंत्री बड़ी रहती है किसी की छोटी। किसी भी दो आदमी की स्वरतंत्री ठीक एक प्रकार की नहीं हो सकती।

इनकी लहरों में न तो संख्या में वृद्धि होती है और न ऊँचाई में। यहाँ उनके रूप में ही परिवर्तन हो जाता है और इसी कारण इसका नाम



रूपात्मक स्वराघात है। भाषा से इस स्वराघात का संबंध न होकर बोलने में आवाज मात्र से है, इसी कारण इसका अध्ययन साधारणतया नहीं किया जाता पर काइमोग्राफ के चित्रों पर यह देखा अवश्य जा सकता है।

एक बात यहाँ और कही जा सकती है कि स्वराघात का संबंध केवल स्वरों से है अतः स्वराघात के आधार पर ऊपर के वर्गीकृत स्वरों में प्रत्येक के

और भी भेद-विभेद किए जा सकते हैं। और ऐसे किए गए भेदो की संख्या अगणित होगी। केवल रूपात्मक स्वराघात के आधार पर ही किसी भी स्वर के उतने भेद हो सकते हैं जितने संसार में आदमी हैं, क्योंकि प्रत्येक की स्वरतंत्री कुछ भिन्न होगी अतः लहरों के रूप में अन्तर पड़ेगा। और फिर इन अगणित भेदों में से प्रत्येक के संगीतात्मक के आधार पर कम से कम तीन या चार भेद हो ही जावेंगे। आगे उनमें से भी प्रत्येक के बलात्मक के आधार पर और वर्ग होंगे। असाध्य और व्यर्थ समझ कर इस वर्गीकरण की पराकष्ठा को छोड़ देना उचित होगा।

ध्वनि-परिवतन और इसके कारण

ध्वनि-परिवर्तन

किसी भी जीवित सत्ता की सबसे बड़ी विशेयता यह है कि प्रतिपल उसमें परिवर्तन होता रहता है। कहा जा सकता है कि परिवर्तन ही जीवन है। जीवित भाषा के लिए भी यह बात पूर्णतः सत्य है। भाषा के जीवन की निशानी—इस परिवर्तन को कुछ लोग विकार और कुछ लोग विकास कहते हैं। कुछ भी हो, इस झगड़े में न पड़कर इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि परिवर्तन होता है। परसों के 'कृष्ण' कल 'क्रिश्न' हो गए थे और, आज 'किशुन' या 'किसुन' हो गए हैं। बेचारे 'गोपेन्द्र' तो कभी 'गोविन्द' हो गए और अब 'गोबिन' ही रह गए हैं। इसी प्रकार भाषा की लगभग सभी ध्वनियों के संबंध में देखा जा सकता है।

परिवर्तन के कारण

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न हमारे सामने आ जाता है कि इस परिवत॰ का क्या कारण है। कारण की खोज में जब हम किसी शब्द की छानबीन करते हैं तो दो प्रकार के कारण दिखाई पड़ते हैं। पहले कारण तो वे हैं जो शब्द के बाहर वातावरण में हैं, और धीरे-धीरे ध्वनि पर प्रभाव डालते हैं। इनको वाह्य कारण कहा जा सकता है। समाज की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अवस्थाएँ तथा भौगोलिक वातावरण इसी के अंतर्गत आते हैं। दूसरा कारण आंतरिक है। अर्थात् प्रयोगाधिक्य से, घिसने या स्वराघात आदि से संबंध रखता है। इसमें भीतर से ही परिवर्तन का कारण उपस्थित होता है।

पर इसका यह आशय नहीं कि ध्वनियों को लेकर हम बाँट सकते है कि अमुक ध्वनि केवल आंतरिक या बाह्य कारण से ही परिवर्तित हुई है। एक ध्वनि के परिवर्तन में अधिक तर एक से अधिक कारण कार्य करते हैं। एक और बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इन कारणों के आधार पर भविष्य के विषय में निश्चितता के साथ हम कुछ नहीं कह सकते। यह तो अतीत की सामग्री के अध्ययन के आधार पर अतीत का विश्लेषण मात्र है। यह आवश्यक नहीं कि आने वाले परिवर्तन भी इसी पथ पर चलें। साथ ही भूत के संबंध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ जहाँ अमुक कारण उपस्थित होगा, अमुक परिवर्तन अवश्य होगा। इसका कारण यह है कि ध्वनियों के पथ में अनेकों व्याघात आते रहते हैं और उन सभी का प्रभाव पड़ता रहता है। इसीलिए हम देखते हैं कि एक ओर संस्कृत कर्म से प्राकृत कम्म और हिन्दी काम हो गया पर दूसरी ओर धर्म से धम्म होकर धाम न हो सका।

अब हम कारणों को विस्तार से ले सकते हैं।

[१] वाक् यन्त्र की विभिन्नता

रूपात्मक स्वराघात पर विचार करते समय ऊपर हम कह चुके हैं कि किसी भी दो व्यक्ति का वाक्-यन्त्र ठीक-ठीक एक ही प्रकार का नहीं होता, इस कारण किसी एक ध्वनि का उच्चारण भी दो व्यक्ति एक तरह नहीं कर सकते। एक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ेगा। ये ही छोटे-छोटे अन्तर कुछ दिन में जब बड़े हो जाते हैं तो स्पष्ट हो जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई बच्चा कल से आज कितना बड़ा हो गया या बढ़ गया इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते पर एक दो वर्ष बाद उस थोड़े-थोड़े बढ़ने का अनुभव हम कर लेते हैं और अपनी आँख से उसकी ३६० या ७२० दिन की निश्चित बढ़ाई भी देख लेते हैं। 'ऋ' और 'री' तथा 'श' और 'ष' के उच्चारण इसी प्रकार धीरे-धीरे एक हुए होंगे।

[२] श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता

भाषा कोई गर्भ में से सीख कर नहीं आता। यहाँ आने के पश्चात् कुछ चेतना होने पर कान से सुनकर हम इसे सीखना आरंभ करते हैं। वाक् यंत्र की भाँति श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता भी धीरे-धीरे ध्वनि परिवर्तन में सहायक होती है। यह कारण भी पहले की ही भाँति इतना सूक्ष्म है

कि ऊपर से देखने में हास्यास्पद ज्ञात होता है। पर है सत्य। हाँ यह अवश्य है कि अकेले यह कार्य नहीं करता और न पहला कारण ही अकेले कार्य करता है। दोनी साथ साथ चलते हैं, क्योंकि हम सुन कर ही सीखते और कहते हैं और फिर हमारा कहना सुनकर ही दूसरा सीखता है। इस प्रकार थोड़ा कहने में अन्तर और थोड़ा सुनने में अन्तर। ये अन्तर आपस में मिलतें और बढ़ते जाते हैं। अंत में एक या दो सदी में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

[३] अनुकरण की अपूर्णता

उपर्युक्त दोनों कारणों के बीच की कड़ी अनुकरण की है। किसी का बोलना सुनकर हम अनुकरण करके बोलना सीखते हैं। पर यह अनुकरण पूर्ण नहीं हो पाता। या तो हम कुछ आगे बढ़ जाते हैं या कुछ पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है हम ठीक उसी प्रकार नहीं बोलते जैसे दूसरा बोलता है जिसका अनुकरण हम करते हैं। बच्चों में यह अपूर्णता स्पष्ट रहती है, जब वे रोटी को लोटी या रुपया को नूपया कहते हैं। बड़े होने पर यह अन्तर ठीक हो जाता है। बड़े लोगों में इसी प्रकार की सूक्ष्म गड़बड़ी होती है। कभी-कभी तो यह एक ध्वनि को धीरे धीरे स्थान्तरित करती है और कभी कभी विदेशी शब्दों में ध्वनि को आगे पीछे कर देती है। दूसरे प्रकार के परिवर्तनों में अज्ञान भी कार्य करता है पर अनुकरण की अपूर्ण का भी हाथ कम नहीं रहता। भोजपुर प्रदेश के मुकदमे बाज लोगों में वकीलों के अनुकरण से कनेक्शन शब्द प्रचलित हो गया है पर उसका रूप बदलकर 'कनस्कन' हो गया है। इसमें अज्ञान के साथ अनुकरण की अपूर्णता भी एक कारण है। कुछ देशीय शब्दों का भी अनुकरण कठिन होने के कारण नहीं हो पाता। ब्राह्मण का बाह्मन हो जाना इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

[४] अज्ञान

अज्ञान के कारण भी कभी कभी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णता के साथ इसका योग हम ऊपर देख चुके हैं। देशी या विदेशी किसी भी प्रकार के शब्द जिसके विषय में हम निश्चित नहीं हैं अधिकतर अशुद्ध उच्चरित होने लगते हैं और ध्वनि—परिवर्तन हो जाता है। अज्ञान के ही कारण अंग्रेजी ध्वनि थ, द (जो वहाँ दंत्य संघर्षी हैं) का

उच्चारण हम अपने थ, द, (जो दंत्य स्पर्श हैं) की भाँति करने लगे हैं। संस्कृत के शब्दों के कितने ही 'व' आज 'ब' हो गये हैं।

[५] भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति (Popular Etymology)

यह कारण भी अज्ञान पर आधारित है। अंतर इतना ही है कि इसमें कुछ मिलते जुलते शब्दों का होना आवश्यक है। फारसी का इन्तकाल हमारे यहाँ अंतकाल हो गया। लोगों ने इससे सीधा अर्थ मृत्यु (अंत = आखीरी, काल = समय) निकाल लिया अतः यह परिवर्तन हो गया। जो विशेष पढ़े लिखे नहीं हैं अधिकतर संयुक्त प्रान्त में लाइब्रेरी (पुस्तकालय) को लाय-बरेली या रायबरेली कहते हैं क्योंकि यहाँ रायबरेली नाम का नगर है और उसे अधिकतर लोग जानते हैं। जब हमलोग मिडिल में पढ़ रह थे तो चेम्सफोर्ड को चिलमफोड़ कहा करते थे। हम लोगों ने सुन रखा था कि उसे धुएँ का शौक नहीं था। अंग्रेजी का एडवांस देहात में अडवाँस (आँठवा अंश) कहा जाता है। अफसरों का बीयरर कुछ इसी आँधी में पड़कर बहरा हुआ। आज तो पढ़े लिखे लोग भी बहरा ही कहते हैं। एक बार एक देहाती ने मुझसे पूछा था, 'क्यों बाबू मद्रास में कोई 'आन्हर' (आंध्र) देश है, क्या वहाँ के लोग अधिकतर 'आन्हर' (अंधे) हैं जो उसका यह नाम है ? आनरेरी मैजिस्ट्रेट के लिये अब देहातों 'अन्हेरी क साहब' प्रचलित है। उन लोगों का विश्वास है कि यहाँ पूरी अंधेर होती है या अँधेरा रहता है। बात कुछ है भी वैसी ही। वे लोग तनख्वाह तो लेते नहीं अतः घूस आवश्यक हो जाता है और जहाँ घूस महाराज की सवारी आई, अँधेरा का या अन्हेरा का आना आवश्यक ही है।

[६] बोलने में शीघ्रता

शीघ्रता के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में लिखा तो जाता है 'पंडित जी' पर इसका शीघ्रता के कारण सर्वत्र ही और विशेषतः प्राइमरी स्कूलों में उच्चारण 'पंडी जी' होता है। देहाती पत्रों में तो यह लिखा भी जाने लगा है। दाल, भात, आम आदि का आज का उच्चारण शीघ्रता के कारण ही आम् दाल भात् हो गया है, यहाँ अंत्य 'अ' का लोप ध्वनि परिवर्तन ही है। इसी प्रकार 'उन्होंने' का 'उन्ने' हो गया। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में ऐसे शब्दों कोन भी दे थरदिया है। किन्ने, जिन्ने आदि भी प्रचलित हैं। जबही, कबही, अबही तथा तब ही के जभी कभी अभी

और तभी भी इसी के उदाहरण हैं। 'दूध दो' का 'दुद्दो', 'मास्टर साहब' का 'मास्साहब', और 'मार डाला' का 'माड्डाला' हो गया है। सुना है इधर इंगलैण्ड में 'थैंक्यू' (आपको धन्यवाद है) बेचारा व्यस्त जीवन की शीघ्रता में पिस-घिस कर केवल 'क्यू' रह गया है। अंग्रेजी के ओंट, डोंट, शांट तथा संस्कृत की संधियाँ भी इसी के अंतर्गत हैं।

[७] मुख-सुख, उच्चारण सुबिधा या 'प्रयत्न-लाघव

ध्वनि—परिवर्तन का सबसे प्रधान कारण यही है। भाषा साध्य न होकर विचारों को व्यक्त करने का साधन मात्र है। अतः यह स्वाभाविक है कि हम कम से कम प्रयास से अपने भाव व्यक्त करने की चेष्टा करें। मुख को सुख देने के प्रयास में यथा स्थान कभी हम किसी ध्वनि का कठिन होने के कारण शब्द विशेष में उच्चारण करना ही छोड़ देते हैं (अंग्रेजी में talk, walk, know, knife, night आदि में कुछ ध्वनियों का उच्चारण इसीलिये नहीं किया जाता वहाँ उनके उच्चारण में जीभ को द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ता है।), कभी कभी नई ध्वनि भी सुविधा के लिये जोड़ लेते हैं (स्कूल, अस्तर, इस्टेशन आदि), कभी कभी ध्वनियों का स्थान ही परिवर्तित कर देते हैं (वाराणसी = बनारस, मुकल्चह् = मुचलका), तथा कभी काट-छाँट कर इतना साधारण बना देते हैं कि पहचानना भी कठिन हो जाता है (गोपेन्द्र = गोबिन, सपत्नी = सौत आदि)

बोलने की इस सुविधा के विषय में कुछ निश्चय नहीं है। कहीं तो किसी एक ध्वनि को हटाने से सुविधा होती है, कहीं उसी को जोड़ना सुविधाजनक हो जाता है। कहीं संयुक्त ध्वनि में दो भिन्न ध्वनि को अनुरूप करना (धर्म = धम्म) पड़ना है और कहीं अनुरूप ध्वनि को भिन्न बना देना पड़ता (काक = काग, मुकुट = मउर) है।

इसी को कुछ लोगों ने आलस्य नाम से भी पुकारा है। आलस्य नाम उचित नहीं जान पड़ता। शक्ति की 'मितव्ययता को आलस्य नहीं कहा जा सकता और न धन की मितव्ययता को कंजूसी।

[८] भावुकता

भावुकता में भी कभी कभी हम शब्दों को बिगाड़ कर बोलते हैं। ग्रामों में क्रोध के भाव में पड़कर 'बेहूदा' का बेहुद्दा हो जाता है। प्यार में अम्मा

का अम्मी, चाची का चच्ची या चचिया हो गया है। बेटी का बिट्टी भी प्रचलित है। घृणा मिश्रित क्रोध में बच्चा का बच्चू बन गया है। छोटे लड़के चुम्मी (चुम्बन) कहते हैं। दुलारी शब्द प्यार दुल्ली या दुल्लो का रूप धारण कर चुका हैं।

क्रोध और प्यार में नामों की तो दुर्दशा हो जाती है। मुक्तेश्वर का मुक्कू, जयचंद का जोचोनो, शीला का सिल्लो और कुमारी का कम्मो प्यार के ही प्रसाद है। 'रामेश्वर' कभी कभी क्रोध में जलकर 'रमससुरा' और 'मुकुन्द 'मुकुनिया' होते देखे गये हैं।

[९] बनकर बोलना

कुछ लोग अपने को फुर्तीला दिखाने के प्रयास में केना (कहना) रेना (रहना) च्युप (चुप) स्सुनो (सुनो) बेटो (बैठो) आदि बोलते हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रामीण पंडित अपने को पंडित दिखाने के लिये सभी ऊष्मां को 'श' बोलते हैं। कुछ लोग अपने को पढ़े लिखे दिखाने के लिये तथा शीन काफ दुरुस्त सिद्ध करने के लिये ज को ज़, ख को ख़, क को क़ और ग ग़ कर देते हैं।

सभा में बहुत से वक्ता **बेनो** और **बाइयो** (बहनो और भाइयो) से आरंभ करके **बोत** (बहुत) और **खा़ना** (खाना) से होते हुए सबका **शुभेच्छु** (शुभेच्छु) और **शेवक** (सेवक) बनकर चुप हो जाते हैं।

[१०] बिभाषा का प्रभाव

एक राष्ट्र जाति या संघ, दूसरे के संपर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी होता है। एक दूसरे की विशेष ध्वनियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। अफ्रीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं की क्लिक ध्वनियाँ समीप के अन्य भाषा वर्गों को प्रभावित कर रही हैं। भारोपीय भाषा में टवर्ग नहीं था। अनार्यों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि समूह में उसका प्रवेश हो गया। आरम्भिक वैदिक मंत्रों में इसका प्रयोग बहुत कम है पर आज हिन्दी में टवर्ग का प्रयोग बहुत अधिक होता है।

अंग्रेजी के यहाँ आने के बाद से उनकी ध्वनियों पर भारत का प्रभाव और उनकी ध्वनियों का हिंदी आदि पर प्रभाव पड़ा है। बहुत से बंगाली अब भी तुम को टूम कहते हैं।

[११] भौगोलिक प्रभाव

इसका प्रभाव ध्वनियों पर कई प्रकार से पड़ता है। यदि कोई जाति

किसी स्थान से हटकर अधिक ठंडे स्थान पर बस जाती है। तो उसमें विवृत ध्वनिकों का विकास नहीं होता और जो विवृत रहती है, उनका भी संवृत की ओर झुकाव होने लगता है। गर्म देश में जाने पर ठीक इसके उलटा घटित होता है।

जो लोग कहीं ऐसी जगह जाकर बस जाते हैं जहाँ चारो ओर पहाड़ हो तो बहुधा अन्य लोगों से उनका संपर्क नहीं होता और स्वतन्त्र रूप से वातावरण के अनुकूल, बिना बाहरी व्याघात के उनकी ध्वनियों का विकास होता रहता है।

[१२] सामाजिक प्रभाव

समाज की अवस्था के अनुसार भी ध्वनियों में परिवर्तन होता रहता है। यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है और अनेक प्रकार की असावधानियाँ होती हैं, इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर ज़ोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।

यदि समाज में सुख शान्ति रही तो विद्या का प्रचार रहेगा और इसके कारण लोग अधिक शुद्ध बोलने का प्रयास करेंगे। नवीन ध्वनियाँ जो अशुद्ध समझी जाती हैं विकसित न हो सकेंगी। जो थोड़ी विकसित हैं उनका लोप भी संभव है।

[१३] लिखने के कारण

कुछ शब्दों के लिखने में किसी कारण गड़बड़ी हो जाती है फिर उच्चारण भी लिखने के अनुसार हो जाता है। मध्ययुग में ख में 'र' 'व' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया। इसके प्रभाव से 'बरखा' 'भाखा' 'पाखंड' 'खट' आदि शब्द वर्षा, भाषा, पाषंड, षट आदि के स्थान पर चल पड़े।

अंग्रेजी ए (a) अक्षर लगाकर लिखने से अंग्रेजी में तो गुप्ता, मिश्रा, था ही अब हिंदी में भी मिश्रा और गुप्ता लिखने लगे। आश्चर्य तो यह है कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बुद्धा और अशोका का भी बातचीत में बुद्ध और अशोक के स्थान पर प्रयोग करते हैं।

'चिह्न' के लिखने में कठिनाई पड़ती थी। विशेषतः प्रेस वालों को बड़ी असुविधा थी। इधर कुछ दिनों से 'चिन्ह' का प्रयोग लोग करने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि अधिकतर लोग इसे 'चिन्ह' ही उच्चरित करते हैं।

[१४] शब्दों की असाधारण लंबाई

यह कारण अकेले कार्य न करके स्वराघात, शीघ्रता, सुविधा आदि के साथ कार्य करता है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि लंबे शब्दों में ध्वनि परिवर्तन अधिक होते हैं। असाधारण लंबाई को सँभाल न सकने से लोग उसे छोटा कर देते हैं। 'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लंबाई के कारण ही वाध्य हुए हैं। 'जयरामजी की' का 'जैराम' हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण संक्षिप्त रूप भी चल पड़ते हैं। पाकिस्तान का 'पाक' युनाइटेड स्टेट ऑव अमेरिका का 'यू० एस० ए०' उदाहरण स्वरूप लिए जा सकते हैं। भारत यूरोपीय का 'भारोपीय' तो अपना ही उदाहरण है। शुक्ल दिवस के लिए सुदि या सुदी (उजेला पक्ष) का प्रयोग भी ऐसा ही है।

[१५] बलहीन व्यंजन का आधिक्य

बल के विचार से व्यंजनों के दो वर्ग[१] बनाए जा सकते हैं। (१) बली, (२) बलहीन। जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक हों उनमें ध्वनि परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है (फ्रांसीसी विद्वान वेन्द्रिये के अनुसार तो शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण कुछ ध्वनियाँ बलहीन हो जाती हैं। बली से उनका युद्ध आरम्भ होता है और अंत में बली ध्वनि परास्त करके बलहीन को निकाल देती है।) इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।

[१६] स्वाभाविक विकास या परिवर्तन

कुछ शब्दों की ध्वनियों में घिस कर स्वाभाविक विकास हो जाता है। प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार शब्द भी। ध्वनियों के इस विकास को स्वयंभू विकास (unconditional) कहा जाता है। 'मया' से 'मैं' या 'वर्तते' से 'बा' का विकास ऐसा ही है। संस्कृत के

---

१ बली = पंचवर्गों के प्रथम चार स्पर्श व्यंजन
बलहीन = पाँच अनुनासिक, अंतस्थ और ऊष्म।

कुछ शब्दों का 'स' फारसी में 'ह' हो गया है (सप्ताह = हफ्ताः), इसे भी कुछ लोग स्वयंभू परिवर्तन मानते हैं। अकारण अनुनासिकता (सर्प = साँप, कूप = कूआँ) भी स्वयंभू विकास है।

[१७] कविता में मात्रा या तुक के लिए

इसके लिए जानबूझ कर कवि लोग शब्दों में मनमाना ध्वनि—परिवर्तन ला देते हैं। रीतिकाल (हिन्दी साहित्य) के कवियों में यह बात अधिक पाई जाती है। संत साहित्य में भी इसकी कमी नहीं है।

मात्रा ठीक करने के लिए किम्मति (कीमत), छेक उकुति (छेकोक्ति), हथ्यार (हथियार) सत्थ (साथ) आदि का प्रयोग मिलता है।

तुक के लिए- धंका (धक्का), चंका (चक्का), नाँदिया (नंदी), विकरार (विकराल) आदि जैसे प्रयोग भी प्रचलित थे।

कुछ कवियों ने शब्दों को कोमल बनाने के लिए अपभ्रंश वाली पद्धति का अनुसरण किया है और अंतिम अकार को उकार में परिवर्तित कर दिया है। जैसे कमलु (कमल), डरियतु (डरियत) आदि।

तुलसी में राय का राया तथा राई आदि भी तुक के ही लिए हो गया है।

[१८] सादृश्य (analogy)

कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। पैंतिस के सादृश्य पर सैंतिस में अनुनासिकता आ गई है। संस्कृत में द्वादश के सादृश्य पर एकदश भी एकादश हो गया। मुझ (= मह्यं) का उकार तुझ (= तुभ्यं) के सादृश्य से है।

सच पूछा जाय तो सादृश्य स्वयं कारण न होकर कार्य है। इसका भी प्रधान कारण सुगमता ही है, पर यहाँ पर सुगमता की प्राप्ति किसी विशेष शब्द के आधार पर होती है अतः इसे अलग रख दिया गया है।

और भी उदाहरण लिए जा सकते हैं। सुक्ख का क् दुक्ख के सादृश्य के कारण आ गया है। रक्खा, सुक्खा, भुक्खा में भी उसी प्रभाव से क आया है। अंग्रेजी की बली क्रियाओं के रूपों में (forms of strong verbs) निर्बल क्रियाओं के सादृश्य पर बहुत ध्वनि परिवर्तन हुआ है और अब भी होता जा रहा है।

[१६] स्वराघात

स्वराघात के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। ऊपर स्वराघात पर विचार करते समय इसके दो प्रमुख भेद हम कर चुके हैं। दोनों का ध्वनि-परिवर्तन में अलग-अलग हाथ है।

[क] संगीतात्मक स्वराघात

इसके लिए जितना ही ऊँचा सुर देना हो हमें मुँह फैलाना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि संवृत स्वरों का कभी-कभी विवृत में परिवर्तन हो जाता है। इ का ए और उ का ओ हो जाता है। ग्रीक और संस्कृत में इसके उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी में कुष्ठ = कोढ़, कुक्षि = कोख, बिल्व = बेल तथा शिम्बा = सेम आदि में यह स्पष्ट है।

[ख] बलात्मक स्वराघात

किसी ध्वनि पर बल देने में श्वास का अधिक भाग उसी के उच्चारण में व्यक्त करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि आस-पास की ध्वनियाँ कमज़ोर पड़ जाती हैं और उनका लोप हो जाता है। आभ्यंतर में बीच में बल है अतः आरंभ का 'आ' समाप्त हो गया और भीतर बन गया। डाइ-रेक्टर और फाइनैन्स का उच्चारण बल के कारण ही डिरेक्टर और फिनैन्स हो गया है। अलाबु का लाउ और लौ (की) भी बलात्मक स्वराघात के कारण ही हुआ है।

इसी प्रकार 'अस्ति' से 'है', 'तत्स्थाने' से 'तहाँ' आदि भी इसके उदाहरण हैं।

परिवर्तन की दिशाएँ

कारणों पर विचार करने के बाद उनके कार्य पर विचार करना होगा। कार्य से यहाँ आशय ध्वनि-परिवर्तन से है। ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं। प्रथम को स्वयंभू (unconditional, spontaneous या incontact) कहते हैं। इसमें कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अधिकतर ये भाषा के प्रवाह में हो जाते हैं। और कहीं भी घटित हो सकते हैं, इनके लिए विशेष अवस्था या परिस्थिति (Condition) की आवश्यकता नहीं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनि-परिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि अकारण संसार में कोई कार्य नहीं होता पर अज्ञात कारण होने

से इसे अकारण कहा जाता है। दूसरे प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन परोद्भूत (conditional या contact) कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले ध्वनि-परिवर्तन ऊपर दिए गए कारणों से प्रभावित होकर घटित होते हैं। यद्यपि भविष्य के लिए इनके विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता, पर, पहले वर्ग की अपेक्षा इनका अधिक विश्लेषण संभव हो सकता है। यहाँ प्रमुख रूप से इन्हीं पर विचार किया जायगा। प्रथम वर्ग के केवल दो एक ही आनुषांगिक रूप से लिए जा सकेंगे।

[१] लोप (Elision)

कभी-कभी बोलने में शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप दो प्रकार का संभव है। १. स्वर लोप, तथा २. व्यंजन लोप। पुनः इन दोनों के तीन-तीन भेद हो सकते है। १. आदि लोप, २. मध्य लोप, और ३. अंत-लोप। इस प्रकार लोप छः वर्गों में बाँटा जा सकता है।

(क) आदि स्वर-लोप (Aphesis)

अनाज = नाज   उपायन = बायन
अहाता = हाता   अमीर = मीर
अभ्यंतर = भीतर   एकादश = ग्यारह
अरघट्ट = रहँट   अतिसी = तीसी
esquire = squire   amuck = muck

(ख) मध्य स्वर-लोप (syncope)

शाबाश = साबस   do not = don't
Storey = Story   राजन् = राजा

हिन्दी के बहुत से शब्दों में लोप हो गया है पर अभी लिखा नहीं जाता। उदाहरणार्थ कुछ लिए जा सकते हैं—

बलदेव = बल्देव   तरबूज = तर्बूज
कृपया = कृप्या   कपड़ा = कप्ड़ा

इन लुप्त हो जाने वाले स्वरों को अंग्रेजी में syncopic Vowel कहते हैं।

(ग) अन्तस्वर-लोप

मध्य की ही भाँति हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्दों का 'अ' स्वर भी लुप्त हो गया है, पर लिखने में अभी नहीं आता। इसके कारण धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द व्यंजनांत होते जा रहे हैं।

आम्र = आम्	पार्श्व = पास्
दूर्वा = दूब्	परीक्षा = परख्
इम = हम्	चल = चल्

अंग्रेजी से इसके स्पष्ट उदाहरण लिए जा सकते हैं। लैटिन और फ्रेंच के बहुत से शब्दों में अंग्रेजी में आने पर अंत्य स्वर का लोप हो गया है।

फ्रेंच	affaire =	अंग्रेजी	affair
"	bombe =	"	bomb
लैटिन	diffcro =	"	differ
"	assisto =	"	assist

(घ) आदि व्यञ्जन-लोप

अंग्रेजी में उच्चारण की कठिनाई के कारण अनेक आदि-व्यंजनों का बोलने में लोप हो चुका है पर लिखने में अभी वे चल रहे हैं। अमेरिका वालों ने तो कुछ ऐसी अनुच्चरित ध्वनियों का लिखना भी छोड़ दिया है—

Knife = nife	Know = now
gnaw = naw	Knight = night

हिन्दी में भी अनेक संस्कृत शब्द आदि-व्यंजन खोकर आए हैं—

स्थाली = थाली	स्थान = थान
श्मशान = मसान	स्तम्भ = थामना।

(ङ) मध्य-व्यञ्जन-लोप

सूची = सूई	घरद्वार = घरबार
उत्तान = उतान	कोकिल = कोइल

प्राकृतों की तो यह एक विशेषता थी अतः उनमें अनेक उदाहरण मिल सकते हैं—

बचनं = वअणं	सागरः = साअरो
नगर = णअर	प्रिय = पिअ

हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में भी पर्याप्त संख्या में इसके उदाहरण मिलते हैं।

बुद्ध = बुध भूमिहार = भुँइहार उपवास = उपास
डाकिन = डाइन कायस्थ = कायथ कार्तिक = कातिक
ब्राह्मण = बाम्हन गर्भिणी = गाभिन

अंग्रेजी में भी उच्चारण में कुछ व्यंजनों का लोप हो गया है, यद्यपि वर्तनी में अभी वे लिखे जातै हैं—

walk, talk, right, night, daughter आदि।
वाक टाक राइट नाइट डाटर

(च) अन्त-व्यंजन-लोप

सत्य = सत उष्ट्र = ऊँट (इसमें मध्य, अंत दोनों का लोप है)
आम्र = आम निम्ब = नीम
निम्बुक = नीबू जीव = जी

अंग्रेज़ी में र (water, father) तथा ब (Bomb) का उच्चारण कुछ शब्दों में नहीं होता। फ़ारसी में भी 'जोशश' से 'जोश' और 'शरारह' से 'शरार' हो गया है।

अक्षर-लोप (Syllabic elision)

इन छः के अतिरिक्त लोप के अंतर्गत ३ प्रकार के अक्षर (व्यंजन+स्वर) संबन्धी लोप भी लिये जा सकते हैं। १. आदि २. मध्य, ३. अन्त।

(छ) आदि अक्षर-लोप (apheresis)

शहतूत=तूत त्रिशूल = शूल
अबरेशम = रेशम defence = fence

(ज) मध्य-अक्षर लोप

गेहूँजव = गोजई, शादबाश = शाबाश, वितस्ति=बीता, भंडागार=भंडार
गेहूँचना = गोचना, बरुजीवी = बरई, राजपुत्र = राउर, फलाहारी = फलारी

(झ) अंत-अक्षर लोप (apocope)

माता=माँ गुह्य = गूँ
विज्ञाप्तिका = विनती भ्रातृजाया = भावज
मौक्तिक = मोती कर्तरिका = कटारी

दीपवर्तिका = डीवट कुंचिक = कुंजी
सपादिक = सवा यज्ञोपवीत = जनेऊ

(ञ) समाक्षर लोप (Haplology)

अक्षर-लोप के अंतर्गत उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त एक और लोप आता है, जिसे अंग्रेजी में Haplology कहते हैं। यह नाम अमेरिकन भाषाविज्ञानी श्री ब्रूमफ़ील्ड का दिया हुआ है। Haplology में दो शब्द है। (१) ग्रीक शब्द haploos जिसका अर्थ Single या एक है। (२) ग्रीक शब्द logos जिसका अर्थ है, जानना। इस प्रकार इसका अर्थ एक को जानना है। Haplography (एक को लिखना) संभवतः इसका और भी उचित नाम होता। कभी कभी किसी शब्द में यदि एक ही अक्षर या अक्षर समूह दो बार आवे तो एक का लोप हो जाता है। मानव-मस्तिष्क संभवतः एक ही अक्षर या अक्षर समूह का एक साथ दो बार उच्चारण नहीं करना चाहता, अतः एक को छोड़ देता है। इस छोड़ने को समाक्षर लोप कहते हैं। सभी भाषाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं।

नाककटा = नकटा शेववृधः = शेवृधः
camelleopard = cameleopard, Parttime = Partime
तुवीरववान् = तुवीरवान् शष्पपिंजर = शष्पिंजर
जहीहि = जहि Cinemamatinee = Cinematinee

कभी-कभी अक्षर पूर्णतः एक ही न हो कर उच्चारण में मिलते-जुलते हों तब भी एक का लोप हो जाता है।

कृष्णनगर = कृष्नगर मधुदुध = मदुध
पर्यकग्रंथि = पलत्थी आदत्त = अत्त

[२] आगम

लोप का उलटा आगम है। इसमें नई ध्वनि आ जाती है। उच्चारण सुविधा ही इसका भी प्रधान कारण है। लोप की भाँति ही इसके भी कई भेद होते हैं।

(क) आदि स्वरागम (Prothesis)

इसमें शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। बहुधा यह स्वर ह्रस्व होता है। फारसी और फ्रेंच के लगभग सभी शब्दों में आदि स्वरागम हो

जाता है, जिनके आरंभ में ऊष्म (स, श, ष आदि) ध्वनियाँ होती हैं। हिन्दी और अंग्रेजी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

स्कूल = इस्कूल	लैटिन Schola = फ्रेंच ecole (स्कूल)
स्पोर्ट = इस्पोर्ट	स्काट = इस्काट
स्नान = अस्नान	स्तुति = अस्तुति

कोई आवश्यक नहीं है कि सर्वदा ऊष्म के पूर्व ही स्वर आवें। अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

प्लेटो = अफ्लातून

वारना = अवारना	गर = अगर

आदिस्वरागम को कुछ लोग पुरोहिति भी कहते हैं।

(ख) मध्य स्वरागम (anaptyxis)

अज्ञान, आलस्य या बोलने के सुभीते के लिये कभी-कभी बीच में भी स्वर आ जाते हैं। इसे स्वर-भक्ति भी कहते हैं। और लोग जिन शब्दों को आदि स्वरागम के द्वारा बोलने के लिये आसान बनाते हैं उन्हें पंजाबी लोग मध्यस्वरागम के द्वारा। जिन लोगों ने पंजाबियों को बोलते सुना है वे सकूल, सटेसन, सनान, सप्रिंग (Spring) आदि मध्यस्वरागम वाले शब्दों से अपरिचित नहीं हैं।

संस्कृत में भी पृथ्वी = पृथिवी तथा स्वर्ण = सुवर्ण आदि उदाहरण मिलते हैं। आज की ग्रामीण बोलियों में र् के साथ मध्य स्वरागम खूब मिलता है।

प्रकार = परकार	प्रसाद = परसाद	पूर्व = पूरब
धर्म = धरम	कर्म = करम	पर्व = परब
कृपा = किरिपा	ग्रहण = गरहन	उम्र = उमरि
भ्रम = भरम	गर्म = गरम	

अन्य उदाहरण भी हैं।

जन्म = जनम	स्वाद = सवाद
दूज = दुइज	आपस = आपुस
समझ = समुझ	हुक्म = हुकुम
इलाची = इलाइची (फ़ारसी)	दोम = दोयम (फ़ारसी)

(ग) अन्त स्वरागम

हिन्दी में या संस्कृत में भी व्यंजनांत शब्द बहुत कम हैं, अतः अंत में स्वर के आने का प्रश्न नहीं उठता। हाँ कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य हैं जिनमें अन्तस्वर का उच्चारण नहीं होता और उनके बाद स्वर आ गये हैं।

स्वप्न् = सपना	सुध् = सुधि	प्रिय् = पिया
सोच् = सोचु	करतून = करतूति	कित् = कित
जर्मन agon = अंग्रेजी agony		Marl = marle

हिन्दी में कुछ शब्द इसके शुद्ध उदाहरण स्वरूप भी मिलते हैं। जैसे दवा = दवाई या पत्र = पतई आदि।

(घ) समस्वरागम (epenthesis) या अपिनिहित

कुछ विद्वान अपिनिहित और स्वर-भक्ति को लगभग एक ही मानते हैं। उनके अनुसार इन दोनों में केवल इतना ही अंतर है कि स्वर भक्ति मिश्र ध्वनियों के पूर्व आती है और अपिनिहिति अमिश्र के पूर्व। इसके अनुसार प्रथम का उदाहरण 'इस्कूल' है और दूसरे का 'असवारी'। अ य लोग ऐसा नहीं मानते। सच पूछा जाय तो ऊपर के दोनों ही उदाहरण स्वर-भक्ति के ही हैं। अपिनिहिति या समस्वरागम कुछ और ही है।

कुछ शब्दों में सुख-सुख के लिये शब्द के आरम्भ या मध्य में ऐसे स्वर की आवश्यकता पड़ती है जो बाद में आया हो। अर्थात् एक स्वर पहले से रहता है और फिर वही उसके पूर्व आ जाता है। इस प्रकार सम-स्वर का आगम होता है। संस्कृत और अवेस्ता की तुलना करने पर अवेस्ता में अपिनिहिति की विशेषता स्पष्ट हो जाती है (सुविधा के लिये यहाँ अधिक उदाहरण रोमन लिपि में लिखे जायँगे)—

संस्कृत		अवेस्ता
भवति	bavati	bavaiti
अरुषः	aruso	auruso
तरुण	taruna	tauruna

यहाँ आगत स्वरों (epenthetic vowels) के नीचे लकीर है। यह स्पष्ट है कि उन्हीं स्वरों का आगम हुआ है जो वहाँ पहले से हैं। पूर्वी बंगला में Karia का Kairia भी ऐसा ही उदाहरण है। अंग्रेजी के भी

कुछ शब्दों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि लिखने में उसका प्रयोग नहीं होता। Goldsmith का उच्चारण अब Goldismith हो गया है। हिंदी के शब्द स्थिति (isthiti) तथा स्त्री (istri) आदि की भी यही दशा है।

कभी-कभी स्वर ठीक वही न आकर उसी प्रकृति का (अग्र या पश्च) आता है। जैसे स्टेशन (इस्टेशन)।

कुछ साधारण उदाहरण और लिये जा सकते हैं।

अस्तबल, अस्तम्भ, अस्तर, अस्तवक, असवारी अस्मसान, इस्टील, तथा इस्प्रिंग आदि।

इसमें कुछ स्पष्टी करण आवश्यक है।

यहाँ आदि स्वरागम में कोई भी स्वर आ सकता है पर अपिनिहिति में केवल वही स्वर जो पहले से हो या उसी प्रकृति का (अग्र या पश्च) आ सकता है। इसके अतिरिक्त अपिनिहिति में आदि में ही स्वर आने का प्रतिबन्ध नहीं है, पर आदि स्वरागम में प्रतिबन्ध है।

दूसरी ओर स्वर-भक्ति में भी कोई भी स्वर आ सकता है अतः वह अपनिहिति से अलग है। स्वरभक्ति में एक विशेषता यह भी है कि स्वर आकर किसी व्यंजन को अक्षर (पर्कार (प्रकार) = परकार) बनाता है, पर अपिनिहिति में आधा को पूरा बनाने की यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

(ङ) आदि व्यञ्जनागम

इस आगम के उदाहरण कम मिलते हैं। इसकी कमी का स्पष्ट कारण यह है कि नए व्यंञ्जनों को आदि में लाने से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख में विशेष सुविधा नहीं मिलती।

ओष्ठ = होठ (ग्रामीण)	अस्थि = हड्डी
फारसी आरंज = नारंज	Amazon = फारसी हमाज़न

(च) मध्य व्यंजनागम

इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

आलसी = आलकसी	जेल = जेह्ल
समन = सम्मन	टालटूल = टालमटोल
लाश = लहाश	Panel = Pannel

सुनरी = सुन्दरी
गअ = गया
शाप = आप
गुजराती अमदाबाद = हिन्दी अह्मदा बाद

(छ) अंत-व्यंजनागम

चील = चिल्ह
कल = कल्ह
लघु = हलुक्
भौं = भौंह
उमरा = उमराव
फ्रेंच Cautio = अंग्रेजी caution, अरबी तिलस्म = अंग्रेजी talisman
फारसी देह = हिन्दी देहात, रंग = रंगत् अरबी करिया (गाँव) = करियात (भोजपुरी)

(ज) आदि अक्षरागम

गुंजा = घुंगुची

(झ) मध्य अक्षरागम

इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते।

शबेक़द = शबुलकद्र गरीब निवाज़ = गरीबुल निवाज़

(ञ) अन्त अक्षरागम

आँख = आँखड़ी
डफ = डफली
बधू = बधूटी
आँक = आँकड़ा
गड्ढा = गड़ही
महिला = मेहरारू

[३] विपर्यय (Metathesis)[1]

किसी शब्द में स्वर व्यंजन या अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर आ जाते हैं तो विपर्यय कहते हैं। जैसे महाराष्ट्र से मरहठा। इसमें ह और र में विपर्यय हो गया है। असावधानी ही इसका प्रधान कारण है।

इसके प्रधान दो भेद हैं। १. पार्श्ववर्ती, २. दूरवर्ती। अमरूद से अरमूद में पार्श्ववर्ती है, क्योंकि र् और म् पास हैं। लखनऊ से नखलऊ में दूरवर्ती है क्योंकि ल और न दूर-दूर हैं।

इन दोनों के ही स्वर, व्यंजन और अक्षर के आधार पर तीन भेद हो सकते हैं।

---

१. इसे कुछ लोग 'परस्पर-विनिमय' भी कहते हैं।

(क) पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय

पुरानी हिन्दी कछु = कुछ अम्लिका = इमली जानवर = जनावर
इच्छु = उखि बिन्दु = बूँदी खुजली = खजुली

कभी-कभी विपर्यय में थोड़ा सा परिवर्तन भी हो जाता है।

सन्धि = सेंध पशु = पोस

(ख) दूरवर्ती स्वर विपर्यय

फाटक = फटका टाटक = टटका

(ग) पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय

चिह्न = चिन्ह ब्राह्मण = बाम्हन डूबना = बूड़ना
उसकाना = उकसाना अमरूद = अरमूद लघु = हलुक
बाराणसी = बनारस तमगा = तगमा अवेस्ता बफ़्र = फारसी बरफ़

(घ) दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय

लखनऊ = नखलऊ नारिकेल = नालिकेर
पहुँचना = चहुँपना फारसी मुकलचा = हिंदी मुचलका

(ङ) पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय

इसके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। यदि कभी मिल भी जाते हैं तो भाषा में चलते नहीं। बच्चे कभी-कभी महाजन को मजहान कह देते हैं। जानबूझ कर भाषा को गुप्त बनाने के लिये लड़कपन में लोग उसका आधार लेते हैं। तुम कहाँ जाओगे का मतु हाँक जाओगे।

(च) दूरवर्ती अक्षर विपर्यय

इसका होना भी संभव मात्र है, उदाहरण नहीं मिलते। समझने के लिए 'बहराइच' का 'बइराहच' ले सकते हैं। गलती से कभी-कभी जल्दी में लोग गऊदान का गनदाऊ आदि कह देते हैं। हँसी के लिए भी कभी कभी देहाती नाच में जोकर लोग दोनों प्रकार के अक्षर-पिपर्ययों का प्रयोग करते हैं। 'का ह महराज' के स्थान पर 'का ह मराहज' या बेवक़ूफ के स्थान पर 'क़ूववेफ' का प्रयोग लोगों को खूब हँसाता है।

(छ) एकांगी विपर्यय

वेन्द्रिये ने ऐसे परिवर्तनों को भी विपर्यय माना है जिनमें कोई एक स्वर, व्यंजन या अक्षर अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह पर चला जाता है पर उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। इसके भी स्वर, व्यंजन और अक्षर के आधार पर तीन भेद हो सकते हैं, पर उदाहरणों की कमी के कारण उस ओर जाना उचित नहीं। कुछ विदेशी उदाहरण दिए जा रहे हैं—

पुर्तगाली भाषा में Festra का Fresta (खिड़की) हो गया है। इसी प्रकार ब्रिटन की बोली में Debri (खाना) से Drebi हो गया है।

(ज) शब्दांश विपर्यय (Spoonerism)

कभी-कभी दो साथ के शब्दों के आरंभ के अंशों में विपर्यय हो जाता है। जैसे घोड़ा गाड़ी का गोड़ा घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत सी पड़ जाती है। आक्सफोर्ड के डा० डब्लू० ए० स्पूनर (१८४४-१९०३) से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज्म कहते हैं। स्पूनर साहब के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

Loving Shepherd के स्थान पर Shoving Leopard

Two bags and a rug के स्थान पर Two rags and a bug.

एक बार स्पूनर साहब ने बिगड़ कर एक विद्यार्थी से कहा-you have tasted a whole worm (wasted a whole term)। उदाहरण के लिए 'कड़ी बिताब' (बड़ी किताब), 'चाल दावल' (दाल चावल) आदि भी लिए जा सकते हैं।

इसे ध्वनि समिश्रण (Phonetic Contamination) भी कहा जाता है।

इसमें कभी-कभी तो केवल स्वर विपर्यय ही होता है। जैसे चूल्हा चौका से चौल्हा चूका या नून तेल का नेन तूल।

[४] समीकरण [1](Assimilation)—(१) व्यंजन

इसमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है, जैसे संस्कृत चक्र से प्राकृत चक्क हो गया है। समीकरण प्रधानतः दो प्रकार का होता है। (क) पुरोगामी (ख) पश्चगामी। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती दो भेद हो सकते हैं।

---

१. सावर्ण्य, सारूप्य तथ अनुरूपता भी इसके नाम हैं।

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण
(Incontact Progressive Assimilation)

इसमें दो ध्वनियाँ पार्श्व में न रह कर दूर-दूर रहती हैं और पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। कचबच या कचपच से कचकच हो गया है। 'बिलपना' का आजकल का उच्चारण 'बिलबना' की ओर जा रहा है। संस्कृत का शब्द 'भ्रष्ट' कुछ ग्रामीण बोलियों में 'भरभट' हो गया है।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण (Contact Progressive Assimilation)

इसमें ध्वनियाँ पास-पास होती हैं। इसके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं।

चक्र = चक्क, पद्म = पद्द, व्याघ्र = बग्घ, मुक्त = मुक्क
लग्न = लग्ग, यस्य = जस्स, तक्र = तक्क, वक्र = वक्क

प्राकृतों की यह प्रधान विशेषता थी।

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण (Incontact regressive Assimilation)

इसमें दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते।

लैटिन Pequo = Quequo, खरकट = करकट, नील = लील
,, Piuque = Quique, लकड़बग्घा = बगड़बग्घा,

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण (Contact regressive Assimilation)

इसके उदाहरण बहुत अधिक मिलते हैं।

कर्म = कम्म, धर्म = धम्म, सर्प = सप्प, दुग्ध = दुध्ध (दुद्ध)
भक्त = भत्त, श्रेष्ठ = सेठ्ठ, दुर्गा = दुग्गा, शर्करा = सक्कर
कलक्टर = कलट्टर।

(२) स्वर

ऊपर हम व्यंजन संबंधी समीकरणों पर विचार कर रहे थे। स्वरों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है।

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण

ऊपर के व्यंजन नियम की भाँति इसमें प्रथम स्वर दूसरे को प्रभावित करता है।

खुरपी = खुरुपी, सूरज = सुरुज पिपीलिका = पिपिलिका

इस (is) = इज (iz) इसमें 'इ' घोष थी उसने अघोष व्यंजन को प्रभावित करके घोष बना लिया।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण

साधारणतया शब्द में स्वर पास-पास नहीं रहते। अधिकतर दो स्वरों के बीच में एक व्यंजन पाया जाता है। प्राकृत की अंतिम अवस्था में अधिकतर शब्दों में स्वर-प्राधान्य था। यदि खोज हो तो इसके उदाहरण उस काल के साहित्य में मिल सकते हैं। समझने के लिए कल्पित उदाहरण लिए जा सकते है।

अउर = अअर, आइए = आइइ

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण

अंगुलि = उँगुली, इक्षु = उक्खु,

असूया = उसूया, आदमी = अदमी

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण

पुरोगामी की ही भाँति इसके उदाहरण भी नहीं मिलते। भोजपुरी में शीघ्रता से बोलने में 'कब अइल ह' 'कब इइल ह' हो जाता है। इसे हम उदाहरण मान सकते हैं।

(३) पारस्परिक व्यंजन समीकरण (Mutual Assimilation)

उपर्युक्त आठ प्रकार के समीकरणों के अतिरिक्त एक प्रकार का और समीकरण होता है। इसे हम अधिकतर व्यंजनों में पाते हैं। दो पार्श्ववर्ती व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा व्यंजन वहाँ आ जाता है।

सत्य = सच्च, साच, कर्तरिका = कटारी

अनाद्य = अनाज, युद्ध = जूझना

(४) विषमीकरण (Dissimilation)

यह समीकरण का उलटा है। इसमें दो ध्वनियाँ एक सी ही रहती हैं और एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़ कर दूसरी बन जाती है।

(१) व्यंजन

इसके दो भेद किए जा सकते है:—

(क) पुरोगामी विषमीकरण

जब प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी कहते हैं।

लागूल = लंगूर काक = काग

कंकण = कंगन लैटिन Turtur = अंग्रेजी Turtle

लैटिन Marmor = Marble

(ख) पश्चागामी विषमीकरण

इसमें प्रथम व्यंजन में विकार होता है।

नवनीत = लयनू पुर्तगाली lelloo = नीलाम

दरिद्र = दलिद्दर साबस (शाबाश) = चाबस

(२) स्वर'

व्यंजन की भाँति स्वरों में भी विषमीकरण देखा जाता है।

(क) पुरोगामी विषमीकरण

तिलक = टिकली, पुरुष = पुरिस

(ख) पश्चगामी विषमीकरण

मुकुट = मउर नूपुर = नेउर

*Kaleb (कुत्ता) = Keleb मुकुल = बउर

(६) संधि

संस्कृत में इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ नियमों का विवेचन किया गया है। ये नियम स्वर और व्यंजन दोनों ही के सम्बन्ध में बने हैं। हिन्दी में भी कुछ संधियों की प्रवृत्ति बोलने में दिखाई पड़ रही है। 'दूध दो' को 'दुद्दो' कहा जाता है पर इसे समीकरण कहना अधिक समीचीन होगा।

इन सबके अतिरिक्त भी भाषा के स्वाभाविक विकास में एक प्रकार की संधियाँ दिखाई पड़ती है। कुछ व्यंजन (प, व, म, य आदि) उच्चारण में स्वर के समीप हाने के कारण स्वर में परिवार्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले के व्यंजन में मिल जाते है। कभी-कभी इससे ध्वनियों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि साधारणतया समझ में नहीं आता। कुछ उदाहरण विस्तार के साथ लिए सकते हैं।

सपत्नी = सवत = सउत = सौत

शत = सअ = सव = सउ = सौ

नयन = नइन = नैन
चामर = चँवर = चँउर = चौर
समर्पयति = सअँप्पेइ = सवँप्पेइ = सौंपे

अब हम कुछ ऐसे परिवर्तनों को लेंगे जिनके लिए किसी विशेष परिस्थिति की आवश्यकता नहीं। ये भाषा के प्रवाह में यों ही आ जाते हैं। इन्हें स्वयंभू कहा जा सकता है। हाँ कभी-कभी स्वराघात अवश्य इनमें कार्य करता है।

[७] ऊष्मीकरण (assibilation)

कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती है। केन्टुमवर्ग की भाषाओं की 'क' ध्वनि शतम् वर्ग में इसी दशा को प्राप्त हो गई है। इसी आधार पर केन्टुम और शतम् दो वर्ग भी भारोपीय भाषाओं के बनाए गए हैं।

[८] अनुनासिकता (Nazalization)

कुछ ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है। जैसे सर्प = साँप में। यहाँ मूल शब्द में अनुनासिकता नहीं थी पर 'साँप' में है। इसका कारण कुछ लोग द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव मानते है, पर कुछ लोग इसे अकारण मानते हैं। उनका कहना है कि भाषा के स्वाभाविक विकास में ऐसा हो गया है। सच पूछा जाय तो इसका कारण मुख-सुख है। अनुनासिक ध्वनि ही हमारे लिए स्वाभाविक अतः आसान है और इसी लिए कहीं-कहीं उसका अनजाने विकास हो गया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं।

सर्प = साँप उष्ट्र = ऊँट सत्य = साँच यूक = जूँ
कूप = कूआँ अश्रु = आँसू श्वास = साँस भ्रू = भौं

आज भी कुछ शब्दों में अनुनासिकता आ रही है, यद्यपि लिखने में अभी हमने उन्हें स्वीकार नहीं किया है।

आम = आँम राम = राँम हनूमान = हँनूँमाँन
काम = काँम नाम = नाँम महाराज = मँहाराज

[९] मात्रा भेद

इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। इन्हे पूर्णतः स्वयंभू नहीं कहा जा सकता। स्वराघात का इन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

(क) दीर्घ से ह्रस्व

नारंगी = नवरंगी, नरंगी
शून्य = सुन्न
आभीर = अहिर
आवाँ = अवाँ
आगस्ट (August) = अगस्त
आराम = अराम
आश्चर्य = अचरज
आलाप = अलाप
आषाढ़ = असाढ़
पाताल = पताल
बानर = बन्दर
आफिसर = अफ्सर

(ख) ह्रस्व से दीर्घ

प्रिय = पीव
अंकुश = आँकुस
लज्जा = लाज
अद्य = आज
काक = कागा
अक्षत = आखत
कल = काल्ह
स्कंध = कंधा
जिह्वा = जीभ
हरिण = हिरना
चिह्न = चीन्हा
कंटक = काँटा
पुत्र = पूत
भक्त = भात

[१०] घोषीकरण (Vocalization)

कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा करने में उच्चारण सुविधा हो जाती है।

सकल = सगल, सगरो
शाक = साग
पिपति = पिबति
कंकण = कंगन
प्रकट = परगट
आदत = आदद
प्रकाश = परगास
काक = काग, कागा
मकर = मगर
एकादश = इगारह
घूक = घुग्घू

[११] अघोषीकरण (Devocalization)

साधारणतः इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते।

अदद = अदत

पैशाची प्राकृत की यह प्रधान विशेषता थी। उसमें उसके उदाहरण मिलते हैं।

नगर = नकर
वारिदः = वारितो
गगन = गकन
मेघ = मेख

[१२] महाप्राणीकरण (aspiration)

कभी-कभी अल्प प्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं।

वाष्प = बाफ	पृष्ट = पीठ	वृश्चिक = बिच्छू
गृह = घर	ग्रहण = घिरना	धृष्ट = ढीठ
शुष्क = सूखा	हस्त = हाथ	वेष = भेस

इनको भी पूर्णतः स्वयंभू नहीं कहा जा सकता क्योंकि अधिकतर ऐसा परिवर्तन उन्हीं शब्दों में होता है जिनमें 'ह' या ऊष्म ध्वनि हो। कहना अप्रासांगिक न होगा कि इन (ह या ऊष्म) ध्वनियों के पास में होने का ही यह परिणाम है। पर कुछ ऐसे उदाहरण भी ग्रामीण बोलियों में हैं जो इसके परिणाम नहीं कहे जा सकते।

कल्य = काल्ह

[१३] अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)

कुछ शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण भी हो जाता है। ग्रेसमैन नियम में भी जिसका आगे ध्वनि-नियम शीर्षक के अंतर्गत वर्णन है, ये ही बातें पाई जाती हैं।

स्थथौ = तस्थौ	भोधामि = बोधामि
धधामि = दधामि	धध्मः = धध्मः

[१४] अभिश्रुति (Umlaut or Vowel Mutation)

किसी स्वर, अर्द्धस्वर या भाषा की प्रवृत्ति के कारण किसी शब्द में जब अपिनिहित के कारण आया हुआ स्वर परिवर्तित हो जाता है तो उसे अभिश्रुति कहतेहैं। यह सर्व प्रथम जर्मैनिक भाषाओं में देखा गया।

Mani = maini = men

यहाँ maini में की प्रथम i अपिनिहित के कारण है फिर उसका परिवर्तन men में हो गया है।

इसी प्रकार बँगला में करिआ (Karia) = केरिअ (Kairia)
= कोरे (Kore) है।

यह नाम 'umlaut' ग्रिम महाशय का दिया हुआ है। उनके अनुसार किसी स्वर के प्रभाव से पहले आए स्वर के परिवर्तन को ही 'umlaut कहते हैं। इसमें प्रभावित करने वाला स्वर बहुधा i होता है।

अभिश्रुति भारोपीय परिवार के अतिरिक्त कुछ यूराल-अल्टाइक में भी मिलती है।

[१५] अपिश्रुति (Ablaut या Vowel gradation)

बहुधा ऐसा देखा जाता है कि व्यंजन ज्यों के त्यों रहते हैं और केवल स्वर में अंतर से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसी को अपिश्रुति या स्वरीय अपिश्रुति (Vocalic Ablaut) कहते हैं। रूप-विचार के अंतर्गत संबंध-तत्त्व के प्रकारों पर विचार करते समय इस पर कुछ प्रकाश पड़ा है।

अपिश्रुति, सेमिटिक उसमें भी अरबी के लगभग सभी शब्दों में पायी जाती है। धातु (माद्दा) प्रायः तीन व्यंजनों की होती है और उसमें विभिन्न स्वरों को जोड़कर अर्थ में विभिन्नता लाते हैं। जैसे क़् त् ल् से क़तल, क़ातिल आदि। या क् त् ब् (=लिखना) से किताब, कुतुब कातिब आदि।

सेमिटिक के अतिरिक्त यह भारोपीय परिवार में भी पाया जाता है।

हिन्दी—करना, करनी, कराना।

मेल, मिली, मिला, मिलो।

सं०—भृतः, भरति,

अंग्रेजी—sing, sang, sung.

Man, Men.

अपिश्रुति का कारण प्रधानतः स्वरघात होता है। ध्वनि के गुणों पर विचार करते समय हम संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघातों पर विचार कर चुके हैं। इन दोनों का ही प्रभाव शब्दों के स्वरों में परिवर्तन लाकर अपिश्रुति उपस्थित करता है।

यह स्वर-परिवर्तन दो प्रकार का होता है। जिसे क्रम से गुणीय परिवर्तन (qualitative change) और परिमाणीय परिवर्तन (quantitative change) कहते हैं। एक में तो स्वर पूर्णतः बदल कर दूसरा हो जाता है और दूसरे में ह्रस्व का दीर्घ या दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।

'ablaut' का पता सर्वप्रथम १८७१ में चला था।

ध्वनि नियम (Phonetic law)

पीछे के प्रकरण में हम लोग ध्वनि संबन्धी विकारों पर विचार कर चुके हैं। उनमें से बहुत से परिवर्तन या विकार तो किसी विशेष नियमानुसार नहीं चलते पर अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो नियमों पर आधारित होते हैं। यहाँ नियमों का आशय यह है कि उनके आगम की परिस्थियों में बहुधा एक-रूपता रहती है। उस एकरूपता को ही एक नियम कहा जाने लगा है।

नियम की परिभाषा

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि नियम कहते किसे हैं। नियम का अधिकतर प्रयोग प्राकृतिक नियम के लिये होता है, जो किसी विशेष वस्तु आदि के संबन्ध में लागू होते हैं। यदि विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई क्रिया समय और स्थान की सीमा तोड़ कर सर्वदा घटित हुआ करती है तो उसे नियम की संज्ञा देते हैं। जैसे कोई संख्या एक से कम की संख्या से गुणा करने पर घटती और अधिक से गुणा करने पर बढ़ती है।

प्राकृतिक नियम और भाषासंबन्धी नियम में अन्तर

(१) प्राकृतिक नियम किसी काल विशेष की अपेक्षा नहीं रखते। चार और चार जोड़ने से सर्वदा आठ होता है, होता था, और आगे भी होगा, पर भाषा के ध्वनि नियम में यह बात नहीं है। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में प्राचीन काल से मध्य में आने में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, मध्य से आधुनिक काल में आने में नहीं हुए हैं। भविष्य के लिए भी हम निश्चित नहीं हैं कि वे परिवर्तन घटित होंगे या नहीं।

(२) प्राकृतिक नियम काल की भाँति ही दशा या स्थान की भी अपेक्षा नहीं रखते। न्यूटन का नियम सर्वत्र लागू होता है पर ध्वनि-नियम की इस संबन्ध में भी सीमाएँ हैं। जिनको वह लाँघ नहीं सकता।

(३) प्राकृतिक नियम अंधे की भाँति काम करते हैं और कोई अपवाद नहीं छोड़ते पर इसके विरुद्ध ध्वनि नियम अपवाद छोड़ते चलते हैं। संस्कृत कर्म का मध्यकाल में कम्म होकर आज काम हो गया, इसी प्रकार घर्म = घम्म = घाम हो गया पर धर्म = धम्म होकर 'धाम' न हो सका।

ध्वनि नियम नाम की अशुद्धि

ऊपर प्राकृतिक नियम और ध्वनि नियम के अंतर पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि नियम की स्थिरता ध्वनि नियमों में नहीं पाई जाती। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि ध्वनि नियम नाम ही भ्रामक और अशुद्ध है। वे इसे ध्वनि-प्रवृत्ति (Phonetic Tendency) या ध्वनि फ़ार्मूला कहना अधिक उचित और शुद्ध समझते हैं।

ध्वनि नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति

दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वान ध्वनि नियम और ध्वनि प्रवृत्ति में अंतर

करते हैं। एक ध्वनि-विकार या ध्वनि-परिवर्तन आरम्भ होता है थोड़ी दूर चलने के बाद वह मर जाता है और सफल नहीं हो पाता, इसे ध्वनि-प्रवृत्ति कहते हैं। साथ ही ऐसे ध्वनि परिवर्तन जो धीरे धीरे पूरी सफलता प्राप्त कर लेते हैं, अपने घटित होते रहने के काल में (अर्थात् पूर्ण रूपेण हो जाने के पूर्व) ध्वनि-प्रवृत्ति कहे जाते हैं पर पूर्ण हो जाने पर उन्हें ध्वनि नियम कहते हैं। इसी कारण यह भी कहा गया है कि ध्वनि-नियम वर्तमान या भविष्य के संबन्ध में न होकर केवल भूत के संबन्ध में होते हैं।

ध्वनि नियम के अपवाद और उनके कारण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ध्वनि नियमों के अपवाद भी मिलते हैं। इन अपवादों के कई कारण हो सकते हैं। सबसे बड़ा कारण तो सादृश्य है। सादृश्य के नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाले शब्दों का रूप कुछ और हो जाता है। दूसरा कारण है अन्य भाषा से शब्दों का उधार आना। बहुधा हाल के आए विदेशी शब्दों में ध्वनि नियम लागू नहीं होते। अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह होता है कि कभी कभी हम अपनी ही भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं जब वह नियम विशेष लागू नहीं हुआ रहता। चौथा कारण यह भी हो सकता है कि कभी-कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और पुराने शब्द का ही रूप ज्ञात होता है तो उसे भी अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ ध्वनि नियम के अनुसार कोट्टपाल को कोट्टाल और फिर कोटाल होना चाहिये जैसा कि बँगला में प्रचलित भी है, पर बीच में फारसी शब्द कोतवाल मुसलमानों के साथ आ गया और उसने हिन्दी में अधिपत्य जमा लिया। अब आज साधारण दृष्टि से देखने पर कोट्टपाल का विकार।

कोट्टपाल = कोट्टाल = कोतवाल

मिलता है, पर ऐसे उदाहरण अन्य नहीं मिलते। अतः इसे अपवाद कहा जाता है। इसी प्रकार कितने ही अन्य कारण मानसिक हैं जिन सब पर यहाँ प्रकाश डालना संभव नहीं है।

ध्वनि नियम का वैज्ञानिक परिभाषा

किसी विशिष्ट भाषा *की कुछ* **विशिष्ट ध्वनियों** *में, किसी* **विशिष्ट काल** *और कुछ* **विशिष्ट दशाओं** *में, हुए नियमित परिबर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि नियम कहते हैं।*

इस परिभाषा के चार अंग हैं।

(१) ध्वनि नियम किसी भाषा विशेष का होता है। एक भाषा के ध्वनि नियम को दूसरी पर नहीं लागू कर सकते। अंग्रेजी के अधिकतर शब्दों के अंतिम आर (R) का उच्चारण नहीं किया जाता। अर्थात् फ़ादर (Father) का उच्चारण फ़ादअ होता है, पर हिंदी में इसे लागू करके हम अंबर का अंबअ नहीं कह सकते।

(२) एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर वह नियम न लागू होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों या ध्वनि वर्ग पर लागू होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में आर (R) को अनुच्चरित होते देख हम अंतिम (N) को भी अनुच्चरित करके मैन (Man) को मैअ नहीं कह सकते और न गन (gun) को गअ कह सकते हैं।

(३) ध्वनि विकार का भी एक विशिष्ट काल होता है। यही, अंतिम आर (R) के अनुच्चरित होने का नियम नवीन है। इसे चासर या शेक्सपीयर के काल पर लागू नहीं कर सकते।

(४) किसी विशिष्ट भाषा के किसी विशिष्टकाल में कोई विशिष्ट ध्वनि भी यों ही परिवर्तित नहीं हो सकती। उसके लिए विशिष्ट दशा या परिस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त उदाहरण में ऐसा नियम है कि वाक्य में किसी शब्द के अंत मे आर (R) हो और उसके पश्चत् आने वाला शब्द किसी व्यंजन से आरंभ होता हो, तब तो यह अनुच्चरित होने का नियम लागू होगा, और यदि स्वर से आरंभ होता हो तो नहीं होगा। इस प्रकार ध्वनि नियम परिस्थितियों में बँधा रहता है।

कुछ प्रसिद्ध नियम

(क) ग्रिम नियम

इस नियम की ओर संकेत करने वाले दो व्यक्ति, इहरे और डैनिश विद्वान रैस्क हैं, पर इन लोगों ने संकेत मात्र किया था। इसकी पूरी विवेचना और छानबीन करने वाले अध्येता, जर्मन भाषा के महान पंडित ग्रिम हैं। आपने १८१६ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया। सन् १८२२ में उसके दूसरे संस्करण में आपने इस नियम का विवेचन किया। इनके ही नाम

पर इस नियम का नाम 'ग्रिम नियम' है। इस नियम का संबध भारोपीय स्पर्शों से है, जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये थे। इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन कहते हैं, जिसके लिये जर्मन शब्द 'Lautverschiebung' है। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा के कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण-परिवर्तन उत्तरी जर्मन लोगों से ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के पृथक होने के बाद लगभग ७वीं सदी में हुआ। दोनों ही का कारण जातीय-मिश्रण कहा जाता है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श परिवर्तित हो गए थे, जिन्हें तालिका रूप में यों दिया जा सकता है :—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महा प्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्	जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, थ् हो गए।
(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्प प्राण ग्, द्, ब्	जर्मनिक में अघोष अल्प प्राण क्, त्, प् हो गए।
और (ग) भारोपीय मूल भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	जर्मनिक में संघर्षी अघोष महाप्राण ख् (ह्), थ्, फ् " " (घ) (ध) (भ)

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यंजन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अतः उदाहरण के लिए मूल के स्थान पर संस्कृत[1] या ग्रीक शब्द लिए जा सकते है—इसी प्रकार परिवर्तित स्पर्शों को दिखलाने के लिये जर्मेनिक वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्द लिए जा सकते हैं—

---

१. हम लोग संस्कृत और अंग्रेजी से ही विशेष परिचित है अतः मूल के स्थान पर संस्कृत और जर्मेनिक के अंग्रेजी शब्द उदाहरण में लिये गए हैं।

		संस्कृत	अंग्रेजी
(क)	घ् (ह्) से ग्	=हंस, दुहिता	गूज़ (goose) डॉटर (daughter)
	ध् से द् (ड)	=विधवा, धूमः	विडो (widow), डस्ट (dust)
	भ् से ब्	=भू, भ्रातृ	बी (Be) ब्रदर (Brother)
(ख)	ग् से क्	=गो, योग	काउ (cow) योक (yoke)
	द् से त्	=द्वि, दशन्	टू (Two) टेन (Ten)
	ब् से प	=(इसका संस्कृत में उदाहरण नहीं मिलता)	आदिम-भाषा में *स्लेउब् का अंग्रेजी में Slip.
(ग)	क् से ख् (ह्)	=कद्, कः	ह्वाट (what), हू (who)
	त् से थ्	=दंत, तनु	टूथ (tooth) थिन (thin)
	प् से फ्	=पिता, पशु	फ़ादर (Father) फ़ी (Fee)

[उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं-कहीं एक ही शब्द दो भाषाओं में दो अर्थ रखता दिखाई पड़ रहा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अर्थ-परिवर्तन के प्रकरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार शब्दों का अर्थ कभी-कभी बहुत दूर चला जाता है।]

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी पर इस द्वितीय में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में यह अंतर पड़ा। बात यह हुई कि निम्न जर्मन वाले (अंगरेज़ आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गये, अतः उनमें तो कोई अंतर नहीं पड़ा। पर उच्च जर्मन वाले जो वहीं थे द्वितीय परिवर्तन के शिकार हुए और फल यह हुआ कि उच्च और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं।

निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेज़ी को मान हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं—

	निम्न जर्मन (अंग्रेज़ी)	उच्च जर्मन
प् का फ्	=डीप (deep), शीप (Sheep)	टीफ़ (tief), शीफ़ (Schaf)
ट् का ट्स् य स्स्	=फूट (foot), लेट (let)	फ़स्स (fuss), लासेन (lassen)
क् का ख् (ह्)	=योक (yoke)	याख़ (Joch)
व्ह् का ब्	=डव्ह (dove)	टाउबे (taube)
ड् का ट्	=डीड (deed)	टाट (tat)
थ् का ड् (द)	=थ्री (three)	द्राय (Drei)

आलोचना

प्रथम और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में ग्रिम ने जो तालिका दी थी वह कुछ इस प्रकार है—

मूल भाषा		आमिद् जर्मनिक		उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	=	ग् द् ब्	=	क् त् प्
ग् द् ब्	=	क् त् प्	=	ख़् (ह्) थ फ़्
क् त् प्	=	ख़् (ह) थ् फ़्	=	ग् द् ब्

प्रथम वर्ण-परिवर्तन (मूल भाषा → आमिद् जर्मनिक)

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन (आमिद् जर्मनिक → उच्च जर्मन)

हम देखते हैं कि इस प्रकार नियम बहुत सुलझा हुआ दिखाई पड़ता है पर यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। दोनों परिवर्तनों में इस प्रकार की समानता नहीं है जैसी ग्रिम ने दिखलाने की कोशिश की थी। यहाँ तालिका में दिया गया प्रथम वर्ण-परिवर्तन अपवादों के रहते हुए भी ठीक है पर द्वितीय के उदाहरण ठीक इस रूप में नहीं मिलते, साथ ही इसके अपवाद

भी कम नहीं हैं। ग्रिम ने द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण इसी रूप में इकट्ठा करने का प्रयास किया पर उसे उचित सफलता न मिली। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के साथ द्वितीय-परिवर्तन का शुद्ध रूप कुछ इस प्रकार हो सकता है—

मूल भाषा[1]	निम्न जर्मन या आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
gh; dh; bh;	g; d; b;	×; t ; ×
g; d; b;	k; t; p;	×; z, ss, sz; f;
k; t; p;	kh (h); th; f,	×; d; st; ×

(ख) ग्रैसमैन नियम

ग्रिम को स्वयं अपने नियम के पर्याप्त अपवाद मिले थे। उसके साधारण नियमानुसार क्रमशः क्, त्, प् का ख़् (ह्), थ् फ़् होना चाहिये। पर कुछ शब्दों में क् त् प् का ग् द् ब् मिलता है। उदाहरणार्थ ग्रीक किग्खो से हो (ho), तुप्लोस से थम (thumb) और पिथास से फाडी (fody) बनना चाहिये पर बनता है गो (go), डम (dumb) बाडी (Body)।

ग्रैसमन ने यह खोज निकाला कि भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अंत दोनों स्थानों पर महाप्राण हो तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।

संस्कृत की √ हु (=हवन करना) का रूप बनना चाहिये

हुहोति, हुहुत; हुहति

पर रूप है—

जुहोति, जुहुतः, जुहति

इसी प्रकार √ भृ (=डरना) से भिभर्ति आदि न होकर बिभर्ति आदि रूप बनते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथमावस्था में दो महाप्राण रहे होंगे और दूसरी अवस्था में

---

१. स्पष्टता के लिये रोमन लिपि का प्रयोग किया गया है। यह टकर की पुस्तक से लिया गया है।

नहीं । अतः अपवाद स्वरूप क् त् प् आदि के स्थान पर जहाँ ग द् ब् मिलते हैं; प्राचीन काल में क् त् प् का पुराना रूप ख् (ह्) थ् फ् अर्थात् भारोपीय में घ् ध् भ् रहा होगा और घ् ध् भ् से ग् द् ब् बना होगा जो पूर्णतः नियमानुकूल है ।

इस प्रकार ग्रिम-नियम में जितने अपवाद इस तरह के थे जिनमें ग्रिम नियम से एक पग अधिक परिवर्तन हो जाता था ग्रैसमैन नियम से समाधानित हो गये । पीछे ध्वनि-परिवर्तन के प्रकरण में अल्पप्राणीकरण पर विचार करते समय इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं ।

(ग) वर्नर नियम

उपर्युक्त दोनों नियमों के बाद भी कुछ अपवाद रह गये थे । वर्नर ने यह पता लगाया कि ग्रिम नियम स्वराघात (accent) पर आधारित था । मूल भाषा के क्, त्, ब् के पूर्व यदि स्वराघात हो तो ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन होता है पर यदि स्वराघात क् त् ब् के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रैसमैन की भाँति ग् द् ब् हो जाता है ।

संस्कृत	गाथी
सत	सिबुन
शतम	हुन्द

ग्रिम ने यह भी कहा था कि स् के लिये स् ही मिलता है पर कुछ उदाहरणों में स् के स्थान पर र् मिला । इसके लिये भी वर्नर ने स्वराघात का ही कारण बतलाया । स् के पूर्व स्वराघात हो तो स् रहेगा पर यदि बाद में हो तो र् हो जायेगा ।

एक और तीसरी बात वर्नर ने बतलायी कि यदि मूल भारोपीय क् त् प् आदि के पूर्व स् मिला हो (अर्थात् स्क, स्त, स्प) तो जर्मनिक में आने पर शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता ।

लैटिन	अंग्रेजी	गाथी
piskis	—	fisks
aster	Star	

इसी प्रकार त् यदि क् या प् के साथ हो तो भी कोई परिवर्तन नहीं होता ।

इतने पर भी ग्रिम नियम के अपवाद हैं जिनके लिए सादृश्य ही मूल कारण माना जाता है।

(घ) तालव्य नियम (Palatal law)

बहुत निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम इसकी खोज किसने की। सत्य यह है कि कई विद्वान लगभग एक ही समय यहाँ तक पहुँचने में सफल हुए। इसी कारण किसी एक व्यक्ति को इसका श्रेय देना लोग अधिक ठीक नहीं समझते। १८७५ में विल्हेम थाम्सन ने अपने व्याख्यान में इसकी ओर संकेत किया था, पर इस सम्बन्ध में उनका विस्तृत लेख प्रकाश में आ भी नहीं पाया था कि जोहन्स शिमट ने अपना लेख तैयार कर लिया। यह लेख इसकी एक पुस्तक में १६२० में प्रकाशित हुआ। इन दोनों के अतिरिक्त एसाय तेंगर की भी एक छोटी-सी पुस्तिका इस विषय पर निकली। पर उस पुस्तक में एसाय तेंगर ने दिया है कि उनके पूर्व भी कालित्ज़ तथा दे सौशोर ने कुछ ऐसे विचार प्रकट किए थे। उपर्युक्त पाँचों विद्वानों के अतिरिक्त वर्नर भी कुछ इस परिणाम तक पहुँच चुका था। इस प्रकार तालव्य नियम के साथ छः विद्वानों के नाम सम्बद्ध हैं, यद्यपि कुछ लोग इसे 'कालित्ज़ का तालव्य नियम' भी कहते हैं।

इस नियम के ज्ञात होने के पूर्व तक विद्वानों का विश्वास था कि कुछ शब्दों में संस्कृत अधिक बातों में अन्य सगोत्रीय-भाषाओं की अपेक्षा मूल भारोपीय के निकट है। कुछ शब्दों में संस्कृत के च और ज् के स्थान पर अन्य भाषाओं में क् और ग् मिलते थे। इससे लोगों ने यह अनुमान किया था कि वहाँ पर मूलतः च् और ज् ही थे और ध्वनि-परिवर्तन से अन्य भाषाओं में क और ग् हो गए। इस परिवर्तन का कारण अब तक विद्वानों की समझ में न आ सका था।

इस नियम की खोज के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि जिन संस्कृत शब्दों में 'अ' स्वर ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक या लैटिन ओ (o) की भाँति है उसके पूर्व क् या ग् ही व्यंजन पाया जाता है, पर यदि 'अ' स्वर लैटिन या ग्रीक ई (e) की भाँति है, तो कंठ्य क् या ग् न होकर तालव्य च् और ज् मिलता है। उदाहरणार्थ च [च्+अ में अ ग्रीक ई (e) की भाँति है] और कच (क+अ में अ ग्रीक ओ (o) की भाँति है) लिए जा सकते हैं। एक ही धातु √पच से बने रूप 'पचति' और 'पकस्' में भी यह बात देखी

जा सकती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय संस्कृत में अ के स्थान पर ई (e) और o (ओ) स्वर थे। अग्रस्वर 'इ' के पूर्व का कंठ्य व्यंजन[1] तालव्य में बदल गया जिसके फलस्वरूप क् का च् और ग् का ज् हो गया। कंठ्य व्यजन के तालव्य हो जाने से इसे तालव्य नियम कहा जाता है। इस खोज से संस्कृत के मूल से समीप होने की धारणा बदल गई और अब संस्कृत की अपेक्षा ग्रीक लैटिन आदि मूल भारोपीय भाषा के अधिक समीप समझी जाने लगी हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तालव्य नियम के अनुसार मूल भारोपीय भाषा का तृतीय[1] श्रेणी का कवर्ग संस्कृत में कहीं तो कवर्ग ही रहा पर पहले आने वाले स्वर के कारण कहीं-कहीं चवर्ग (तालव्य) में परिवर्तित हो गया।

इन प्रधान ध्वनि नियमों के अतिरिक्त ग्रीक नियम [मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का ग्रीक भाषा में पहले 'ह्' हो जाना और फिर लुप्त हो जाना, जैसे *Genesos = genehos = geneos] लैटिन नियम [मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच के 'स्' का परिवर्तित होकर 'र्' हो जाना, जैसे *Genesos = generos (Generis)] ओष्ठ्य नियम, तथा मूर्द्धन्य नियम आदि अनेक और ध्वनि नियम भी हैं।

———

१. मूल भारोपीय भाषा की ध्वनियों पर हम पारिवारिक वर्गीकरण करते समय विचार कर चुके हैं। उसमें जैसा कि हमने देखा ३ श्रेणी के कवर्ग या कंठ्य व्यंजन थे। तालव्य नियम के अनुसार जो क् ग् तालव्य में परिवर्तित हो गए तृतीय श्रेणी के अर्थात् क्व् तथा ग्व् थे।

छठा अध्याय

अर्थ-विचार

अर्थ-विचार (Semantics)[1]

सच पूछा जाय तो भाषा के अध्ययन के आरंभ काल में ही अर्थ के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया था। भारत में इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ यास्क का निरुक्त है। यूरोप में भी प्लेटो के समय तक शब्द और उसमें निहित अर्थ के स्वाभाविक संबंध पर विचार होने लगा था। किन्तु इतना होने पर भी १९वीं सदी के अंतिम चरण के पूर्व तक इस विषय का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं के बराबर था। इसी कारण अर्थ-विचार को अभी अपने शैशवावस्था में कहा जाता है। है भी यही बात। ध्वनि-विचार आदि की भाँति प्रमुख रूप से इसका संबंध शरीर या बाह्य से नहीं है। यह अध्ययन अपना सीधा संबंध मनोविज्ञान से रखता है, अतः बहुत ही सूक्ष्म, गम्भीर और अनिश्चित-सा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इसी अस्पष्ट प्रकृति में कारण मनोरंजक और आकर्षक होने पर भी अर्थ-विचार अपने विद्यार्थियों को तीव्र गति से बढ़ने नहीं देता। सम्भव है, मनोविज्ञान के अधिक उन्नत हो जाने पर प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में हम अधिक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकें, पर अभी तक तो हमारे समक्ष केवल अनुमान का धुँधला प्रकाश ही है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक ग्रन्थ फ्रान्सीसी विद्वान ब्रील (Michel Breal) का 'अर्थ-विचार' (Essai de Semantique) है। भारत में तो इसका श्रीगणेश और बाद में हुआ है, और

---

१. अभी तक भाषा-विज्ञान के इस विभाग का निश्चित नाम नहीं है। हिन्दी में अर्थातिशय, अर्थ-विचार, शब्दार्थ-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि नाम तथा अंग्रेजी में Rhematology, semantics, और Semasiology नाम प्रचलित हैं।

आज तक प्रमुख रूप से केवल दो-चार विद्वानों ने ही इस क्षेत्र में कार्य किया है। प्रथम हैं 'बंगाली अर्थ विचार' पर कार्य करने वाले हेमन्त कुमार सरकार, और दूसरे हैं 'हिंदी अर्थ-विचार' पर कार्य करने वाले डा॰ बाहरी। जहाँ तक सिद्धान्तों का प्रश्न है, दोनों ही सज्जनों का कार्य ब्रील महोदय पर बहुत कुछ आधारित है, पर विस्तार में दोनों ही में मौलिकता है, और दोनों अपनी-अपनी भाषा के अर्थ-परिवर्तन पर सम्यक प्रकाश डालते हैं। इधर डॉ॰ बाबूराम सक्सेना तथा डा॰ कपिलदेव द्विवेदी (संस्कृत) ने भी इस सम्बन्ध में कुछ काय किया है।

प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ अपना एक अर्थ, भाव या विचार रखता है। वही अर्थ उसका प्राण या सार है और उस शब्द का सारा महत्व उस अर्थ पर ही निर्भर है। पारिभाषिक शब्दावली में उस अर्थ को अर्थ-तत्त्व (semanteme) कहते हैं। किसी शब्द का अर्थ-तत्त्व सर्वदा एक नहीं रहता। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन या विकास होता रहता है। अर्थ-विचार में इसी अर्थ-परिवर्तन या अर्थ विकास का अध्ययन होता है और हम विकास या परिवर्तन की दिशा तथा उसके मूल में छिपे कारण को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार अर्थ-विचार के अंतर्गत हम किसी शब्द के अर्थ-तत्त्व में होने वाले परिवर्तन या विकास के कारण तथा उसकी दिशा पर विचार करते हैं। उदाहरण के लिए हम 'गँवार' शब्द ले सकते हैं। 'गँवार' का शाब्दिक अर्थ है 'गाँव का रहने वाला' पर आजकल उसका प्रचलित अर्थ 'असभ्य' या 'असंस्कृत' है। यहाँ भाषा-विज्ञानी के आगे स्वाभाविक रूप से दो प्रश्न उठेंगे : (१) गँवार का अर्थ 'गाँव का रहने वाला' से परिवर्तित होकर या विकसित होकर 'असभ्य' क्यों हो गया है ? (२) यह विकास या परिवर्तन किस दिशा में हुआ है ? या दूसरे शब्दों में अर्थ संकुचित हो गया है या विस्तृत, बुरा हो गया है या अच्छा या उसमें इतना अधिक परिवर्तन तो नहीं हो गया है कि पुराने अर्थ से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं ?

कुछ लोग अर्थ-विचार के अंतर्गत एक तीसरा प्रश्न भी उठाना चाहते हैं। उनका कहना है कि, 'गँवार' का अर्थ 'गाँव का रहने वाला' से विकसित होकर असभ्य क्यों हो गया, और यह परिवर्तन किस दिशा में हुआ; इन दोनों प्रश्नों के पूर्व ही प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक है कि 'गँवार' शब्द

का प्रथम अर्थ 'गाँव का रहने वाला' ही कैसे हुआ। इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु या व्यापार का नामकरण कैसे और किस आधार पर हुआ। ग्राम को ग्राम ही क्यों कहा गया उसे नगर क्यो नहीं कहा गया? यास्क ने अपने ग्रंथ के आरम्भ में कुछ ऐसे प्रश्न उठाए हैं, पर उसका उत्तर उनके पास नहीं है। यथार्थ तो यह है कि वस्तुओं के नामकरण पर आज विचार किया ही नहीं जा सकता। कुछ थोड़े से शब्दों को छोड़कर इस दिशा में हमें अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वस्तु के नामकरण पर विचार करने के लिए नामकरण का समय, उस समय के लोगों की मानसिक दशा वातावरण, तथा जलवायु आदि का सम्यक ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है और अब इन बातों का पता पाना असंभव ही है। फिर भी यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह विषय भी अर्थ-विचार के अंतर्गत ही आना चाहिए और इसीलिए सामग्री के अभाव में भी संक्षेप में इस विचार कर लेना समीचीन होगा।

वस्तुओं के नामकरण का आधार

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं। उन गुणों में से किसी एक के आधार पर नाम रख दिया जाता है, इसी कारण नाम पूर्णतः उस वस्तु विशेष का परिचय नहीं देता। नामों की सबसे बड़ी कमी यह है कि वे अपूर्ण हैं, और इस प्रकार शुद्ध नहीं हैं। सर्प का सर्प नाम वक्र गति से चलने के कारण रखा गया है, पर और भी कीड़े तो वक्रगति से चलते हैं तो फिर उन्हें भी सर्प क्यों नहीं कहा जाता? यास्क कहते हैं कि यदि चुभने के कारण घास को तृण (तृ = चुभना) कहा गया तो सूई और भाले को भी क्यों नहीं कहा गया? लगभग सभी नामों के विषय में ऐसे प्रश्न उठते हैं। पहाड़ को 'पोरों वाला' होने के कारण 'पर्वत' कहा गया, पर वह केवल पोरों वाला ही तो नहीं है, वह पत्थर का ढेर भी है, तो फिर उसका कोई ऐसा नाम क्यों नहीं रखा गया, जिसका अर्थ हो 'पत्थर का ढेर'। यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जाती है, कि केवल प्रमुख गुण के आधार पर ही नाम नहीं रखा गया है, कुछ नाम ऐसे भी हैं जो अप्रधान गुणों के नाम पर हैं, और यह तो और भी बड़ी अशुद्धि है। 'पर्वत' नाम तो पहाड़ से कहीं अधिक उपयुक्त 'बाँस' और 'ईख' के लिए होता।

हमारा प्रश्न यहीं नहीं रुकता। यदि गुणों के आधार पर वस्तुओं का नाम पड़ा तो उन गुणों का नाम किस आधार पर पड़ा। यदि प्रभा (प्रकाश)

करने वाला होने के कारण सूर्य का नाम प्रभाकर है तो प्रभा का नाम प्रभा या चमकने के अर्थ में भा का ही प्रयोग क्यों हुआ ? कुछ शब्दों या धातुओं पर इस दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जा सकता है। पत्ते के गिरने में 'पत्' का शब्द हुआ और इसलिए इसका प्रयोग गिरने के लिए होने लगा। पर सभी शब्दों का विचार इस रूप में संभव नहीं।

एक बात यहाँ और विचारणीय है। हमें यह कभी नहीं समझना चाहिए कि धातुओं के आधार पर वस्तुओं के नाम आरम्भ में रखे गए। सत्य यह है कि नाम पहले रखे गए, और फिर विकास होने पर उनमें धातुओं की खोज हुई। ऊपर जो गुणों के आधार पर नाम रखे जाने की बात हम कर चुके हैं वह आरंभिक काल के लिए सत्य नहीं। इसका इतना ही आशय है कि आज हम गुणों के आधार पर नामकरण करते हैं, और पुराने नामों का अर्थ अपनी खोजी हुई धातुओं के आधार पर करके नामों की सार्थकता सिद्ध कर लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के विकसित हो जाने पर नामकरण का जहाँ तक प्रश्न है, वह गुणों के आधार पर किया जाता है पर भाषा के आरंभ में नामकरण का प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के साथ बँधा है, और उसका गणित की भाँति दो-टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

अर्थ-विचार और व्युत्पत्ति (Etymoloyg)[1]

कुछ लोग व्युत्पक्ति-शास्त्र को अर्थ-विचार का अंग मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो दोनों को एक ही मानते हैं। तथा कुछ इसे भाषा-विज्ञान का स्वतंत्र भाग मानते हैं। पर सत्यतः तीनों ही मत अशुद्ध हैं। व्युत्पत्ति भाषा-विज्ञान का कोई अलग विभाग नहीं है और न इसका अर्थ-विचार आदि की भाँति स्वतंत्र रूप से अध्ययन हो सकता है। तथ्य तो यह है, कि, व्युत्पत्ति में, किसी शब्द के आरंभ तथा धातु आदि पर विचार करते हुए हम ध्वनि, रूप और अर्थ इन तीनों दृष्टियों से उसका इतिहास देते हैं। इस प्रकार किसी शब्द की व्युत्पत्ति के अंतर्गत हमें शब्द का सब दृष्टियों से जीवन-चरित्र देना होता है। अन्त में कहा जा सकता है कि व्युत्पत्ति-शास्त्र अलग विज्ञान या भाषा विज्ञान का विभाग या अर्थ-विचार आदि न होकर ध्वनि-विचार, रूप-विचार और अर्थ-विचार का सम्मिलित प्रयोग मात्र है।

१. व्युत्पत्ति-शास्त्र के संबंध आगे स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा।

अर्थ-परिवर्तन

ऊपर हम 'गँवार' शब्द को लेकर देख चुके हैं कि उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तन का कारण भी विचारणीय है। 'गँवार' का अर्थ पहले 'गाँव का रहने वाला' था। गाँव में अधिकतर लोग असभ्य होते ही थे। अनुमानतः कारण यह ज्ञात होता है कि गाँव के रहने वालों के असभ्य होने कारण सांकेतिक रूप में पहले यह प्रयोग चला होगा और बाद में अपने दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गया होगा। विस्तृत रूप से विकास की दिशा और कारणों पर विचार करने के पूर्व अर्थ-परिवर्तन के कुछ और उदाहरणों को ले लेना ठीक होगा।

आज का एक बहुत प्रचलित शब्द 'तेल' है। शब्द पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'तिल' से निकला है और आरंभ में केवल तिल के रसको 'तेल' कहते रहे होंगे। आज तो इसका अर्थ इतना परिवर्तित हो गया है कि केवल सरसो, नारियल और रेंड़ी के तेल को ही नहीं, अपितु मिट्टी, साँप और मछली के तेल को भी तेल कहते हैं।

वैदिक संस्कृत में 'मृग' शब्द पशु मात्र का वाचक है। मृगराज (पशुओं का राजा, सिंह) में अब तक भी वह अर्थ सुरक्षित है, पर आज उसका अर्थ हिरन या हरिण हो गया है।

भोजपुरी का एक शब्द 'माहुर' है जिसका अर्थ 'विष' है। यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि यह संस्कृत का 'मधुर' शब्द का ही परिवर्तित रूप है जिसका अर्थ मीठा होता था। यहाँ अर्थ में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है, कि विश्वास भी नहीं पड़ता।

संस्कृत का एक शब्द है 'गुह्य' जिसका अर्थ है 'रहस्य' या 'छिपाने योग्य' भोजपुरी का 'गूह' शब्द उसी से निकला है जिसका अर्थ 'पाखाना' या पुरीष होता है। अब यह शब्द इतना अश्लील और घृणित समझा जाता है कि सभ्य समाज में इसका प्रयोग वर्जित है।

यदि आज किसी को 'साहसी' कहें तो मारे प्रसन्नता के वह फूला न समायेगा। उसे क्या पता है कि संस्कृत में साहस का प्रयोग हत्या व्यभिचार आदि बुरे कार्यों के लिए होता था!

इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि

अर्थ-परिवर्तन या विकास की दिशा एक ही नहीं है। कुछ शब्द पहले संकुचित अर्थ रखते थे विकास के पश्चात् उनके अर्थ का विस्तार हो गया। इसके उलटे कुछ शब्द और भी संकुचित हो गए। इसी प्रकार कुछ के अर्थ नीचे गिर गए और कुछ के ऊपर उठ गए। यही विकास की विभिन्न दिशाएँ हैं।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

लगभग सभी विद्वान अर्थ-परिवर्तन की ३ दिशाएँ मानते हैं:—

१. अर्थ बिस्तार,

२. अर्थ संकोच,

३. अर्थादेश

ऊपर के उदाहरणों में इन तीन के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द लिए गए हैं, जिनमें अर्थ का अपकर्ष और उत्कर्ष हुआ है। यों तो ये दोनों अपकर्ष और उत्कर्ष भी उपर्युक्त ३ दिशाओं में से किसी न किसी के अंतरगत रखे जा सकते हैं, पर स्पष्टता के लिए यहाँ इन पर अलग विचार किया जायेगा।

(१) अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning)

शब्दों का अर्थ जब सीमित क्षेत्र से निकल विस्तार पा जाता है तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं। ऊपर तेल शब्द के अर्थ-विस्तार को हम देख चुके हैं। पहले उसका प्रयोग केवल तिल के तेल के लिए होता पर अब सभी वस्तुओं के तेल के लिए होता है। भाषा में अर्थ-बिस्तार के उदाहरण अधिक नहीं मिलते, क्योंकि भाषा में ज्यों-ज्यों विकास होता है उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित वस्तुओं और भावनाओं के प्रकटीकरण की शक्ति आती जाती है। इस प्रकार अर्थ-संकोच ही स्वाभाविक है अतः वह अधिक पाया जाता है। टकर ने तो यहाँ तक कहा है कि यथार्थ रूप में अर्थ-विस्तार होता ही नहीं। जिसे हम अर्थ-बिस्तार कहते हैं वह एक प्रकार का अर्थादेश मात्र है। खैर, यह तो नहीं कहा जा सकता कि अर्थ-विस्तार होता ही नहीं, हाँ कम अवश्य होता है, पर जो होता है वह शुद्ध अर्थ विस्तार है, उसे हम अर्थादेश नहीं कह सकते जैसा कि टकर महोदय ने कहा है।

कुछ उदाहरण ले लेना समीचीन होगा। संस्कृत के 'कल्य' शब्द का प्रयोग आने वाले कल के लिए तथा 'परश्वः' का आने वाले परसों के लिए होता था, पर अब हिन्दी में दोनों का अर्थ-विस्तार हो गया है। दोनों ही—कल और परसों—बीते हुए तथा आने वाले, दोनों ही दिनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग पहले केवल बार-बार बाण आदि फेंकने के लिए होता था पर अब तो लिखने की कापी पर भी अभ्यास पुस्तिका (Exercise book) छपा मिलता है। 'गवेषणा' शब्द प्रारम्भ में केवल गाय को ढूढ़ने के प्रयोग में आता था पर आज किसी भी विषय पर गवेषणा पूर्ण लेख लिखे जा सकते हैं। स्याह का अर्थ काला है, और आरम्भ में लोग काले रंग से लिखते थे इसलिए उसे स्याही कहा गया। आज नीली, लाल और हरी स्याही भी हम देख रहे हैं। पुण्य करने वाला पहले निपुण था। आज तो श्याम को श्वेत और श्वेत को श्याम सिद्ध करने वाला वकील भी अपने कार्य में निपुण है। इतना ही क्यों? सिद्धहस्त चोर भी निपुण कहा जाता है। इसी प्रकार कभी वीणा बजाने में कुशल व्यक्ति प्रवीण कहा जाता था, पर आज किसी को भी किसी कार्य में प्रवीण कह सकते हैं, चाहे उसने वीणा का नाम भी न सुना हो। इतना ही नहीं, व्यक्ति वाचक संज्ञाओं में भी अर्थ-विस्तार हो जाता है। जयचन्द कभी एक व्यक्ति मात्र था, पर इधर २० वीं सदी में भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व तक पुलिस और फौज विभाग के सारे कर्मचारी जयचन्द कहे जाने लगे थे। बहुत संभव है ना० वि० गोडसे भी निकट भविष्य में अपना नाम अर्थ-विस्तार के उदाहरणों में पाने लगें।

(२) अर्थ-संकोच (Contraction of Meaning)

भाषा के विकास में अर्थ-संकोच का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा के आरम्भ काल में सभी शब्द सामान्य रहे होंगे। सभ्यता के विकास के साथ विशिष्ट की भावना आती गई होगी और शब्दों में अर्थ-संकोच होता गया होगा। इसीलिए ब्रील ने कहा है कि राष्ट्र या जाति जितनी ही अधिक विकसित होगी उसकी भाषा में अर्थ-संकोच के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। अर्थ-संकोच के कारण किसी शब्द का प्रयोग सामान्य या विस्तृत अर्थ से हटकर विशिष्ट या सीमित अर्थ में होने लगता है। अंग्रेजी के deer तथा संस्कृत के मृग शब्द का प्रयोग पहले जानवर के लिए होता था पर क्रमशः वर्तमान अंग्रेजी तथा हिंदी में इनका प्रयोग 'हरिण' के लिए हो रहा

है। 'गो' शब्द गम् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'गमन करने वाला' पर अब उसका प्रयोग केवल गाय के लिए होता है। इसी प्रकार भार्या का मूल अर्थ है 'जिसका भरण पोषण किया जाय', पर अब यह केवल पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है, यद्यपि आज की बहुत सी पत्नियाँ भरण-पोषण की अपेक्षा बिल्कुल नहीं रखतीं। कभी-कभी तो वे पतियों का भी भरण-पोषण करती हैं। श्रद्धा से किया जाने वाला प्रत्येक कार्य कभी श्राद्ध कहा जाता था पर अब केवल मृत्यु के बाद ही श्राद्ध का प्रयोग होने लगा है। 'वेदना' शब्द का प्रयोग पहले दुःख-सुख दोनों के लिए होता था। दुखद वेदना और सुखद वेदना। पर अब वह केवल दुःख के लिए प्रयुक्त होता है। गंध का प्रयोग अब भी खड़ीबोली आदि में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की गंधों के लिए होता है। अवधी में इसका प्रयोग केवल बहुत बुरी और असह्य दुर्गंधि के लिए करते हैं। 'घृत' घृ धातु से बना है जिसका अर्थ है सींचना। इसीलिये पहले इसका अर्थ पानी भी होता था, पर अब तो यह केवल घी के लिए प्रयुक्त होता है। वत्स, बाछा, बछेड़ा, पाड़ा, छौना, मेंमना, पोआ, पिल्ला आदि सभी शब्दों का अर्थ बच्चा है, पर अब अर्थ संकुचित हो जाने के कारण क्रमशः ये मनुष्य, गाय, घोड़ा, भैंस, सूअर, भेंड़, साँप और कुत्ते के बच्चे के लिए प्रयोग में आते हैं।

(३) अर्थादेश (Transference of Meaning)

भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ मे ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। ऊपर हम गँवार शब्द ले चुके हैं। इस संबन्ध में दूसरा उदाहरण 'असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओं में यह देववाची शब्द है, पर बाद में राक्षसवाची हो गया। अशोक 'देवानां प्रियः' कहा जाता था पर बाद में इसका अर्थ मूर्ख हो गया। संस्कृत का वाटिका शब्द बँगला में बाड़ी हो गया है और उसका अर्थ बागीचे से हट कर 'घर' हो गया है। इसी प्रकार 'मेये' बँगला में पहले 'माई' के अर्थ में आता था। धीरे-धीरे अर्थादेश होने लगा, और आज रानीगंज के आस-पास इसका अर्थ पत्नी हो गया है। माता का पत्नी में परिवर्तन किस

भाव-साहचर्य से हुआ, यह बतलाना कठिन ही नहीं असम्भव सा है। इस प्रकार अर्थादेश के कारणों के संबन्ध में निश्चित् कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ और उदाहरण लिए जा सकते हैं जिनके कारणों पर भी विचार किया जा सकता है। मौन शब्द मुनि से बना है, और आरम्भ में इसका प्रयोग मुनियों के विशुद्ध आचरण के लिए होता था। मुनि लोग अधिकतर शान्त्यर्थ मौन (चुप) रहते थे अतः धीरे-धीरे मौन शब्द का प्रयोग उस चुप्पी के लिए होने लगा। आज यह केवल मुनियों की चुप्पी के लिये हीन होकर साधारण चुप्पी के लिए प्रयुक्त होने लगा है, और कभी-कभी स्वीकार का लक्षण भी माना जाता है (मौनं स्वीकृति लक्षणम्)। 'पाषंड' नाम का एक संप्रदाय अशोक के समय में था। बड़ी सराहना के साथ अशोक ने उसके साधुओं को दान दिया था। बाद में वे साधु या उनके शिष्य भ्रष्टाचारी हो गये, अतः पाषंड में अर्थादेश होने लगा और आज दुष्टता, ढोंग, दिखावट आदि के लिए इसका प्रयोग होता है। 'तारतम्य' शब्द का पहले अर्थ न्यूनाधिक या कम-ज्यादा था। धीरे-धीरे इसका अर्थ 'क्रम' हो गया और आज 'ताँता बँधने' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हो रहा है। बँगला भाषा में गृह से निकले शब्द घर का अर्थ हिंदी की भाँति घर न होकर 'कमरा' होने लगा है। यह अर्थादेश तो स्पष्टतः भाव-साहचर्य के कारण हुआ है। इसे अर्थ-संकोच का भी उदाहरण मान सकते हैं पर अर्थादेश का उदाहरण मानना ही कदाचित् अधिक उचित होगा।

(४) अर्थापकर्ष

जैसा कि ऊपर हम चुके हैं, यह कोई अर्थ-परिवर्तन की स्वतन्त्र दिशा नहीं है। ऊपर की ३ दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन होने पर कभी अर्थ का उत्कर्ष और कभी अपकर्ष हो जाता है, उसी का विवेचन यहाँ किया जायगा। ऊपर हम देख चुके हैं कि, गुह्य शब्द भोजपुरी में ध्वनि-परिवर्तन के कारण 'गूह' बना है, उसमें अथ-संकोच भी हो गया है और साथ ही अर्थ की अपकर्षता भी आ गई है। वह इतना अश्लील समझा जाता है कि सभ्य समाज में व्यवहृत नहीं होता। 'जुगुप्सा' शब्द गुप् धातु से बना है जिसका पहले छिपाने तथा पालने के अर्थ में प्रयोग होता था। अर्थादेश से इसका अर्थ धीरे-धीरे 'घृणा' हो गया। आज भी इसका प्रयोग यही है।

पालन से गिरकर घृणा अर्थ में प्रयुक्त होना जुगुप्सा का अर्थापकर्ष है। आज कल काम शास्त्र, तथा पाखाना-पेशाब संबन्धी अनेक शब्द इतने घृणित समझे जाने लगे हैं कि एकांत में भी उनका उच्चारण नहीं किया जा सकता। उन सभी शब्दों का अर्थापकर्ष हुआ है। लिंग शब्द का पुराना अर्थ 'लक्षण' था, धीरे-धीरे इसमें अपकर्ष हो रहा है और संभव है कि कुछ दिन यह सभ्य समाज से निकाल दिया जाय।

अर्थापकर्ष का भाषा के शब्द-समूह पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन शब्दों में अर्थापकर्ष अधिक हो जाता है वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण 'शब्द-समूह' से निकाल दिये जाते हैं और उनका स्थान नए शब्दों द्वारा पूरा किया जाता है। इस प्रकार शब्द-समूह-परिवर्तन (change in Vocabulary) घटित होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि तत्सम शब्द तो अपने ठीक अर्थ में प्रयोग में आता है, पर उससे निकले तद्भव या अर्द्धतद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है और वह हीन अर्थ में प्रयोग होने लगता है। 'गर्भिणी' और 'गाभिन' शब्दों में यह बात स्पष्टत: परिलक्षित होती है। प्रणाली तथा पनारी या पनारा भी इसी के उदाहरण हैं।

किसी भाषा के शब्दों के अर्थापकर्ष के अध्ययन से उसके बोलने वालों के मनोविज्ञान पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है।

(५) अर्थोत्कर्ष

यह अर्थापकर्ष का विलोम है। कभी-कभी शब्दों के अर्थ परिवर्तित होने में पहले से अधिक उन्नत हो जाते हैं, इसी को अर्थ का उत्कर्ष कहते हैं।

'साहस' शब्द पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। संस्कृत में इसका प्रयोग बुरे अर्थ में (व्यभिचार, हत्या) होता था पर अब अधिकतर अच्छे अर्थ में होता है।

संस्कृत के 'कर्पट' (पटच्चरं जीर्णवस्त्रं समौ लक्तककर्पटौ। अमर०) और पाली के 'कप्पट' का प्रयोग केवक 'फटे वस्त्र' के लिये होता था पर आजकल अच्छे से अच्छे बस्त्र के लिए कपड़े का प्रयोग होता है'लत्ता'भी इसके साथ कुछ ऊँचा उठ आया है। इसी प्रकार मुग्ध का प्रयोग संस्कृत में मूढ़ के लिए भी होता था,पर आज उसमें मूढ़ता की तनिक भी गंध नहीं है। फिरंगी शब्द

पहले केवल पुर्तगाली डाकू के लिए आता था बाद में इसका हमारे यहाँ अर्थ यूरोपियन हो गया। यद्यपि नवीन अर्थ में भी यह बहुत उच्च नहीं हो सका है, पर पहले अर्थ की अपेक्षा उसमें उत्कर्ष अवश्य हुआ है। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व तक इंडियन (Indian) शब्द का प्रयोग विदेशी गुलाम[1] के अर्थ में करते थे। पर अब इंडियन होना गौरव की बात है। विश्व के शान्त मनीषियों को यह विश्वास है कि संसार को यथार्थ प्रकाश केवल भारत दे सकता है। बंदी शब्द भी पहले केवल बुरे अर्थ में आता था क्योंकि केवल चोर आदि ही कारागार में जाते थे, पर इधर राष्ट्र के देवताओं ने इसे इतना पवित्र बना दिया कि कम से कम १५ अगस्त सन् ४७ तक बंदी होना कम गौरव की बात नहीं थी। आज भी वह विशिष्ट योग्यता (special qualification) समझी जाती है। अछूत शब्द भी धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है। इन शब्दों के उत्कर्ष में देश के मनोविज्ञान का कितना सुन्दर प्रतिबिंब है ! सचमुच भाषा विज्ञान के ही प्रकाश में मानव-समाज के मनोविज्ञान के विकास का शुद्ध इतिहास तैयार किया जा सकता है।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार

मनुष्य के मनोविज्ञान में सर्वदा परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहते हैं, जिसके फल स्वरूप उसके विचार भी एक से नहीं रह पाते। भाषा विचारों की बालिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार करना आसान नहीं है क्योंकि वे इतने संयुक्त और गुंथे रहते हैं कि निश्चित स्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ता। एक शब्द के अर्थ-परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पड़ता है तो कभी दूसरा। फिर भी एक बात तो निश्चित सी है कि भाव-साहचर्य ही घूम फिर कर अधिक अर्थ-परिवर्तनों में कार्य करता दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं पर इनका भी प्रभाव सीधा न पड़कर उसी रास्ते से पड़ता है। कभी-कभी व्यक्ति या संप्रदाय में विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

---

१. एक बार क्रिश्चियन कालेज इलाहाबाद में एक अमेरिकन प्रोफेसर ने अभी सन् १९४१ में एक लड़के पर बिगड़ते हुये 'ओ यू इंडियन' कहा था।

नीचे इस संबन्ध में कुछ कारणों पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे, पर एक बात ध्यान में रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द में एक ही कारण नहीं काम करता, इस कारण उदाहरणों पर विचार करते समय अर्थ परिवर्तन में यदि किसी और कारण की भी गंध मिले तो उसे अशुद्ध न समझकर समझने का प्रयास करना चाहिए। कारणों के इस संयुक्त कार्य के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणों में भी यहाँ दिए गए हैं पर अपने अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया गया।

[१] बल का अपसरण (Shift of emphasis)

किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगें तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड़कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्याय जी परिवर्तित होकर 'झा' इसी बल के अपसरण के कारण हुए हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ में भी यह कार्य करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित् उत्तर नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव-साहचर्य का ही यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमें समीपवर्ती दो भावों में एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लेना ठीक होगा।

'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत सी गायों का स्वामी' बहुत से गायों का स्वामी 'धनी' होगा अतः 'माननीय' भी होगा। इस प्रकार धीरे-धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वहीं एक और भावना कार्य करने लगी। वह भावना यह कि जो अधिक गायों की सेवा करेगा वह धर्म-परक भी होगा। इस प्रकार बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' अर्थ से चलकर 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ में यह मध्ययुगीन संतों के नाम से साथ प्रयुक्त होता है। अब तो गोस्वामी या गोसाईं नाम की एक जाति भी हो गई है।

'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द गुप् धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था गाय का पालन करना। कुछ दिन बाद बल केवल पालने पर गया और इसमें अर्थ-विस्तार

हुआ। इस प्रकार इसका प्रयोग केवल पालने के अर्थ में होने लगा। पालन छिपाकर किया जाता है अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों में यही भाव प्रधान हो गया। पुराने अर्थ बिल्कुल लुप्त हो गये और इस शब्द का अर्थ फिर आगे बढ़ने लगा। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है जो घृणित होती है अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। आश्चर्य यह है कि जुगुप्सा का अर्थ इतनी लम्बी यात्रा करके और इतना नीचे गिरकर भी शान्त नहीं हो सका है, उसमें फिर परिवर्तन हो रहा है और उसका प्रयोग घृणा के साथ-साथ निन्दा के लिए भी होने लगा है।

अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' (Knave), ये दोनों भी इसी वर्ग में आते हैं। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है पर बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है।

[२] पीढ़ी परिवर्तन

मनुष्य अनुकरण प्रिय प्राणी है, पर स्वयं अपूर्ण होने के कारण वह शुद्ध और पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता। यही कारण है कि पीढ़ी-परिवर्तन के समय जब पुरानी पीढ़ी चिता की ओर चल पड़ती है और नई पीढ़ी मुकुलित होने लगती है तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगते हैं। नई पीढ़ी अनुकरण ठीक न कर सकने के कारण अनजान में ही नए रास्ते पर आ खड़ी होती हैं। यही परिवर्तन का मूल है। यह परिवर्तन ध्वनि के विषय में तो स्पष्टतः देखा जाता है पर अर्थ के विषय में भी इसका घटित होना असंभव नहीं है। अधिक अस्पष्ट अर्थ रखने वाले शब्दों के विषय में तो यह परिवर्तन और भी स्वाभाविक हो जाता है क्योंकि आवश्यक नहीं है कि नई पीढ़ी प्रत्येक शब्द को उतनी ही गहराई तक समझे। इसी न समझने में नया अर्थ विकसित हो जाता है। मेरा अपना विचार तो यह है कि वे सभी शब्द जिनमें अर्थ परिवर्तन हुआ है कुछ न कुछ प्रस्तुत कारण से प्रभावित अवश्य हैं। अर्थात् सभी अर्थ-परिवर्तनों के मूल में किसी न किसी अंश में इस कारण ने भी कार्य किया है। यह अवश्य है कि यह बात सभी शब्दों में स्पष्ट नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो सभी अर्थ-परिवर्तन इसके उदाहरण हो सकते हैं पर केवल कुछ स्पष्ट उदाहरणों को ही लेना यहाँ ठीक होगा।

'पत्र' शब्द का इतिहास इस दृष्टिकोण से बड़ा मनोरंजन है। आरंभ में लोगों ने पत्र या पत्ते पर लिखना आरम्भ किया। कुछ समय तक पत्ते पर लिखा जाता रहा। दूसरी पीढ़ी आई और उसने यही सोचा कि जिस पर लिखा जाता है उसे पत्र कहते हैं। नई पीढ़ी यह नहीं सोच सकी कि पत्र पर लिखे जाने से ही उसे पत्र कहते हैं। यह गलती वहाँ और भी स्पष्ट हो जाती है जब इस नई पीढ़ी को भोज वृक्ष की छाल को भी लिखने के काम में आने के कारण भोजपत्र या भूर्जपत्र कहते पाते हैं। धीरे-धीरे लिखने के काम में और भी बराबर चपटी और पतली चीजें (खाल, पत्थर, काठ इत्यादि) आने लगी और पत्र का अर्थ आगे आने वाली पीढ़ियों ने इन्हीं गुणों को मान लिया और किसी भी चीज का बराबर चपटा और पतला रुप पत्र कहा जाने लगा। आज भी सोने चाँदी और तांबे के 'पत्तर' सोनार तथा लोहे के लोहार बनाते हैं। इतना ही नहीं, 'पत्तर' में पतला होने का प्रधान गुण देखकर किसी पीढ़ी ने तो आलंकारिक प्रयोग में इस संज्ञा को विशेषण बना दिया और यही 'पत्र' या 'पत्तर' भोजपुरी में 'पातर' और खड़ीबोली में 'पतला' भी हो गया।

अंग्रेजी का टाउन (Town) शब्द भी इसी प्रकार के परिवर्तन से होकर आया है।

[३] विभाषा से शब्दों का उधार लेना

कभी कभी संसर्ग या आवश्यकता के कारण एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में उधार ले लिया जाता है। ऐसा करने में शब्द का शरीर तो आजाता है।(परिवर्तित होकर भी कभी-कभी आता है) पर आत्मा ठीक उसी प्रकार नहीं आती। फल यह होता है कि उधार लेकर प्रयोग करने वाले लोग उस शरीर में पिछली आत्मा से मिलती जुलती कोई आत्मा डाल कर उसे अपना लेते हैं। इस प्रकार शब्द की आत्मा अर्थात् अर्थ में कुछ परिवर्तन हो जाता है। फारसी में 'मुर्ग' का अर्थ था 'पक्षी'। 'मुर्गाबी' शब्द में अब भी वह अर्थ सुरक्षित है, जिसका अर्थ है 'पानी की चिड़िया'। हिन्दुस्तानी बोलियों में या भाषाओं में मुर्ग का अर्थ पक्षी न रहकर पक्षी विशेष हो गया। इस अर्थ-परिवर्तन की दिशा अर्थ-संकोच है। फारसी का दूसरा शब्द 'दरिया' (नदी) गुजराती में जाकर 'समुद्र' का अर्थ देने लगा है। इसी प्रकार अंग्रेजी का क्लाक (Clock) शब्द अंग्रेजी में दीवाल घड़ी या घड़ी के

लिए प्रयुक्त होता है पर गुजराती में उसका अर्थ घंटा हो गया है। अंग्रेजी का ग्लास शब्द जिसका अर्थ शीशा है हिंदी में गिलास बनकर एक विशिष्ट प्रकार के बर्तन का अर्थ देने लगा है।

कुछ शब्द हमारे यहाँ से अरबी भाषा में गए हैं। अधिक तो नहीं पर कुछ परिवर्तन उनमें भी हुआ है। संस्कृत का भक्त या भत्त (भात, पका चावल) अरबी में 'बहत' हो गया है। जिसका वहाँ अर्थ खीर या 'तस्मई' हो गया है। यहाँ का 'विष' शब्द वहाँ 'वेश' हो गया है जो एक ज़हरीली जड़ी का नाम है। संस्कृत का उच्च शब्द अरबी में 'ओज' हो गया है जिसका प्रयोग वहाँ ज्योतिष के परिभाषिक शब्द 'ऊर्ध्वविन्दु' के लिए होता है।

सच तो यह है कि विभाषाओं में जाने पर बहुत कम शब्द अपने ठीक पुराने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

[४] एक भाषा-भाषी लोगों का तितर-बितर होकर विकसित होना

जब एक भाषा बोलने वाले लोगों का समूह कई वर्गों में विकसित होने लगता है और अंत में अलग-अलग वर्ग बन जाते हैं तो उन विभिन्न वर्गों में एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगता है। इसके पीछे उन लोगों का अलग-अलग विकास कार्य करता है। इसी कारण एक परिवार की विभिन्न भाषाओं में कभी-कभी एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता दिखाई देता है।

अधिकतर यह अर्थ-परिवर्तन बहुत साधारण होता है, पर कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें यह इतना अधिक हो जाता है कि पहचाना भी नहीं जाता। 'वाटिका' का संस्कृत में अर्थ बगीचा था। भोजपुरी में इसी से विकसित शब्द 'बारी' बगीचा का अर्थ देता है पर बँगला में यह शब्द बाड़ी हो गया है जिसका अर्थ घर है। संस्कृत का 'नील' शब्द हिन्दी में नीला है और अपना मूल अर्थ देता है पर गुजराती में यह 'लीलो' होकर हरा का अर्थ देने लगा है। अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों ही एक ही भारोपीय परिवार की भाषाएँ है, पर कितना आश्चर्य है, कि, इनके फी (fee) और 'पशु' शब्दों के अर्थ में इतना महान अंतर हो गया है, यद्यपि ये दोनों मूलतः एक ही शब्द हैं। इसी प्रकार संस्कृत के युग (दो) तथा अंग्रेजी के योक (yoke) भी अंतर हो गया है।

ऐसे परिवर्तन बहुत अधिक शब्द में नहीं मिलते ।

[५] वातावरण में परिवर्तन

वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है । ऊपर हम लोगों ने जिस कारण पर अभी विचार किया है, वह भी इससे मिलता-जुलता है । अंतर केवल यह है कि उसमें दो वर्गों के अलग-अलग विकास से परिवर्तन हुआ है अतः वह अधिक भीतरी या मानसिक है पर यहाँ यह कारण वातावरण या वाह्य पर पूर्णतया आधारित है, यद्यपि उस पर भी वाह्य या वातावरण का कुछ प्रभाव पड़ा अवश्य है, और दूसरी ओर प्रस्तुत कारण से होने वाले अर्थ-परिवर्तन भी मन से दूर नहीं रखे जा सकते । वातावरण कई प्रकार के हो सकते हैं अतः सभी को अलग-अलग लेना अधिक सुन्दर होगा ।

[क] भौगोलिक वातावरण

इसके अंतर्गत नदी, पर्वत, पेड़ आदि लिए जा सकते हैं । सब जगह एक ही प्रकार के पेड़ नहीं मिलते । थोड़ी देर के लिए मान लें कि हम एक ऐसे स्थान पर हर रहे हैं जहाँ 'क' नाम का पेड़ अधिक है और उससे हमें लाभ है । थोड़े दिन बाद हम किसी कारण वश वहाँ से हटकर कहीं और चले आए जहाँ वह पेड़ तो नहीं है, पर एक दूसरा पेड़ उसी प्रकार बहुतायत से मिलता है साथ ही उसी पेड़ की भाँति लाभकर भी है । ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है, कि हम उसी पुराने नाम से नए पेड़ को पुकारने लगेंगे । यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे छोटे लड़के यदि कहीं बाहर जाकर कोई नदी देखते हैं तो उसे अपने गाँव या नगर की ही नदी समझते हैं, और उसे उसी नाम से पुकारने भी लगते हैं । अंग्रेजी में कार्न (Corn) का अर्थ गल्ला है पर अमेरिका में भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन के कारण इसका प्रयोग मक्का के लिए होता है जो वहाँ का प्रधान अन्न था और जिसे पहले वहाँ के मूल निवासी खाते थे । जानवरों के विषय में भी यह बात देखी जाती है । वेदों की प्राचीनतम ऋचाओं में उष्ट्र का प्रयोग जंगली बैल के लिए हुआ है, पर बाद में संभवतः जब आर्य मरुभूमि में आ गए थे इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा है ।

[ख] सामाजिक वातावरण

एक ही भाषा में एक ही समय में समाज के वातावरण के अनुसार

शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। अंग्रेज़ी के मदर (Mother) और सिस्टर (Sister) शब्दों का अर्थ साधारणतः कुछ और है, गिरजाघरों में कुछ और है तथा अस्पतालों में और है। इसी प्रकार सभा में व्याख्यान देने वाले का भाई और बहन कुछ दूसरा अर्थ रखता है और घर में भाई-बहन के प्रयोग कुछ दूसरा अर्थ रखता है। किसी आफ़िस में काम करने वाले को रविवार के दिन देर तक सोते रहने पर जब उसकी पत्नी 'अरे भाई उठिए' कहकर जगाती है, तो उसका आशय उन महाशय से भाई का संबंध जोड़ने का कभी नहीं रहता। इस प्रकार वातावरण के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। नाई का 'खत काटना' और शिशु-कक्षा के लड़के का सरकंडे के कलम में 'खत काटना' भी एक अर्थ नहीं रखता। विद्यार्थी के प्रयोग में आने वाला 'कलम' शब्द तथा माली का 'कलम' शब्द, भी एक नहीं है। इसके और भी बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

[ग] प्रथा संबंधी वातावरण

लौकिक प्रथाएँ तथा रस्मरिवाज भी समय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस वातावरण के परिवर्तन में ऐसा होता है कि पुरानी प्रथाओं के कुछ शब्द तो लुप्त हो जाते हैं, पर कुछ शब्द नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। वैदिक शब्द 'यजमान' यज्ञ करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। यज्ञ की प्रथा के लुप्त होने के साथ-साथ उसका वह अर्थ भी समाप्त हो गया। आज किसी ने यदि एक पैसा भी किसी ब्राह्मण को दे दिया तो तुरत ब्राह्मण देवता 'जजमान, तुम्हारा भगवान भला करें, कह कर आशीर्वाद देते हैं। इतना ही नहीं। देहातों में नाई लोग आपस में गाँवों की हजामत बनाने के लिए क्षेत्र बाँट लेते हैं और अपने हिस्से के गाँव या घरों को अपनी 'जजमानी' कहते हैं। इसी प्रकार स्वयंवर की प्रथा आज नहीं रही पर 'वर' का प्रयोग 'दुलहे' के लिए चल रहा है। अब 'वर' शब्द से चुने जाने का अर्थ निकल गया है। ऐसे अर्थ-परिवर्तन देहात में प्रयुक्त होने वाले अनेकानेक शब्दों में मिलते हैं।

✓[६] नवीन वस्तुओं का निर्माण तथा प्रचलन

जब नवीन वस्तुएँ बनती हैं तो उनके नाम की समस्या हमारे समक्ष आती है। अधिकतर ऐसा किया जाता है कि जिस सामग्री से वह वस्तु बनती है उसी के नाम का प्रचलन वस्तु के लिए हो जाता है। और इस प्रकार

उस शब्द में एक नवीन अर्थ प्रवेश कर जाता है। भारतवर्ष में गिलासें पहले शीशे की बनीं। शीशे को अंग्रेजी में ग्लास (Gloss) कहते हैं, अतः यहाँ उससे बनी वस्तु को भी ग्लास या गिलास कहने लगे। अंग्रेजी का पेन (Pen) शब्द भी इसका अच्छा उदाहरण है। पहले क़लमें पंख की बनती थीं अत: पंख (Pinna) का ही प्रयोग उनके लिए भी होने लगा। और अब लोहे के कमल को भी पेन कहते हैं। यह किसी को भी ध्यान नहीं कि पेन का यथार्थ अर्थ पंख है।

नवीन वस्तुओं के निर्माण में नाम सर्वदा सामग्री पर ही आधारित नहीं रहते। कभी-कभी बनाने की क्रिया पर ही उसका नाम रख दिया जाता है और थोड़े दिनों में नाम के आधार को भूल कर उस शब्द का अर्थ ही उस वस्तु को समझ लेते हैं। पुस्तकें ग्रंथन कर या गूथ कर बनाई जाती थीं अतः उनका नाम ग्रंथ पड़ गया। अब हम ग्रंथ का सीधा अर्थ पुस्तक ही समझते हैं।

भोजपुरी का 'डाँड़' शब्द जो जुर्माने के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसी का उदाहरण है। पहले दंड या डंडे से सजा दी जाती थीं पर आज तो रुपए के जुर्माने को भी डाँड़ या डंड कहते हैं।

[७] नम्रता प्रदर्शन

नम्रता प्रदर्शन के कारण भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जब उत्तरी भारत का कोई ऐसा आदमी जिसका शीन काफ़ दुरुस्त है, किसी से पूछना है, कि आपका दौलतख़ाना कहाँ है तो उसका 'दौलतख़ाने' से आशय 'धन का भंडार' न होकर 'घर' होता है। यहाँ दौलत खाने का अर्थ परिवर्तित होकर घर हो गया है। इसी प्रकार अपने घर को लोग 'गरीबख़ाना' कहते हैं। हिन्दी में किसी का नाम पूछने के लिए पूछा जाता है कि श्रीमान किन-किन अक्षरों को सुशोभित करतें हैं। संस्कृत साहित्य में कहीं-कहीं ऐसा मिलता है कि 'आप कहाँ से आ रहे हैं?' पूछने के लिए 'आप किस देश या स्थल की श्री को क्षीण करके आ रहे हैं?' का प्रयोग हुआ है। भारोपीय परिवार की लगभग सभी भाषाओं में नम्रता-प्रदर्शन का विशेष ध्यान है। उर्दू राज-दरबारों में विकसित होने के कारण संभवतः इन सब में आगे है। उसमें 'आप' के लिए 'ग़रीबपरवर' 'जहाँपनाह' आदि का प्रयोग चलता है। रीवाँ आदि राज्यों में सारी प्रजा तथा राज्य

कर्मचारी राजा से बात करते समय 'अन्नदाता' कह कर संबोधित करते हैं। उर्दू में यदि स्वयं कुछ कहना शुद्ध तो कहा जाता है 'कुछ अरज़ करना चाहता हूँ।' लेकिन दूसरे से कुछ कहने के लिए कहा जाता है 'अब कुछ आप फरमाइए'। कोई अफसर जब किसी बाबू या क्लर्क को बुलाना चाहता है तो चपरासी से यह न कहकर कि 'अमुक बाबू को बुला लाओ' 'अमुक बाबू को सलाम बोलो' कहता है।

भोजपुरी में आदर के लिए 'राउर' शब्द प्रयुक्त होता है जो 'राजकुल' या 'राजकुल्य' का रूपान्तर है। हिन्दी तथा अंग्रेजी में मध्यम पुरुष एक वचन (तू thou) का प्रयोग बहुत कम होता है। उसके स्थान पर आदर के लिए बहुबचन (तुम, you) का प्रयोग ही अधिक चलता है। पर उस अनादर सूचक तू और thou का प्रयोग ईश्वर तथा अपने घनिष्ट के लिए बड़े प्यार से किया जाता है। इसी प्रकार भोजपुरी में माता के लिए 'तें' का प्रयोग है जो साधारणतः अनादरसूचक समझा जाता है।

नम्रता-प्रदर्शन में जापानी भाषा संसार में सबसे आगे है। उनके यहाँ साधारण प्रयोग से पूर्णतया पृथक एक आदरसूचक भाषा का विकास हो गया है। राजघराने के प्रयोग के लिए कुछ वस्तुओं के नाम वहाँ सर्वथा अलग हैं। कुछ दिन पहले तक ऐसा था कि साधारण पुराने विचार के आदमी यदि ग़लती से उस शब्द का प्रयोग कर देते थे तो हाराकिरी (आत्म हत्या) कर लेते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इससे पाप लगता है। इस संबंध में चेम्बरलेन की 'हैन्डबुक ऑव कलोकिअल जापानीज़ (Handbook of Colloquial Japanese) पुस्तक पढ़ने योग्य है।

कुछ ऐसे प्रयोग हिन्दी में भी हैं। साधुओं या राजाओं के आने को 'आना' न कहकर 'पधारना' कहते हैं। संतों से 'भोजन कर लीजिए' न कहकर 'भोजन पा लीजिए' कहा जाता है। यदि किसी आदमी से उसके लड़के के लिए पूछा जाय कि यह किसका लड़का है तो वह यह न कह कर कि मेरा लड़का है, 'आपही का लड़का है' कहेगा। देवताओं के भोजन को भोग और बड़ों के देखने को 'दर्शन' कहते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रयोगों में नम्रता-प्रदर्शन के कारण शब्दों के अर्थों में विशेषता आ गई है।

[८] अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग

संसार में अशोभन बातें, भावनाएँ, कार्य हैं, पर यथासाध्य मनुष्य का मस्तिष्क उनसे दूर रहना चाहता है। विडंबना यह है कि चाह कर भी दूर नहीं रह पाता इसलिए उन भावनाओं को शोभन शब्दों से ढक कर वह संतोष की साँस लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शोभन शब्द अपने शोभन अर्थों को छोड़ कर अशोभन अर्थ ढोने लगते हैं। इसे कई भागों में बाँट कर विचार किया जा सकता है।

[क] अशुभ

अशुभ कार्यों बातों या घटनाओं को हम घुमा—फिरा कर कुछ अच्छा बनाकर कहना पसन्द करते हैं। 'हुजूर की तबीयत खराब हैं', न कहकर 'हुजूर के दुश्मनों की तबीयत नाशाज़ है' कहने की प्रथा है। किसी के मर जाने पर मरवा न कह कर गंगालाभ होना, स्वर्गवासी होना, पंचत्व प्राप्त होना, असार संसार छोड़ना, मुक्त होना, तथा गोलोक जाना आदि कहते हैं। किसी के विधवा होने पर चूड़ी फूटना, सोहाग लुटना, सिन्दूर धुलना, माँग सफेद होना इत्यादि कहा जाता है। लाश को मिट्टी या माटी कहते हैं। अंग्रेज़ी में भी मरने को टू गिव अप द गोस्ट (to give up the ghost) कहते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से हमारे मनोविज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन अवश्यंभावी बातों से हम इतना अधिक डरते है कि इनका नाम लेना भी पसंद नहीं करते।

[ख] अश्लील

कुछ लोग तो संसार में कुछ भी अश्लील नहीं मानते। उनका कहना है कि जब ईश्वर उन कार्यों या वस्तुओं को पृथ्वी पर लाने में नहीं लज्जित हुआ तो हम उनके उच्चारण या प्रयोग में क्यों लज्जित हों। पर विश्व के सभी लोग इसे नहीं मानते। अधिक लोग ऐसे ही हैं जो बहुत से नामों को तथा उनसे संबंधित कार्यों या शब्दों को अश्लील मानते हैं, और इसलिए अश्लीलता को छिपाने के लिए घुमा-फिरा कर अच्छे शब्दों द्वारा उन्हें प्रकट करते हैं।

पाखाना जाने को 'मैदान जाना' 'कुल्ला करने जाना' 'बाहर जाना' 'शौच जाना' 'विलायत जाना' कहा जाता है। इधर सन् १९३० के बाद

से भारतीयों को अपनी गुलामी अधिक खलने लगी थी और वे इंगलैण्ड के प्रति घृणा की भावना रखने लगे थे। इसी कारण कुछ छात्रावासों में पेशाब करने जाने को 'छोटी विलायत जाना' और पाखाना जाने को बड़ी विलायत जाना' अभी हाल तक कहा जाता रहा है! इसमें अश्लीलता छिपाने की तथा घृणा-प्रदर्शन की भावनाएँ साथ-साथ काम कर रही हैं।

दिया और दूकान भी बुझाई और बन्द नहीं की जाती, बल्कि बढ़ाई जाती है। गर्भिणी को गर्भिणी न कह कर पाँव भारी होना कहते हैं। अंग्रेजी में इसे टू बी इन फेमिली वे (to be in family way) कहा जाता है। पाखाना जाने को टू अट्टेन्ड द नेचर्स काल (to attend the natures call) कहते हैं।

काम शास्त्र से संबंधित अवयवों, तथा कार्यों के विषय में भी प्रयोग घुमा फिरा कर किए जाते है।

[ग] कटुता या भयंकरता

अशुभ और अश्लील की भाँति कटु और भयंकर भी मनुष्य को अप्रिय हैं। भोजपुर प्रदेश में साँप को 'जेंवर' या 'रसरी' कहते हैं, उसके काटने को छूना' या 'सूँघना' कहते हैं। बिच्छू को 'टेढ़की' कहा जाता है। संपूर्ण उत्तरी भारत में चेचक निकलने को 'माता माई या महरानी ने कृपा किया है' कहा जाता है। चेचक की बीमारी कई प्रकार की होती है और प्रत्येक में तरह-तरह के दाने निकलते हैं। जिस चेचक में गर्मी अधिक होती है उसे 'सीतला' तथा जिसमें त्वचा पर कष्ट अधिक होता है उसे 'दुलारो' कहने की प्रथा है।

हैज़ा में क़ै और दस्त होने को 'मुँह पेट चलना' कहा जाता है।

[घ] अंध विश्वास

बहुत लोगों में ऐसा अन्ध विश्वास है कि पति, स्त्री, गुरु और बड़े लड़के का नाम लेना पाप है। इसका परिणाम यह होता है कि उनका नाम नहीं लिया जाता। पति के विषय में तो यह नियम इतना बड़ा है कि अन्य भी ऐसे शब्दों का उच्चारण नहीं किया जाता जिसमें पति के नाम के आरंभ का अंश आता हो। मेरे गाँव में मेरी एक दादी लगती हैं जिनके पति का नाम 'हनुमान' था। हनुमान तो हनुमान वे हलुआ भी नहीं कहती और

उसके लिए 'लपसी' शब्द का प्रयोग करती हैं। परिणाम यह हुआ है कि आस पास के लड़कों में हलुआ के लिए 'लपसी' शब्द प्रचलित हो गया है।

इसी प्रकार 'पंडितजी' 'आदमी' और 'मलिकार' शब्द का अर्थ पति हो गया है क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति के लिए इन शब्दों का प्रयोग करती हैं। पति लोग भी 'मालकिन' या अपने लड़के लड़की के नाम के साथ माँ या चाची शब्द लगाकर अपनी स्त्री को बुलाते हैं। कहीं-कहीं इसी कारण 'घर वाली' का अर्थ पत्नी हो गया है। कुछ लोग अपना नाम भी नहीं लेते अतः अपने नाम वाले साथी को मितान कहकर बुलाते हैं। मितान का अर्थ मित्र था पर अब अपने नाम का आदमी हो गया है।

कुछ बीमारियों को भी अंध विश्वास के कारण लोग देवी मान बैठे हैं। चेचक काली मानी जाती है। कटुता के सम्बन्ध में ऊपर हम लोगों ने विचार करते हुए चेचक को देवी या माता की दया कहे जाने को कटुता छिपाने के लिए कहा गया माना है। संभव है इसमें अंध विश्वास की धर्म-भावना भी कुछ काम कर रही हो। अंध विश्वास के कारण ही गोभी को कहीं-कहीं कोभी कहते हैं क्योंकि खाने की चीज में गो (गाय) नाम आना ठीक नहीं।

[ङ] गंदे कार्य

गंदे कार्यों को भी हम अच्छे शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। पाखाना साफ करने के लिए कमाना 'शब्द का प्रयोग होता है। भंगी को जमादार या मेहतर (महत्तर) कहा जाता है। चोर को संस्कृत में तस्कर (वह करने वाला) कहते हैं। चोरी बुरा कार्य है अतः उसका नाम लेना ठीक नहीं। चमार को रयदास कहते हैं।

खाना पकाना बुरा या गंदा कार्य तो नहीं है पर पकाने वाले नौकर के लिए कष्टप्रद नौकरी को छोड़कर यह कुछ नहीं है। इसी कारण उसे महराज (महाराज) जैसी बड़ी पदवी दी गई हैं। बंगला में नौकर या रसोइये को ठाकुर (मालिक या बड़ा) तथा उत्तरी भारत में अफसर लोग साधारण क्लर्कों को बाबू भी कुछ इसी भावना से कहते हैं।

[६] अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग

मनुष्य में आलस्य अधिक है और इसीलिए कम से कम परिश्रम से वह अपना काम निकालना चाहता है। बोलने में भी वह चाहता है कि कम

से कम शब्दों में अपने अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। इस प्रयास में अधिक प्रयोग में आए शब्दों के कुछ अंश तथा शब्द-समूह के एक दो शब्द वह छोड़ देता है। ऐसा करने से शेष अंश ही पूरे का अर्थ देने लगता है।

रेल (ट्रेन की पटरी) पर चलने के कारण ट्रेन को रेलगाड़ी कहा गया। अब गाड़ी शब्द छोड़ दिया गया है, और केवल रेल का अर्थ रेल गाड़ी हो गया हैं। पढ़े-लिखों को छोड़कर अब तो कम लोग इसे जानते भी हैं, कि रेल पटरी को ही कहते हैं। इस प्रकार रेल के अर्थ में काफ़ी परिवर्तन हो गया है।

इसी तरह तार का प्रयोग अब तार द्वारा भेजी गई खबर के लिए होने लगा है।

पहले हाथी को 'हस्तिन् मृग' (ऐसा जानवर जिसके हाथ (सूँड़) हो) कहा जाता था बाद में मृग छोड़ दिया गया और केवल हस्तिन् ही पूरे का अर्थ देने लगा। रेलवे स्टेशन के लिए स्टेशन, मोटरकार के लिए मोटर या कार, अंग्रेजी में कैपिटल सिटी (Capital City) के लिए कैपिटल (Copital), तथा पोस्टल स्टैम्प (Postal stamp) के लिए स्टैम्प (stamp) का प्रयोग अब सर्वत्र हो रहा है। टिन धातु से बने पीपे को टिन या पीपा कहा जाता है।

दो पहियों का होने के कारण बाइसिकिल नाम पड़ा। अब केवल साइकिल कहा जा रहा है जिसका अर्थ पहिया मात्र है। विद्यार्थी लोग तो 'बाइक' कहते हैं। इस प्रकार रोज के प्रयोग में आने वाले बहुत से शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ परिवर्तित हो गया है।

[१०] सादृश्य (analogy)

सादृश्य के कारण भी कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन होता है, पर इसके उदाहरण अधिक नही मिलते। पीछे हम लोग गोस्वामी शब्द पर विचार करते हुए देख चुके हैं कि इसका अर्थ 'गायों के स्वामी' से 'माननीय धार्मिक पुरुष' तक आया। इसी बीच में एक 'गोस्वामी' शब्द लोगों के सामने आया जिसका अर्थ था 'गो' अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् ईश्वर। दोनों गोस्वामी बिल्कुल रूप तथा ध्वनि में एक थे अतः नए गोस्वामी के अर्थ के सादृश्य में पुराने गोस्वामी या गोसाईं का भी अर्थ ईश्वर हो गया। सादृश्य

के कारण शीघ्रता से यह शब्द माननीय धार्मिक व्यक्ति से कूद कर ईश्वर के पास जा पहुँचा। गोसाईं तुलसीदास के नाम के साथ तो उसका अर्थ माननीय धार्मिक व्यक्ति है, पर उनके मानस में 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं' में वह शब्द ईश्वर का वाचक है। आज धार्मिक व्यक्ति या जाति विशेष के लिए तो गोस्वामी या गोसाईं शब्द का प्रयोग होता है, पर ईश्वर के वाचक के रूप में उसमें ध्वनि और रूप संबंधी परिवर्तन हो गया है। भोजपुर प्रदेश में यह गोसैंयाँ कहा जाता है। एक बात आश्चर्यजनक यह है कि भोजपुरी की एक प्रचलित शपथ में इस शब्द का साथ पुनः अपने पुराने साथी शब्द गाय से हो गया है। लोग 'गऊ-गोसैंयाँ जाने' कहते हैं जिसका अर्थ है—'गऊ (गाय) और गोसैंयाँ (ईश्वर) की साक्षी देकर कह रहा हूँ।' कहना न होगा कि यहाँ भी सादृश्य परिवर्तन में एक साधन मात्र है जिसके मूल में भाव का साहचर्य छिपा है।

[११] कलाकारों की निरंकुशता

कलाकार लोग नए शब्द तो गढ़ते ही हैं, शब्दों को नए अर्थ में व्यवहार करना भी पसन्द करते हैं। यह वे लोग इसीलिए नहीं करते कि भाव प्रकाशन में कठिनाई पड़ती है, अपितु केवल अपनी शैली को चटकीली और आकर्षक बनाने के लिए। ऐसे प्रयोग श्री बेचन शर्मा 'उग्र' तथा श्री निराला में यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। अज्ञेय जी की किसी पुस्तक पर उनका परिचय छपा था। परिचय के अंत में भावी पुस्त के संबन्ध में लिखा था कि अमुक पुस्तक के निकलने की 'आशंका' है। यहाँ प्रयोग तो आशा का होना चाहिए पर वहाँ आकर्षण के लिए 'आशंका' का आगमन हो गया। इस एक ही प्रयोग से आशंका के अर्थ पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ सकता पर दो चार जगह भी ऐसा छपा तो फिर अनुकरण की धारा में सर्वत्र इसका प्रयोग चल पड़ेगा और फिर अवश्य ही अर्थ में परिवर्तन होने लगेगा। शिवदत्त जी ज्ञानी की एक पुस्तक की भूमिका में श्री क० म० मुन्शी ने लिखा है कि यह पुस्तक मेरी सूचना से लिखी गई है। यहाँ सूचना का भी असाधारण प्रयोग है।

विद्यापति कबीर और सूर के पदों में तथा आज के रहस्यवाद और छायावाद के कवियों में निरंकुश प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं।

[१२] पुनरावृत्ति

कभी-कभी शब्दों का दुहरा प्रयोग चल पड़ता है और इसके कारण भी उनके आधे भाग के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। अब विन्ध्याचल पर्वत का प्रयोग चल पड़ा है। ऐसा प्रयोग करने वाले विन्ध्याचल का अर्थ बिंध्य पर्वत न लेकर उसे पर्वत का नाम समझते हैं। मलयागिरि के विषय में भी यही बात है। द्राविण भाषा में मलय शब्द ही पहाड़ का अर्थ रखता है पर हम लोगों ने मलय को नाम समझ कर उसके साथ गिरि जोड़ लिया है। कुछ लोग तो मलयागिरि पर्वत भी कहते हैं।

डबल रोटी को पावरोटी भी कहते हैं। इस दुहरे प्रयोग का परिणाम यह हुआ है कि लोग पाव का अर्थ डबल लगाने लगे हैं जब कि पाव का अर्थ रोटी होता है। आजकल 'दर असल में' का प्रयोग भी चल रहा है। एक सज्जन के प्रयोग पर मैंने उनसे दर का अर्थ पूछा तो उन्होंने 'बिलकुल' बतलाया। इस प्रकार 'दर' में अर्थ परिवर्तन हो रहा है। 'किन्तु फिर भी' या 'पर फिर भी' का भी दुहरा प्रयोग चल रहा है यद्यपि इसके किसी अंश में अर्थ परिवर्तन को आशंका निकट भविष्य में नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि दोनों को मिलाकर भी एक का ही अर्थ समझा जाता है। यह ठीक उसके उलटा है जिसमें दो शब्दों के लिए एक का प्रयोग (रेलगाड़ी के लिए रेल) होता है क्योंकि यहाँ एक शब्द के लिए दो का प्रयोग है।

[१३] एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन

किसी ने कहा है कि जीवित भाषा में एक वस्तु या कार्य के लिए ठीक एक अर्थ रखने वाले दो शब्द नहीं रह सकते। भाषा यह व्यर्थ का बोझ स्वीकार नहीं करती। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक तत्सम शब्द के साथ-साथ उसके तद्भव या अर्द्ध तद्भव शब्द का भी प्रचलन हो जाता है पर दोनों एक अर्थ रखते हैं। ऐसी दशा में दो बातों में से कोई एक घटित होती है। या तो दोनों में से कोई एक लुप्त हो जाता है या फिर किसी एक का अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। यहाँ हमें दूसरी बात पर विचार करना है।

हिन्दी में कुछ शब्दों के दो रूप चल रहे हैं और भाषा यह बोझ स्वीकार नहीं कर सकती अतः दोनों के अर्थ में भेद हो गया है। इस प्रकार दो रूप के प्रचलन में भी अर्थ परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। इन दो अर्थों में

देखा जाता है कि तत्सम प्राचीन शब्द तो कुछ उच्च अर्थ रखते हैं पर तद्भव शब्द कुछ हीन अर्थ।

स्तन और थन एक ही हैं पर दोनों के अर्थ में अब भेद हैं। एक का प्रयोग मनुष्य के लिए होता है तथा दूसरे का पशु के लिए। इसी प्रकार स्थान और थान शब्द है। स्थान का प्रयोग देवी देवताओं के लिए होता है और थान का प्रयोग हाथी या घोड़े के लिए। जैसे—'यह ब्रह्म जी का स्थान है।' 'हाथी का थान यहाँ है।' इस प्रकार और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

गर्भिणी (स्त्री), गाभिन (गाय-भैंस); ब्राह्मण (शिक्षित ब्राह्मण), वाम्हन (निरक्षर); साधु, साहु; भोज, भोजन; परीक्षक, पारखी; तिलक, टिकुली (स्त्रियों के ललाट पर लगाने की काँच आदि की बिन्दी); सौभाग्य, सोहाग; वार्ता, बात इत्यादि।

अर्थ-विचार के प्रसिद्ध मनीषी ब्रील ने इसे भेद भाव का नियम (Law of differentiation) कहा है। उनका भी यही कहना है कि सामान्य जनता का मस्तिष्क एक साथ एक ही अर्थ के दो शब्द नहीं ढो सकता। एक शब्द दो विचारों को व्यक्त करे यह ठीक हो सकता है पर एक विचार के लिए दो शब्द हों यह व्यर्थ है। साहित्य में एक वस्तु या विचार के लिए कई शब्द चलते हैं पर कुछ लोगों का विचार है कि उनका बिल्कुल एक अर्थ नहीं होता। उनका प्रयोग अपना अलग अलग महत्व रखता है। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में पवन, प्रभंजन, वायु, श्वसन तथा समीर आदि का अंतर दिखलाया है। खैर इनमें अंतर हो या न हो प्रचलित भाषा में एक शब्द के दो रूपों में तो अंतर हो ही जाता है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

[१४] अज्ञान और शब्दों के प्रयोग में असावधानी

बहुत से लोगों को बड़े तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग का शौक होता है। ऐसा करने में बहुधा वे ठीक से अर्थ समझे बिना अशुद्ध प्रयोग करने लगते हैं। उनको सुनकर कुछ दूसरे लोग भी उसी प्रकार प्रयोग आरम्भ कर देते हैं और इस प्रकार एक नवीन और अशुद्ध अर्थ उस शब्द पर आरोपित कर दिया जाता है। अंग्रेजी में ऐसा करने को 'मैलाप्रापिज्म (Malapropism)'[1] कहते हैं।

१. इस पर विशेष परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार आलस्य, असावधानी, अज्ञान तथा मनोयोग के अभाव के कारण शब्दों में अर्थ-परिवर्तन प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। 'धन्यवाद' शब्द संस्कृत में प्रसंशा के लिए प्रयुक्त होता था पर अब उसका प्रयोग शुक्रिया (thanks) के स्थान पर चल पड़ा है। इधर कुछ लोग शब्दों को सुन्दर तथा गंभीर बनाने के प्रयास के व्यर्थ के उपसर्ग लगने लगे हैं। ऐसा करने में उसी प्रकार की अशुद्धि हो रही है। ज्ञान के साथ 'अभि' लगाकर ज्ञान के लिए अभिज्ञान का प्रयोग हो रहा है पर अभिज्ञान का यथार्थ अर्थ पुनर्ज्ञान या स्मृति होता है। इसी प्रकार क्रांति के लिए उत्क्रान्ति का प्रयोग भी देखा जा रहा है यद्यपि उत्क्रांति का अर्थ मृत्यु होता है। अशोककालीन एक साधुवर्ग के नाम 'पाषंड' का धूर्तता ढोंग और दुष्टता के अर्थ में प्रयोग भी कुछ इसी कारण हुआ है। तारतम्य का प्रयोग अब ताँता बाँधने के लिए होता है पर इसका यथार्थ अर्थ क्रम है।

हम देख रहे हैं कि अज्ञान या प्रयोग की असावधानी के कारण उपर्युक्त शब्दों में कितना अधिक अर्थ-परिवर्तन हो रहा है।

[१५] शब्दों का अधिक प्रयोग

अधिक प्रयोग से शब्द घिस जाते हैं और उनसे परिचय इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्रीयुत, श्रीमान या श्री का प्रयोग आरम्भ में काफी सुन्दर तथा सार्थक लगता था पर अब वे प्रयोग से इतने घिस गये हैं कि निरर्थक से जान पड़ते हैं। पुरानी शक्ति अब उनमें तनिक भी नहीं है। बाबू शब्द भी अब अपना पुराना अर्थ (बड़प्पन और ज़मींदारी की शान) नहीं देता। आफिस के सभी क्लर्क और दूकानों पर जाने वाले सभी ग्राहक आज बाबू हो गये हैं। मज़ाक में अपने देर करने वाले मित्र से भी लोग कहते हैं बाबू ज़रा जल्दी करो।' इतना ही नही संयुक्त प्रान्त के पूर्वी ज़िलों में तो इसका अर्थ गुंडा या छैला भी लिया जाने लगा है।

विशेषणों और क्रिया विशेणों में यह बात और भी अधिक घटती है। 'बहुत' शब्द अब कुछ व्यर्थ हो रहा है। उसके स्थान पर अत्यन्त अतिशय आदि का प्रयोग अधिक जोरदार ज्ञात होता है। अधिक के शिथिल पड़ने पर अत्यधिक, अत्यन्ताधिक या अधिकाधिक के प्रयोग होने लगे हैं।

संस्कृति, साम्यवाद, नेता, आदि शब्द भी घिसकर साधारण हो गये हैं। राजा शब्द तो बनारस में उतना ही नीचे गिर गया है जितना ऊपर था। पंडित शब्द की भी यही दशा है। प्रयोग के कारण अब पंडित का अर्थ विद्वान न रहकर पुराने विचार वाला, या १०वीं सदी का आदमी हो गया है। एकबार एक विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर महोदय ने एक विद्यार्थी से बिगड़ते हुए अभी हाल में कहा भी था, 'क्या प्राइमरी स्कूल के लड़कों की तरह पंडित जी पंडित जी कहते हो, क्या तुमसे डाक्टर साहब कहते नहीं बनता ?'

[१६] किसी राष्ट्र या जाति के प्रति सामान्य मनोभाव

किसी जाति,राष्ट्र या जन समुदाय के प्रति जब जैसी भावना होती है उसकी छाया उनके शब्द के अर्थों पर भी पड़ती है। इस संबंध में कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि अर्थ पूर्णतः उलटा हो जाता है। असुर का पहले हमारे यहाँ देवता अर्थ था उस समय तक संभवतः इरानवालों के प्रति हम लोगों के विचार बुरे नहीं थे, पर ज्योंही विचार बदले हमने उस शब्द का अर्थ राक्षस इसलिए कर लिया कि वह नाम ईरानियों के प्रधान देवता (अहुर मज़्दा) का था। यही बात वहाँ भी हुई। हमारे देव शब्द का अर्थ उन लोगों ने अपने यहाँ अदेव या राक्षस कर लिया।

सांप्रदायिक दंगों तथा पाकिस्तान के बटवारे के समय से मुसलमान शब्द का अर्थ हमारे दिमाग़ में कितना गिर गया है! फारसी में हिंदू का अर्थ तो बहुत पहले से गुलाम और नापाक आदि है। इतना ही नहीं शायद हिंदू का अर्थ कुफ्र करने वाला या काफ़िर भी है।

अनार्यों के कुछ शब्द का अर्थ भी आर्यों ने घृणा के कारण गिरे अर्थ में अपने यहाँ रखा। मुंडा परिवार का 'पिल्ला' शब्द उनके यहाँ लड़का के लिए प्रयुक्त होता है पर आर्यों ने उसे कुत्ते के बच्चों के लिए प्रयोग करना आरम्भ किया। यह आज तक उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आर्यसमाजियों का सनातनधर्मियों के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। वे उन्हें धर्म की दुर्दशा करने वाले तथा ढोंगी मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्यसामाजियों के मस्तिष्क में व्रत, कथा, श्राद्ध, माला, मूर्ति आदि का वह उच्च अर्थ नहीं है जो सनातनधर्मियों में है। कुछ

त्यौहारों के विषय में शिया और सुन्नी मुसलमानों में भी यही अंतर है जिसके कारण उनसे संबंधित शब्दों के अर्थ पर भी प्रभाव पड़ा है।

जब से श्रेणी संघर्ष (class struggle) का सिद्धान्त समाज के लिए आवश्यक समझा गया है, फ्रेंच शब्द बुरजुआ; हिंदी के धनिक, पूँजी-वादी, सामंत, राजा, उर्दू के जमींदार, तालुकेदार, इलाकेदार आदि का अर्थ कितना नीचे गिर गया है ?

स्वयं कांग्रेस शब्द में जो उच्चता और पवित्रता की भावना थी, आज समाजवादियों और कम्युनिस्टों के प्रभाव के कारण या कांग्रेसियों की बेईमानी के काराण कम के कम मजदूरों और किसानों के मस्तिष्क में नहीं रह गई हैं संभव है आगे यह शब्द और भी गिरे।

[१७] एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन

शब्द अधिकतर वर्गों में रहते हैं। यदि वर्ग में किसी एक भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव शेष शब्दों के अर्थ पर भी पड़ता है।

वर्ग कई प्रकार के होते हैं। यहाँ कुछ प्रधान पर विचार किया जा सकता है।

एक धातु से बनने वाले सारे शब्द व्याकरण की दृष्टि से एक वर्ग के हैं। उनमें एक में परिवर्तन उपस्थित होते ही अन्य पर प्रभाव पड़ जाता है। यदि करना का प्रयोग आज बुरे कार्यों के लिए ही किसी प्रकार सीमित हो जाय तो कराना, करवाना, किया, करवाया, क्रिया आदि के अर्थ पर भी उसकी छाया अवश्य पड़ेगी। दुर्लभ से दूल्हा शब्द बना पर उसका प्रयोग वर के लिये होने लगा। इसका प्रभाव दुर्लभ, दुलही या दुलहिन पर भी पड़ा और बधू के लिये उसका प्रयोग चल पड़ा।

दुहिता का अर्थ 'गाय दुहने वाली' था। बाद में जब इसका अर्थ लड़की हो गया तो इससे बनने वाले दौहित्र, दौहित्री, दौहित्रायण आदि शब्दों का अर्थ भी उसी के अनुसार परिवर्तित हो गया।

कुछ शब्दों का वर्ग प्रयोग या संदर्भ के साथ के कारण भी होता है। अहिंसा, सत्य, कांग्रेस, आदि एक वर्ग के शब्द हैं। धर्म-कर्म पूजा-पाठ, जप-तप, ईश्वर-आत्मा आदि भी एक वर्ग के शब्द हैं। इधर धर्म के प्रति क्षोभ होने के कारण उसकी पवित्रता अधिक लोगों के मस्तिष्क से निकल

गई है। इसका प्रभाव पूजा, जप ईश्वर आदि पर इतना पड़ा है कि ये सभी ढोंग समझे जाने लगे हैं।

शब्दों के अर्थ की समीपता के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं। उनमें भी उपर्युक्त बातें पाई जायगी।

[१८] अनजाने नवीन अर्थ का, साहचर्य आदि के कारण प्रवेश

ऐसी दशा में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी या समुद्र था। आर्यों ने सिंधु नदी को भारत में आने पर सिंधु कहा। कुछ दिन में नदी के आस-पास की भूमि भी सिंधु कही जाने लगी। सिंधु से सैंधव शब्द बना जिसका अर्थ है, सिंधु का या सिंधु देश में होने वाला। उस समय सिंधु देश की प्रधान वस्तु 'घोड़ा' और 'नमक' होने के कारण सैंधव का प्रयोग इन दोनों के लिए होने लगा। उधर बाद में सिंधु के निवासियों को भी सिंधु कहा जाने लगा। जिसका फारसी रूप हिन्दु या हिंदू हो गया। इस प्रकार अनजाने धीरे-धीरे सिंधु शब्द का अर्थ जड़ से चेतन हो गया।

पत्र शब्द का प्रयोग अब पत्र पर लिखे विचारों या शब्दों के लिए भी होने लगा है। 'पत्र में अशुद्धियाँ बहुत हैं' का अर्थ कागज की अशुद्धियाँ न होकर शब्द या वाक्य की अशुद्धियाँ हैं। 'पत्र रुला देने वाला है' में पत्र का अर्थ विचार है। आज ये अर्थ प्रधान नहीं हैं पर आ गये हैं तो संभव है कि प्रधान भी हो जायँ और अर्थ-परिवर्तन और भी स्पष्ट हो जाय।

[१९] किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य

एक विशेषता के प्राधान्य के कारण वही उस वस्तु या वर्ग आदि का संपूर्ण समझा जाने लगता है। इससे अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच दोनों होता है। कम्युनिस्टों की प्रधान निशानी लाल झंडा है अतः वे चारो ओर इस नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। देहात में तो इन्हें 'लाल झंडा' की ही जैसे संज्ञा दे दी गई है। 'लाल झंडा की सभा है' का अर्थ है 'कम्युनिस्टों की सभा है'। यहाँ लाल झंडा के अर्थ का विस्तार हो गया है। वह अब कम्युनिस्टों के पूरे समूह का अर्थ रखता है। इसी प्रकार गांधी टोपी का अर्थ कांग्रेस से लिया जाता है। लाल पगड़ी का प्रयोग पुलिस के लिए बहुत पहले से चल रहा है। 'सफेद पगड़ी' पारसी पुरोहित का प्रतीक है।

इन सब में अर्थ-विस्तार हो गया है जिसका कारण है किसी एक विशेषता का प्राधान्य।

कुछ इस कारण अर्थ संकोच के भी उदाहरण मिलते हैं। गैस को साधारणतः एक प्रकार का हलका ईंधन समझा जाता है अतः गैस शब्द सर्वसाधारण के लिए केवल उसी का बोध कराता है। पर ऐसी भी गैसे हैं जो जलाने के काम नहीं आती। यहाँ गैस की एक विशेषता सर्व विदित होने के कारण उसके विस्तृत अर्थ में संकोच हो गया है।

फूल प्रायः सुन्दर, कोमल और सुगंधित होते हैं अतः सर्वसाधारण में फूल नाम से इन्हीं तीनों गुणों का भाव जागृत होता है। संसार में ऐसे फूलों[1] की भी कमी नहीं है जो बदसूरत और दुर्गंधि पूर्ण होते हैं। पर फूल नाम या शब्द में उनके गुणों या दुगुणों को स्थान नहीं है। यहाँ फूल में अर्थ-संकोच है।

[२०] व्यंग्य

व्यंग्य के कारण शब्दों में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है और फिर वे उसी नए अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। बोलचाल की भाषा में इनकी संख्या सौ से कम न होगी। नीचे के उदाहरणों में सभी का शाब्दिक अर्थ बुद्धिमान पर व्यंग्य के कारण प्रचलन में वे मूर्ख के लिए प्रयुक्त होते हैं।

'तीन हाथ की बुद्धि वाले' 'अक्ल के खज़ाना' 'अक्ल की पुड़िया' 'अक्ल की मोटरी' आदि का प्रयोग तो साहित्य में भी चलता है। कुछ भोजपुरी के भी उदाहरण लिए जा सकते हैं। 'अक्किल क समुन्दर' 'बुद्धी क पूर' 'दिमाग का दोहरा' तथा 'ढेर चल्हाँक' आदि।

साहित्य में या बोलचाल में 'पूरे पंडित', 'पूरे देवता' आदि का अर्थ भी मूर्ख लिया जाता है।

गुजराती में 'दोढ़ चतुर' (चतुर का डेढ़ा) का अर्थ भी मूर्ख ही है।

इसी प्रकार 'पूरे युधिष्ठिर के अवतार' का अर्थ असत्यवादी, 'भाग्य के सबसे बड़े साथी' का अर्थ अभागा, 'लक्ष्मी के पति' का अर्थ दीन और 'धर्मावतार' का अर्थ अधर्मी लिया जाता है। गंदे आदमी को 'सफ़ाई का अवतार' कहते हैं, और भद्दे आदमी को 'कामदेव के भाई।'

---

१. कारियारी के फूल की गंध बड़ी बुरी होती है। घृतकुमारी का फूल तो और भी बुरा महकता है।

इस प्रकार अच्छे गुणों के व्यंग्य-प्रयोग द्वारा हम दुर्गुणों को प्रकट करते हैं। कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है, पर बहुत कम। कभी-कभी अपने साथी को अधिकतर बहुत साफ कपड़े पहने देखकर हम कह उठते हैं "कहो भाई आजकल धोबी तुम्हें नहीं मिल रहा है क्या?" भोजपुरी में किसी आदमी को दिन पर दिन अधिक स्वस्थ होते देख हम लोग कह उठते हैं, "दुनियाँ भर क दुबराई तोहरे इहाँ आइल बा का हो?'

स्वाथ्य, भोजन, धन, बुद्धि, सौंदर्य, दशा के विषय में ही ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं।

[२१] भावावेश

भावावेश में बहुत ही शब्दों के विषय में हम असावधान हो जाते हैं और बहुधा बढ़ा चढ़ाकर या विचित्र अर्थ में प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो इसके उदाहरण भी व्यंग्य से मिलते-जुलते और यथार्थत: एक प्रकार के व्यंग्य ही दिखाई पड़ते हैं। जब पिता प्रेम के आवेश में अपने लड़के को 'अरे तू तो बड़ा पाजी है।' कहता है तो पाजी का अर्थ वहाँ बुरा न होकर केवल प्यार होता है। इसी प्रकार लोग प्रेम में शैतान, नालायक, बेहूदा आदि का प्रयोग करते हैं। आजकल के मित्र लोग प्रेम के आवेश में एक दूसरे को साले ही नहीं जाने और क्या क्या भी कह जाते हैं कभी-कभी तो यह कहना (जैसेकहो बेटा!) इतनी बड़ी गाली होती है कि कहने के पीछे यदि प्यार या समीपता की एक चादर न रहे तो खून की नदी बह जाय।

क्रोध के भावावेश में भी लोग इतने पागल हो उठते हैं कि शब्दों का विचित्र प्रयोग कर देते हैं। उसमें भी अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'अच्छा बच्चू फिर आना तो पता चलेगा' में 'बच्चू' शब्द प्यार में लिपटा हुआ 'बच्चा' शब्द का वाचक नहीं है। यहाँ बच्चू केवल इतना बतला रहा है कि क्रोध करने वाला क्रोध में अपने विपक्षी को नाचीज़ समझ रहा है। इसी प्रकार करुणा और घृणा के आवेश में भी शब्दों का अर्थ विचित्र हो जाता है। 'राम राम' ऐसे पवित्र शब्द का अर्थ घृणा के भावावेश के कारण 'छिः छिः' हो गया है। दूसरी ओर किसी दुःखी आदमी के मुँह से निकला राम शब्द जैसे करुणा का प्रतीक और रुला देने वाला है।

कुछ लोग, विशेषतः कलाकार बड़े भावुक होते हैं और किसी चीज़ का वर्णन बढ़ा चढ़ाकर करते हैं। इसीसे यह होता है कि पढ़ने वाला अति-

शयोक्ति को निकाल कर समझता है और इस प्रकार शब्दों के अर्थ धूमिल पड़ जाते हैं।

कुछ जातियाँ अन्य से अधिक भाव-प्रवण होती हैं; इस कारण उनके यहाँ के ज़ोरदार शब्दों का अर्थ अन्य शब्दों से कम शक्तिमान हो जाता है, क्योंकि वे भाव-प्रवणता में सर्वदा उसे इधर-उधर खींचते रहते हैं। फ्रेंच और बँगला में यह बात विशेष पाई जाती है। इस प्रकार भाव-प्रवणता के कारण कुछ भाषाओं के कुछ शब्दों के अर्थ बड़ी शीघ्रता के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

[२२] व्यक्तिगत योग्यता

व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दों को एक ही संदर्भ में नहीं समझता। चोर ने 'अच्छा' शब्द चोरी के बारे में यदि सीखा हो तो उसके मस्तिष्क में अच्छा का अर्थ वही नहीं होगा जो एक साधु के मस्तिष्क में। सच तो यह है कि प्रतिदिन के काम में आने वाली स्थूल वस्तुओं को छोड़कर किसी एक चीज़ का या एक कार्य का अर्थ दो मस्तिष्क में एक नहीं रहता। एक सुयोग्य दार्शनिक के लिए ब्रह्म शब्द कुछ और है, एक साधारण पढ़े-लिखे के लिये कुछ और है, और एक देहाती के लिये तो रुष्ट होकर आत्महत्या करने वाले ब्राह्मण की समाधि या 'चउर' मात्र ही ब्रह्म है।

टकर ने ठीक ही कहा है कि शब्द तो एक प्रकार का सिक्का है, पर ऐसा सिक्का जिसका मूल्य निश्चित नहीं। बोलने वाला उसे दो रुपये का समझ सकता है और सुनने वाला अपनी योग्यतानुसार उसे तीन या एक रुपये का समझ सकता है।

सूक्ष्म विचारों, तथा नैतिक भावनाओं के शब्दों के विषय में यह और अधिक सत्य है। धर्म, ईश्वर, पाप, पुण्य, अच्छा बुरा आदि शब्द उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं।

[२३] शब्दों में अर्थ का अनिश्चय

ऊपर के कारण से यह मिलता-जुलता कारण है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका निश्चित अर्थ होता ही नहीं। अहिंसा शब्द को हम लें। इसके एक ओर तो केवल यह अर्थ है कि किसी को जान से न मारना चाहिये पर

दूसरी ओर जीना भी हिंसा है क्योंकि साँस के द्वारा या पैर से कुचलकर प्रतिक्षण जाने कितने जीव मरते रहते हैं। इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त ऐसी कोई बात कहना भी हिंसा है जिससे किसी का जी दुखे। और शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो संसार में सबको अच्छी लगे। तो यहाँ सर्वदा मौन रहना भी अहिंसा पर चलने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा शब्द का निश्चित अर्थ नहीं। सत्य और कर्तव्य का अर्थ भी इसी तरह अनिश्चित है।

टकर साहब की ऊपर कही गई बात यहाँ भी लागू होती हैं।

'व्यक्तिगत योग्यता तथा शब्द के अर्थ का अनिश्चय' इन दोनों कारणों में यथेष्ट एकता है। अंतर केवल इतना है कि एक व्यक्ति पर जोर देता है कि उसके मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होगा, पर दूसरा शब्द पर ही जोर देता है। दूसरे के अनुसार एक शब्द का अर्थ जितना हीं अधिक अनिश्चित होगा उसमें अर्थ-परिवर्तन का रूप भी उतना ही अधिक विचित्र होगा। इतना ही नहीं, अपितु, अनिश्चित् शब्दों में अर्थ-परिवर्त होने की संभावना निश्चित शब्दों से अधिक होगी।

आर्य, ब्राह्मण, दुबे, चौबे, तिवारी, जेन्टिलमैन (gentle man), सेठ, साहु, भाई, पाप पुण्य आदि अनेक शब्द लिए जा सकते हैं।

[२४] वर्ग की एक वस्तु का नाम वर्ग को देना

वर्ग की किसी एक वस्तु से अधिक परिचित होने पर उसी नाम से हम वर्ग को पुकारने लगते हैं। इससे उस शब्द में अर्थ विस्तार हो जाता है। अब स्याही का अर्थ केवल काली स्याही न रहकर सभी रंग की स्याही हो गया है, यद्यपि यह शब्द स्याह से बना है जिसका अर्थ काला है। पहले केवल काली स्याही थी अत: स्याही कहा गया। बाद में और रंग की भी स्याहियों का प्रचलन हुआ पर अधिक परिचित होने से वही नाम चलता रहा। हिंदी का 'साग' (शाक) शब्द पहले केवल उन हरे पत्तों के लिए प्रयुक्त था जिनकी तरकारी बनती थी पर अब साग का अर्थ तरकारी हो गया है। उर्दू का सब्जी शब्द सब्ज से बना है जिसका अर्थ हरा है। इसका भी प्रयोग पहले केवल शाक के लिए होता था पर अब आलू (भूरा) कोंहड़ा (पीला) और प्याज (सफेद या लाल) भी सब्ज़ी हो गये हैं।

कुछ जानवरों या कीड़ों के लिये भी हम एक ही लिंग का नाम प्रयुक्त करते हैं। घोड़ा हाथी में यह प्रयोग अधिक नहीं चलता पर छोटे जानवरों में तो प्रायः सभी में चलता है। कुत्ता और कुतिया के लिये कुत्ता, गीदड़ और गीदड़िन के लिये गीदड़, लोमड़ी और लोमड़ा के लिये लोमड़ी, तोता-तोती के लिये तोता, मैना-मैनी के लिये मैना इत्यादि। इस एक लिंग का प्रयोग उभय लिंग के लिए होने के कारण उसका अर्थ भी विस्तार पाकर उभयलिंगी हो गया है।

हिन्दी में तो इससे एक विचित्र समस्या खड़ी हो गई है। कुछ जानवर चाहे नर हों या मादा भाषा में उनका 'नर-प्रयोग' चल रहा है। जैसे नर चींटा हो या मादा दोनों के लिये चींटा का प्रयोग चलता है और सर्वदा पुल्लिग में। इसी प्रकार तोता, कौआ, बाज़, बारहसिंहा, गीदड़, तेंदुवा, चीता तथा बनमानुख आदि में हमारी हिन्दी भाषा, के अनुसार जैसे केवल नर ही नर होते हैं। दूसरी ओर चींटी, सिधरी, कोयल, लोमड़ी तथा छिपकली में हिंदी के अनुसार नर का एकान्त अभाव है।

इतना ही नहीं। पुकारने की इस विचित्रता के कारण देहात में कुछ लोगों को तो ऐसा भी विश्वास है कि चींटा और चींटी एक ही जाति हैं। अन्तर केवल यह है कि एक नर है और दूसरा मादा। 'तोता-मैना' के प्रसिद्ध किस्से में तोता-मैना के विषय में भी यही धारणा है।

[२५] भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए अलंकार-प्रयोग

बातचीत या किसी चीज के वर्णन में वक्ता या लेखक का यही प्रयास रहता है कि वह कम से कम शब्दों में अपने को अधिक से अधिक स्पष्ट कर सके। ऐसा करने के लिए अलंकारों (उपमा रूपक आदि) का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में तो प्रयोग आलंकारिक रहता है पर कुछ दिनों में अलंकार का ध्यान किसी को रहता। उस नवीन अर्थ में शब्द का प्रयोग चल पड़ता है। 'तुम गदहे हो' में गदहे का सीधा अर्थ मूर्ख है। ऐसा कहने में हम यह कभी नहीं सोचते कि अलंकार का प्रयोग कर रहे हैं।

अलंकार अधिकतर सादृश्य पर आधारित रहता है। परिचित रूपों या वस्तुओं के द्वारा हम अपरिचित के विषय में बतलाना चाहते हैं।

सूक्ष्म वस्तुओं या व्यापारों का साधारण शब्दों में प्रकटीकरण आसान

नहीं है। अतः उनके लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उदाहरण स्वरूप गहरी बात, सजीव चित्रण, रूखी हँसी, सरस बात, कठिनाई पार करना, दुःख काटना तथा आपत्तियों से घिर जाना आदि को ले सकते हैं। आज बिना ध्यानपूर्वक विचार किए इनके अलंकारों का पता नहीं चलता, जिसका एक मात्र-कारण है अर्थ-परिवर्तन।

कभी-कभी स्थूल या प्रत्यक्ष वस्तुओं या उनके अवयवों के चित्र को स्पष्ट करने के लिए हम अपने अवयवों के आधार पर अलंकार बना डालते हैं। घड़े की गर्दन, चने की नाक, सूई का मुँह, नारियल की जटा, ईख की आँख, सितार के कान, घड़ी के हाथ तथा कागज की पीठ आदि उदाहरण लिए जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ इन नामों का ठीक यही अर्थ नहीं है जो मनुष्य के साथ होता है।

मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें पशुओं तथा बेजान वस्तुओं के सहारे अलंकार बनाना पड़ता है। ये प्रयोग भी इतने प्रचलित हैं कि साधारणतया अलंकार नहीं समझे जाते। अपने आलंकारिक अर्थ में ये प्रतीक रूढ़ हो चुके है। उदाहरण स्वरूप पत्थर (कड़े हृदय का), पानी (नरम दिल), बिना पेंदी का लोटा (जिसका कुछ निश्चय न हो), काँटा (क्रूर), गदहा (मूर्ख), उल्लू (मूर्ख या दिन के लिये अंधा), भैंस (बेवकूफ), बैल (मूर्ख), गाय (सज्जन और सीधा), सियार (होशियारऔर छली), कौआ (चालाक) तथा कालानाग (जिसके काटने से लहर तक नहीं आती और मृत्यु हो जाती है अतः खतरनाक) आदि लिए जा सकते हैं। बोल-चाल की भाषा के तो जैसे ये प्राण हैं। आलंकारिक प्रयोग में ये शब्द अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं।

ब्रील का कहना है कि अन्य सभी कारणों से शब्दों में अर्थ परिवर्तन शनैः शनैः होता है पर अलंकारों के कारण एक क्षण में (on the spur of the moment) अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन लगभग सभी दिशाओं में होते हैं। इसके अंतर्गत काव्यशास्त्र के सभी अलंकार लिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ और उदाहरण देकर विषय को समाप्त किया जा सकता है। काला दिल, अंधा कुआँ, नदी की गोद, पतंग की पूँछ, मधुर गीत, मधुर गंध, ठोस कार्य, खोखला आदमी, टेढ़ी बात, पहाड़ की चोटी, कड़ुई बात, भारी

के दाँत, बंदूक का घोड़ा, कलम की जीभ, लकड़ी का हीर, कविता की आत्मा, कुर्सी के हाथ, चारपाई के पैर, नदी की शाखा, पहाड़ की जड़ तथा फिटकिरी के फूल आदि।

इन समता-मूलक अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ अलंकार हैं। 'आजकल रोटी (खाना) मिलना आसान नहीं है।' 'प्रसाद को (प्रसाद की कृतियों को) पढ़ रहा हूँ।' तथा 'आप गाँधी (गान्धी जी जैसे महान) नहीं हैं' उदाहरण पर्याप्त होंगे। ऊपर के कुछ अन्य कारण भी अलंकार के अंतर्गत रखे जा सकते हैं, पर यहाँ स्पष्टता के विचार से उन्हें अलग रखा गया है।

इन पच्चीस प्रधान कारणों के अतिरिक्त विशेषण का संज्ञा रूप में प्रयोग, संज्ञा का क्रिया रूप में प्रयोग तथा भाव वाचक का जाति वाचक के रूप में प्रयोग आदि अनेक और भी अर्थ-परिवर्तन के कारण हो सकते हैं।

अर्थ-परिवर्तन संबन्धी कुछ विशेषताएँ

(क) अनेकार्थता (Polysemia)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द अपने नवीन अर्थ के धारण करने पर पुराने अर्थ को नहीं छोड़ता और ऐसी दशा में कभी-कभी तीन चार अर्थ एक ही समय में चलते रहते हैं। कभी वह सीमित अर्थ में प्रत्युक्त होता है, तो कभी विस्तृत में और कभी स्थूल में तो कभी सूक्ष्म में।

'जड़' शब्द का 'पेड़ की जड़', 'रोग की जड़', झगड़े की जड़' आदि में आज प्रयोग चल रहा है। इसी प्रकार 'मूल' शब्द भाषा विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, बनस्पति शास्त्र, गणित, तथा अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हो रहा है। धातु और योग की भी यही दशा है। अंग्रेजी का शब्द की (Key) या हिन्दी का 'कुंजी' असल में यंत्रशास्त्र से संबद्ध हैं, पर अब किताब की कुंजी, समस्या की कुंजी आदि प्रयोग भी साथ-साथ चल रहे हैं।

संस्कृत में कुछ अनेकार्थी शब्द ऐसे हैं कि इस बात विश्लेषण असंभव सा है कि उनका इतने अधिक अर्थों में प्रयोग का प्रचलन कैसे हो गया है। उनके अर्थ-परिवर्तन बिल्कुल आसाधारण से हैं। उदाहरण के लिये हम लोग कुछ ले सकते हैं—

सारंग—बाज़, कोयल, मोर, पपीहा, चातक, भ्रमर, खंजन, सूर्य, चंद्रमा,

कृष्ण, विष्णु, कामदेव, हाथी, घोड़ा, मृग, साँप तथा पृथ्वी आदि ५० से भी अधिक अर्थ हैं।

हरि—विष्णु, इन्द्र, बंदर, घोड़ा, सिंह, चन्द्रमा, पानी साँप तथा अग्नि आदि पचीसों अर्थ हैं।

हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ कूट छन्दों में एक ही पंक्ति में ऐसे एक शब्द का अनेक अर्थ में प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग भाषा में स्वाभाविक विकास के कारण अवश्य नहीं हैं पर इनके इतने अधिक अर्थों के होने की समस्या अवश्य ही भाषा-विज्ञान के अर्थ-विचार के अंतर्गत आती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो इन विभिन्न अर्थों का कुछ न कुछ संबंध शब्द की धातु से होगा या फिर बलात् ही इतने अर्थ शब्द पर लाद दिये गए होंगे। अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में भी कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं पर उनके अर्थों की संख्या पचास तक नहीं पहुँच सकती।

स्पष्टता के लिए जीवित भाषा से कुछ अनेकार्थी शब्दों के प्रचलित प्रयोग लिए जा सकते हैं।

पक्ष

१. पक्षी के पक्ष सुन्दर है।
२. चुनाव में कांग्रेस पक्ष की हार हुई।
३. कृष्णपक्ष की रात डरावनी होती है।

घर

१. धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।
२. गाँव में सत्तर घर हैं।
३. मकान में पाँच घर हैं।
४. वह बड़े घर का है।

रोटी

१. आजकल रोटी का क्या प्रबन्ध है ?
२. बिना नमक की रोटी पर कौन काम करेगा ?
३. गेहूँ की रोटी।
४. धनिक, गरीबों के खून की रोटी खाते हैं।

प्रचलित प्रयोगों में अलंकार का हाथ अधिक है। संक्षेप में, कहने की प्रवृत्ति ही इतने अर्थों को जन्म देती है और संभवतः इसी कारण वे साथ-साथ प्रयुक्त भी होते रहते हैं।

(ख) एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द (Doublets)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक ही मूल से निकले या एक ही शब्द के ध्वनि की दृष्टि से दो भिन्न रूपों का अर्थ भिन्न हो जाता है। ऐसे बहुत से उदाहरण ऊपर अर्थ-परिवर्तन के कारणों के विवेचन में आ चुके हैं।

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मूल या शुद्ध शब्द तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है और विकसित या विकृत शब्द कुछ नीचे या बुरे अर्थ में। स्थान, थान; गर्भिणी, गाभिन; ब्राह्मण, बाम्हन; भोग, भोजन; तथा कर्तव्य, करतब आदि।

कुछ शब्दों में अर्थ बहुत दूर चला जाता है। पक्षी का अर्थ चिड़िया है पर उसी से निकले पंखी शब्द का अर्थ हवा करने वाला पंखा है। क्षीर, खीर; कोण, गोनिया आदि भी ऐसे ही हैं।

अंग्रेजी में Story, History, drag, draw, lawn, land आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं।

(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द (Homonym)[१]

कुछ शब्द ध्वनि की दृष्टि से बिल्कुल एक से रहते हैं पर उनका मूल भिन्न होता है साथ ही अर्थ में महान अंतर रहता है। जब तक वाक्यों में ये प्रयुक्त न रहें इनके अर्थ के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कुछ ऐसे प्रचलित शब्द उदाहरण के लिये लिए जा सकते है।

	संस्कृत	अरबी
आम	आम्र	आम (साधारण)
सहन	सहना	सहन (आँगन)
कुल	वंश	कुल (समस्त)

अंग्रेजी में भी hare, hair, I, eye, all, awl, आदि शब्द भी इसी के उदाहरण हैं।

१. अंग्रेजी में इसे Homophone भी कहते हैं।

शब्दों के अर्थ-अध्ययन का महत्व

अर्थ स्वयं भाषा का मानसिक या आंतरिक पक्ष है अतः उसके अध्ययन से किसी जाति या राष्ट्र के मानसिकपक्ष पर प्रकाश पड़ता है। एक शब्द अर्थ की दृष्टि से कहाँ से चल कर किस समय कहाँ आया इससे भी सभ्यता के विकास को समझने मे सहायता मिलती है। धार्मिक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर ही गोस्वामी का अर्थ धनी या गायों के स्वामी से हट कर धार्मिक व्यक्ति हुआ होगा। संभवतः उस समय धनी लोग धार्मिक होते रहे होंगे। इस प्रकार के निष्कर्ष अर्थ-अध्ययन से निकाले जा सकते हैं।

पिल्ला का द्राविड़ भाषा में पुत्र अर्थ होता है पर हिन्दी में या आर्य भाषाओं में कुत्ते का बच्चा। इससे इतना तो स्पष्ट है कि द्राविड़ों के प्रति आर्यों के हृदय में आदर भाव नहीं था। असुर का देववाची से राक्षस-वाची अर्थ होना भी इरानियों के प्रति आर्यों का कुछ ऐसा ही भाव प्रदर्शित करता है।

यहाँ इस विषय को सांगोपांग हम नहीं ले सकते पर इतने से ही अनुमान लगा सकते हैं कि अर्थ-परिवर्तन के आधार पर राष्ट्र या समाज के अंतःकरण एवं स्तर का सुन्दर विश्लेषण किया जा सकता है।

सातवाँ अध्याय

शब्द-समूह

शब्द-समूह (Vocabulary)

किसी भाषा में प्रयुक्त होने वाले समस्त शब्दों के समूह को उस भाषा का 'शब्द—समूह' कहते हैं। भाषा की ही भाँति व्यक्ति का भी अपना शब्द-समूह होता है। यद्यपि व्यक्ति या भाषा के सभी शब्दों की गणना संभव नहीं, पर इसका प्रयास किया गया है। ग्रीक कवि होमर, अंग्रेजी कवि मिल्टन, तथा शेक्सपीयर आदि का शब्द-समूह क्रम से ६०००, ८००० तथा १५००० कहा जाता है। हिंदी के कवि-सम्राट तुलसी[1] का शब्द-समूह अनुमानतः १६००० से कुछ ऊपर है। जीवन के आरंभ से लेकर अंत तक व्यक्ति के शब्द-समूह में परिवर्तन होता रहता है। और ठीक इसी प्रकार भाषा का शब्द-समूह भी परिवर्तित होता रहता है। ऊपर हम अर्थ-विचार में इस बात पर विचार कर रहे थे कि शब्दों का अर्थ किस भाँति और क्यों बदलता है। उसके भी पूर्व ध्वनि के प्रकरण में हम शब्द के शरीर या वाह्य रूप के परिवर्तन पर विचार कर चुके हैं। यहाँ न तो शब्द की आत्मा (अर्थ) के परिवर्तन पर विचार करना है, और न शरीर (ध्वनि) पर, अपितु हमें यह देखना है कि शब्द अपनी आत्मा एवं शरीर के साथ किस भाँति भाषा के शब्द-समूह से निकल जाता है। ऐसी अवस्था में कभी-कभी तो उस अर्थ में भाषा किसी दूसरे शब्द का स्वागत करती है पर कभी-कभी तो वह भावना या विचार ही वह त्याग देती है। इस प्रकार शब्द-समूह में परिवर्तन दो कारणों से होता है :—

१. प्राचीन शब्दों का लोप, तथा

२. नवीन शब्दो का आगमन।

---

१. प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक हिन्दुस्तानी एकेडमी में श्री हरिगोविन्द तिवारी लिखित 'तुलसी-शब्द-सागर' के संपादन का कार्य कर रहा है। यह अनुमान उसी आधार पर लगाया गया है।

[१] प्राचीन शब्दों का लोप

शब्दों के लोप के संबंध में हम जितने कारणों पर यहाँ विचार करेंगे उनके दो पक्ष हो सकते हैं। प्रथम है वैयक्तिक पक्ष। इसमें कारण बोलने वाले के मस्तिष्क में रहता है। जैसे शब्द कभी-कभी घिस जाने के कारण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते तो बोलने वाले उसे व्यर्थ समझकर छोड़ देते हैं। दूसरा है सामाजिक पक्ष। समाज की कुछ रीतिओं के समाप्त हो जाने के कारण उनके संबंधित शब्द भी छूट जाते हैं। कभी-कभी ये दोनों पक्ष साथ-साथ भी देखे जाते हैं। सत्य तो यह लगभग सभी लोपों के कारणों में दोनों पक्ष साथ-साथ रहते हैं, हाँ यह अवश्य है कि कुछ में एक का प्राधान्य रहता है और कुछ में दूसरे का। अब हम कारणों पर अलग-अलग विचार कर सकते हैं।

[क] रीति या कर्मों का लोप

परिवर्तनशील समाज में सर्वदा एक प्रकार के ही कार्य नहीं होते और न तो उसमें एक प्रकार की रस्मों या रीतिओं का प्रचलन ही सर्वदा रहता है। ऐसी अवस्था में उनके लोप के साथ उनसे संबंधित शब्द भी समाप्त हो जाते हैं। यज्ञ आर्यों के प्रमुख कर्मों में था और इसी कारण समिधा, हव्य आदि अनेक शब्द प्रचलित थे, पर आज यज्ञों के लोप के कारण इन शब्दों का भी जीवित आर्य भाषाओं में लोप हो गया है।

[ख] रहन-सहन में परिवर्तन

इसका भी प्रभाव शब्द-समूह पर पड़ता है। इस परिवर्तन के कारण बहुत से पहनावे या अन्य रोज़ की वस्तुएँ छोड़ दी जाती हैं अतः उनसे सम्बन्धित शब्द या उनके नामों का लोप हो जाता है। बहली, अंगरखा, या चोगा आदि शब्द आज इसी कारण लुप्त हो गए हैं। यह कारण प्रथम कारण के बहुत समीप है।

[ग] अश्लीलता

सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के अनुसार मैथुन या शौच विषयक बहुत से शब्द अश्लील स्वीकार कर लिए जाते हैं। इसका फल यह होता है कि शिक्षित तथा सभ्य समाज में उनका प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार वे

लुप्त हो जाते हैं। आश्चर्य यह है कि ठीक वही अर्थ रखने वाले अन्य शब्द समय और क्षेत्र विशेष में अश्लील नहीं माने जाते।

पाखाना और गुह, पेशाब और मूत आदि में यह बात स्पष्ट है। लिंग, उपस्थ, सहवास, वीर्य, शौच तथा गुदा आदि शब्द प्रचलित हैं पर इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द बिलकुल ही अश्लील तथा सभ्य समाज के लिए त्याज्य समझे जाते हैं।

एक समय ऐसा रहा होगा जब आज के ये त्याज्य शब्द खूब प्रचलित रहे होंगे। आज त्याज्य हो जाने के कारण शब्द-समूह में इसका स्थान नहीं के बराबर है। कुछ दिन में इनका पूर्ण लोप भी हो जाना असंभव नहीं।

[घ] शब्दों का घिसना (ध्वनि)

ध्वनि-परिवर्तन के फल-स्वरूप कुछ शब्दों का स्वरूप घिस कर बहुत छोटा हो जाता है। यहाँ तक कि शब्द एक अक्षर के हो जाते हैं और तब अति लघु होने के कारण उनका प्रयोग नहीं होता। 'उपाध्याय' घिसते-घिसते 'झा' हो गया, यदि इसमें तनिक भी और कमी हुई तो बहुत संभव है यह लुप्त हो जाय। स्थानों के नाम अधिकतर बहुत छोटे होने पर भी लुप्त नहीं होते। उनके साथ एक और शब्द जोड़ कर उसे लोग बड़ा बना लेते हैं।

घिसकर छोटा होने के पश्चात् अर्थ की अस्पष्टता को दूर करने के लिए तो शब्द छूट ही जाते हैं साथ ही, कभी-कभी यह भी होता है कि ध्वनि-परिवर्तन के कारण दो शब्द ध्वनि में पूर्णतः एक हो जाते हैं; तब भी एक शब्द जो कमजोर रहता है छूट जाता है। तुलसी के समय तक कच्चे के अर्थ में 'आम' का प्रयोग मिलता है पर उसके पश्चात् 'आम' (एक फल) —जो आम्र का परिवर्तित रूप है—ही इस ध्वनि का एक मात्र शब्द मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उसके बाद से ही आम (कच्चा) का प्रयोग साहित्य में भी छूट गया।

[ङ] शब्दों का घिसना (अर्थ)

ध्वनि की ही भाँति अर्थ भी घिस जाता है। ऐसे में यदि अर्थ-परिवर्तन न हुआ तो वह शब्द ही शब्द-समूह से निकल जाता है। जिन शब्दों में

असाधारण शक्ति होती है उनमें यह बात अधिकतर देखी जाती है। शीघ्र ही उनका अर्थ प्रयोग से साधारण हो जाता है और फिर वे लुप्त हो जाते हैं।

[च] अंधविश्वास

यह विशेषत: जंगली भाषाओं में पाया जाता है। वे लोग अंधविश्वास से शब्दों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देते हैं। यदि किसी भी कारण से उन्हें इसका आभास मिल गया कि अमुक शब्द अशुभ है या उसके कहने से कोई देवता रुष्ट होगा तो वे उसका प्रयोग छोड़ देते हैं। कुछ जगह गाँवों में रात को इसी कारण साँप-विच्छू का नाम लेना वर्जित है, उन्हें जेवर और टेढ़की कहा जाता है।

[छ] पर्याय

कभी-कभी यह देखा जाता है कि जन-मस्तिष्क व्यर्थ में एक भावना के लिये दो शब्दों का भार ढोना पसन्द नहीं करता। ऐसा होता है कि दो शब्दों के अर्थ में यदि कुछ भी अंतर न हो तो एक शब्द लुप्त हो जाता है। मुसलमानों के आगमन के बाद जन भाषा से 'सहस' शब्द 'हज़ार' की प्रतियोगिता में खड़ा न हो सका और उसे मैदान छोड़ना ही पड़ा। बोलचाल में कलम भी लेखनी को खाकर ही आज एकछत्र राज्य कर रहा है।

[२] नवीन शब्दों का आगमन

भाषा में एक ओर तो कुछ प्राचीन शब्दों का लोप होता है पर दूसरी ओर कुछ नए शब्दों का आगमन भी होता है। आगम के लिये निम्नांकित कारण सम्भव हैं—

[क] सभ्यता में विकास

सभ्यता के विकास के साथ नवीन विचार आते हैं, साथ ही आवश्यकतानुसार नवीन वस्तुओं का आविष्कार भी करना पड़ता है। इन नए विचारों तथा आविष्कारों के नाम के लिये भाषा को नए शब्दों का स्वागत करना पड़ता है। इन नए शब्दों का आगम प्राचीन शब्दों के लोप से कहीं अधिक द्रुत गति से होता है। इस समय जब कि अंग्रेज़ी का स्थान राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी लेने जा रही है इसमें अनेक नए शब्द तेजी के साथ में आ रहे हैं।

[ख] अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों से संपर्क

अन्य भाषा-भाषी लोगों के सम्पर्क में आने पर एक दूसरे से दोनों ही पक्ष कुछ अधिक प्रचलित शब्दों को ले लेते हैं। हिन्दी में अनेक तुर्की, अरबी, फारसी, द्राविड़, आग्नेय, अंग्रेजी, फ्रेंच, तथा पुर्तगाली शब्द इसी कारण आ गए हैं।

[ग] ध्वन्यात्मकता

कुछ वस्तुओं की ध्वनि के कारण भी नए शब्द उन ध्वनियों के आधार पर आ जाते हैं। मोटर ध्वनि के कारण पों-पों कुत्ते के कारण भों-भों आदि शब्द हैं। आज हिन्दी में प्रकृति की ओर कवियों के ध्यान जाने के फल-स्वरूप कल-कल, छल-छल, खल-खल आदि बहुत शब्द आ गये हैं।

[घ] साम्य या नवीनता लाने के लिये

साम्य या नवीनता लाने के लिये कभी-कभी लोग बलात् नए शब्दों को लाते हैं और वे शब्द चल पड़ते हैं। हिन्दी में साम्य के लिये पाश्चात्य के साथ नवीन शब्द पौर्वात्य आ गया है। नवीनता के लिये भी उपसर्गों को जोड़ कर कितने ही नवीन शब्द आज कल बनाए जा रहे हैं।

हम नवीन शब्द कहाँ पाते हैं ?

हमारे सामने अब प्रश्न उठता है कि ये नवीन शब्द हमें कहाँ से मिलते हैं। इसके लिये निम्नांकित भिन्न-भिन्न उद्गम हैं :—

[क] समिश्रण

कुछ शब्दों को आवश्यकतानुसार हम दो शब्दों को मिलाकर बना लेते हैं। यह क्रिया प्रत्येक समुन्नत भाषा में नित्य-प्रति हुआ करती है। यह भाषा के लिये बहुत सामान्य और स्वाभाविक है। कब ही, जब ही, अब ही तथा तब ही आदि से हिन्दी में कभी जभी तभी और अभी आदि शब्द बन गए हैं। यह मिश्रण आवश्यकतानुसार प्राचीन+प्राचीन, प्राचीन+नवीन, नवीन+नवीन आदि कई प्रकार का हो सकता है। कभी-कभी देशी+विदेशी से भी शब्द बन जाते हैं। आज का हिन्दी में प्रचलित 'पाव रोटी' शब्द ऐसा ही है।

[ख] सादृश्य

इस आधार पर भी भाषा में नए शब्द बहुत बनते हैं। ऊपर हम

पाश्चात्य के आधार पर पौर्वात्य का उल्लेख कर चुके हैं। प्रारम्भ की अनियमित भाषा का जब धीरे-धीरे नियमन हुआ होगा तो इस प्रकार बहुत से शब्द बने होंगे। आज के हिन्दी के नवीन कोषों में सादृश्य के आधार पर अनेक शब्द नवीन बन रहे हैं।

[ग] उधार

नवीन शब्दों का सबसे बड़ा भंडार यहीं है। यह उधार भी अनेक प्रकार का हो सकता है—

(१) सांस्कृतिक शब्द

दो संस्कृतियों के सम्मिलन में वस्तुओं या विचारों के विनिमय में बहुधा ज्यों के त्यों या कुछ परिवर्तन से उधार ले लिये जाते हैं। आज विज्ञान के युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में यह बात और अधिक लागू है। अंग्रेज़ी के अनेक शब्द विश्व की बहुत सी भाषाओं को उधार लेने पड़े हैं।

(२) प्राचीन साहित्य से

अपने अति प्राचीन साहित्य से भी अधिकतर भाषाओं को शब्द उधार लेने पड़ते हैं। जब कभी हमारी दृष्टि अपने उज्ज्वल अतीत की ओर जाती है तो हम ऐसा करते हैं। सभी भाषाओं में यह बात देखी जाती है।

(३) सामयिक ग्रामीण बोलियों से

साहित्यिक भाषा से भी अधिक जीवित ग्रामीण बोलियाँ होती हैं, अतः उनसे भी अधिकतर शब्द हमें लेने पड़ते हैं। सत्य तो यह है कि हमें यथार्थ जीवन—शब्द या विचार दोनों ही दृष्टियों से—इन ग्रामीण बोलियों से ही मिलता है। आजकल के हिन्दी के हुल्लड़, चिपोंग आदि शब्द ऐसे ही हैं। विशेषतः प्रगतिवादी लेखकों में ऐसे शब्द बहुत मिलेगें।

[घ] नामों पर आधारित

बहुत से शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर बन जाते हैं। सैंडो बनियाइन सैंडो नामक अमेरिकन पहलवान के नाम पर है। अंग, बंग, कुरु, पंचाल आदि देशों के नाम भी ऐसे ही हैं। अंग्रेज़ी के ब्वायकाट तथा क्विसलिंग शब्द भी इसी प्रकार के हैं। हिन्दी के जयचन्द, विभीषण और गोडसे आदि की भी यही दशा है।

[ङ] ध्वन्यात्मक

कुछ ध्वनियों के अनुकरण पर भी शब्द बनते हैं। ऊपर आगम पर विचार करते समय इसके उदाहरण दिए जा चुके हैं। भड़-भड़, तड़-तड़, धूधू, चरमर, मरमर आदि शब्द इसी वर्ग के हैं।

[च] दृश्यात्मक

कुछ वस्तुओं को देखने मात्र से उनके सम्बन्ध में कुछ शब्द बन जाते हैं। बग-बग, जगमग, चमचम, आदि शब्दों को उदाहरण के लिये हम ले सकते हैं।

[छ] स्वतंत्र

बिल्कुल स्वतंत्र बनाए जाने वाले शब्द बहुत ही कम होते हैं। कुछ लोगों का तो कहना है कि स्वतंत्र रूप से बनने वाले शब्द एक भी नही हैं। जो शब्द इसके उदाहरण में लिए जाते हैं वे भी किसी न किसी आधार—सादृश्य, ध्वनि, मिश्रण, अनुकरण—पर बने है। कुछ लोग अंग्रेजी शब्द कोडक और गैस को ऐसा मानते हैं, पर इनमें प्रथम तो ध्वनि पर आधारित है और दूसरा अनुकरण पर। अतः इस प्रकार की स्वतंत्र बनावट का प्रश्न अभी तक पूर्णतः संदिग्ध है।

यहाँ तक हम लोग शब्द-समूह में परिवर्तन उपस्थित करने वाले लोप और आगम के कारणों एवं आगम के उद्गम पर विचार करर हे थे। इस सम्बन्ध में अंतिम शब्दों में यह कह देना आवश्यक है, कि संसार की सभी भाषाओं में इन उपर्युक्त सभी बातों का पाया जाना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है, पर सुसभ्य भाषाओं में इनमें से अधिकांश को खोजा जा सकता है।

———

आठवाँ अध्याय

प्रागैतिहासिक खोज

प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)

भाषा-विज्ञान की यह शाखा अत्यन्त ही नवीन है। इसमें इतिहास के उस अंध युग पर जिसके संबंध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने इसकी नींव रखी। जर्मन में इसका नाम उर्गशिश्ते (Urgeschichte) है।

खोज की प्रणाली

इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्राचीनतम काल के कौन-कौन शब्द थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियों से किया जाता है। सामाजिक, धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी। जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे। क्रिया 'शब्दों' से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार यथासाध्य उन शब्दों के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छानबीन की जाती है, और एक पूरा नकशा तैयार करने का प्रयास किया जाता है।

साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौदे, ऋतु से संबन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना संभव है। ऐसा करने से उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान

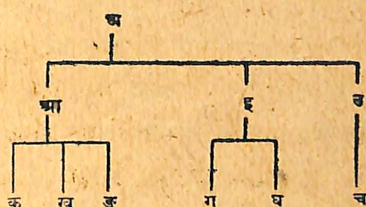
इस खोज का आधार यद्यपि भाषा-विज्ञान है पर पूर्णता के लिए अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों की सहायता भी लेनी पड़ती है। इनमें सबसे प्रथम स्थान मानव-विज्ञान (anthropology) का है इसके द्वारा उस काल के

मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन अन्य आधारों से होता है। इसी प्रकार पुरातत्व (archaeology) की सामग्रियों एवं निष्कर्षों से भी हमें भाषा-विज्ञान के आधार पर की गई खोज को पर्याप्त सहायता मिलती है, साथ ही उसके सत्यासत्य होने की परीक्षा भी कुछ हद तक हो जाती है। भूगर्भ विद्या (Geology) भी हमारी कम सहायता नहीं करती है। पर सबसे अधिक सहायता भूगोल (Geography) से मिलती है। विशेषतः उस स्थान विशेष का प्राचीन भूगोल, शब्दों के आधार पर प्राप्त वहाँ की तत्कालीन भौगोलिक दशा को समझने में तथा आदि स्थान को निश्चित करने में बहुत सहायक होता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें

(१) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो उसकी नई-पुरानी सभी शाखाओं प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए। और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ऐसा करने से कभी कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझ कर छोड़ना उचित नहीं।

(२) एक शब्द एक शाखा की अनेक प्रशाखाओं मे और अन्य शाखा की एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शब्द मूल भाषा का है। हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से आगम हुआ हो और दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस संबन्ध में शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले जिनकी आपस में भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।



यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुई

और क्रमशः आ से क, ख, ङ, इ से ग, घ तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा अ का शब्द है। पर यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की अधिक संभावना हो सकती है। इतना ही नहीं यदि अंग्रेजी और हिंदी की भांति क और च का संबंध हो या रहा हो तो इस प्रकार के एक शब्द का पाया जाना विशेष महत्व नहीं रखता। क्योंकि संभव है संसर्ग के कारण एक ने दूसरे से उधार लिया हो। पर दूसरी ओर दोनों भाषाओं में पाया जाना वाला शब्द यदि इतने पुराने समय से पाया जाता है जब दोनों का आपस में संबन्ध नहीं था तो उसका महत्व हो सकता है। यह बात प्रत्यक्ष संपर्क की है। कभी कभी अप्रत्यक्ष संपर्क के कारण भी शब्द एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उपर्युक्त चित्र में क और घ से सीधा संबन्ध कभी नहीं रहा पर यदि क का ग से और ग का घ से रहा तो यह अप्रत्यक्ष संबन्ध माना जायगा और शब्द के उधार लिए जाने की संभावना हो सकती है। पर यहाँ भी पहले के उदाहरण की भाँति संपर्क के समय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

(३) दो भाषाओं में एक शब्द मिले पर ध्वनि और अर्थ में कुछ या अधिक अंतर हो तो इस आधार पर शब्द छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि संभव है अर्थ एवं ध्वनि-परिवर्तन के कारण यह अंतर पड़ा हो और मूलतः शब्द एक हो।

(४) कोई एक शब्द एकाध प्रशाखा में हो और शेष में न हो तो इससे सीधे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि मूल भाषा में शब्द नहीं था। क्योंकि यह भी संभावना हो सकती है कि शेष भाषाओं में उस शब्द का लोप हो गया हो। अतः और आधारों से इसकी परीक्षा करनी चाहिये।

(५) किसी शृंखलाबद्ध शब्द-पंक्ति में इधर-उधर के शब्द मिलें तो बीच के शब्द न मिलने पर भी उसकी संभावना की जा सकती है। जैसे नाक, कान मुँह के लिए शब्द मिलें तो आँख के लिए शब्द मिले या नहीं यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि उसके लिए शब्द था। इसी प्रकार १, २, ३, ५, ६ ७ ९ के लिए शब्द हों तो ४ और ८ का होना भी माना ही जायेगा, चाहे शब्द मिले या न मिले।

शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें

(१) एक वस्तु के नाम का मूल भाषा में होने पर जब तक और शब्द न मिले उसके विभिन्न प्रयोगों का उस काल में होना न मान लेना चाहिये। जैसे यदि घोड़ा के लिए शब्द मिल जाय पर, चढ़ने और रथ आदि के लिए शब्द न मिले तो इसका प्रयोग संदिग्ध हो सकता है। क्योंकि यह भी संभव है कि परिचय मात्र रहा हो और रथ में जोतना, चढ़ना आदि प्रचलित न रहा हो। इसी प्रकार दूध के लिए शब्द मिलने पर दधि और घी होने की संभावना अन्य आवश्यक शब्दों के मिले बिना नहीं हो सकती।

(२) पानी, पर्वत, पेड़ आदि के शब्दों के तथा ऋतु के आधार पर मूल निवासस्थान के निश्चित करने में बहुत सतर्क रहना चाहिये। इसमें प्राचीन भूगोल से विशेष सहायता ली जानी चाहिये। साथ ही कुछ ही शब्दों के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं।

(३) सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था आदि के विषय में भी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से सहारा लेकर निष्कर्ष निकालना चहिये। साथ ही पर्याप्त सामग्री पर अपने परिणाम को आधारित करना चाहिये। उस विषय में शब्द के मिलने पर भी किसी ऐसी परम्परा या ऐसे विधान की कल्पना न की जानी चाहिये जो उस काल के लिए असंभव हो। क्योंकि ऐसी दशा में अधिक संभव यह है कि वह शब्द विशेष उस समय कुछ दूसरा अर्थ रखता रहा होगा। उदाहरणार्थ प्राचीन भारोपियों के संबन्ध में खोज करते समय रेल के लिये कोई शब्द मिले तो उसका आशय यह नहीं कि उस समय रेल थी, बल्कि इसका अर्थ यह अवश्य है कि उस शब्द विशेष के ठीक अर्थ से हम अवगत नहीं हैं।

खोज का कार्य

भाषा विज्ञान के आधार पर ऐसी खोज विशेषतः भारोपीय परिवार के विषय में हुई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस संबन्ध में प्रथम कार्य मैक्समूलर द्वारा हुआ। उसने और बातों पर प्रकाश डालते हुए मध्य-एशिया में आर्यों का आदि स्थान निश्चित किया। तब से लैथन, पीटर गाइल्स, सर देसाई, तिलक, ब्रैंडेस्टाइन, दास, संपूर्णानंद, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया। इसमें कुछ विद्वानों का दृष्टिकोण

भाषा-विज्ञान के आधार पर नहीं रहा है पर कुछ न कुछ सहारा तो लेना ही पड़ा है।

इस संबन्ध में अंतिम मत श्री श्रेडर का है जिनके अनुसार वोल्गा के उद्गम के पास आर्यों का स्थान था। अधिकतर विद्वानों के निष्कर्षों के विषय में एक बात विचित्र रही है कि या तो लोगों ने अपने देश को आदि स्थान माना है या फिर उस भाषा के स्थान को माना है जिसके वे विद्वान रहे हैं। जब तक सभी लोगों का मिश्रित विचार न हो और सभी भाषाओं के द्वारा लोग एक निष्कर्ष पर न पहुँचें कोई निष्कर्ष अंतिम नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि अभी तक भारोपीय परिवार की सभी भाषाओं की पूरी छानबीन कर वैज्ञानिक ढंग पर प्रामाणिक कार्य हुआ ही नहीं। स्वदेश और स्वभाषा की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर कार्य करने की आवश्यकता है। साथ ही आदिम स्थान की खोज पर जितना जोर दिया गया है उतना उस समय के जीवन के विश्लेषण पर नहीं। इस ओर उससे भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

———

नवाँ अध्याय

लिपि

लिपि

भाषा की उत्पत्ति और साधारण विकास के उपरांत लिपि के प्राथमिक रूप का जन्म हुआ होगा। यह जन्म भाषा के जन्म की भाँति ही अनिश्चित नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारे पास कुछ सबल प्रमाण हैं, साथ ही अनुमान का आधार भी अधिक ठोस है। पहले लिपि की उत्पत्ति पर विचार कर लेना होगा।

लिपि की उत्पत्ति

जैसे कुछ प्राचीनतावादी लोग भाषा के विषय में सोचा करते थे कि ईश्वर ने सीधे बनी बनाई भाषा मनुष्य को दी, उसी प्रकार लिपि के विषय में भी न्यूनाधिक विचार हैं। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं, और उनके लिए इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका नाम ब्राह्मी है। अन्य धर्मावलंबियों के विचार भी कुछ ऐसे ही हैं।

भाषा की भाँति ही लिपि के संबन्ध में भी यह धारणा पूर्णत: निराधार सिद्ध हो चुकी है। सत्य यह है कि इसका भी भाषा की भाँति विकास हुआ है। आरम्भ में किसी बात के स्मरण के लिये किसी ने कोई साधारण चिह्न खींच या बना दिया होगा। उसे उपयोगी देखकर कर उसने पुनः प्रयोग किया होगा और फिर देखादेखी और लोगों में भी इसका प्रचलन हुआ होगा। फिर आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन से आज की लिपि के साधारण वृत्त का जन्म हुआ होगा।

लिपि का विकास

लिपि के जन्मकाल से आजतक के रूपों की व्यवस्थित शृंखला हमें प्राप्त नहीं है, पर कुछ इधर-उधर की प्राप्त सामग्री के आधार पर हम इसके विकास की कुछ संभावित अवस्थाओं का अनुमान कर सकते हैं।

विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

(क) सूत्र लिपि

संभवतः विश्व की प्राचीनतम लिपि सूत्र लिपि रही होगी। इसी को कुछ लोगों ने ग्रंथि या रज्जु लिपि भी कहा है। आरंभ में सूत, रस्सी, छाल की पतली नसों या लताओं आदि में गाँठ देकर लोग बातें याद रखते रहे होंगे। सालगिरह या वर्षगाँठ शब्द में आज भी उस परम्परा का अवशेष है। देहातों में लोग अधिकतर स्मरण के लिए धोती के एक छोर में गाँठ लगा देते हैं। सूत्र या रस्सियों द्वारा दो युक्तियों से भाव-प्रदर्शन होता था। प्रथम गाँठ देकर और दूसरे विभिन्न रंगों से। कभी कभी खाल (जानवरों की) में मूँगे-मोती आदि भिन्न-भिन्न रंग की चीजों को बाँध कर भी यह काम निकाला जाता था। ग्रंथि द्वारा भाव-प्रदर्शन चीन में प्रागैतिहासिक काल में प्रचलित था। पीरू में इसे क्विपू[1] कहते थे। वहाँ की प्राचीनतम पुस्तक जिसमें एक सेना का वर्णन है इसी लिपि में है।

पीछे कई स्थानों पर कहा जा चुका है कि भाषा में वाक्य ही प्रधान है। यहाँ भी वाक्य की ही अभिव्यंजना रंगों या ग्रन्थियों द्वारा होती थी, शब्द

---

१. क्विपू (Quipu) दो फिट या अधिक लंबी एक रस्सी होती थी, जिसमें रंग विरंगे सूत लटकते रहते थे। इसकी गाँठें भी विभिन्न प्रकार की होती थीं। इन्हीं गाँठों और रंगों की विशेषता से विशेष विशेष भाव प्रदर्शित होते थे। कभी-कभी गाँठों की संख्या भी कार्य करती थी। स्थूल वस्तुओं के साथ ही इससे सूक्ष्म भाव भी प्रदर्शित किए जाते थे। भावों के लिए विशेषतः रंगों का प्रयोग होता था। जैसे श्वेत रंग शांति और लाल युद्ध का द्योतक था। हमारे यहाँ आज भी साहित्य में प्रेम और युद्ध का रंग लाल, हँसी और यश का श्वेत तथा गंभीरता और अनंतता का नीला आदि माना जाता है। संभव है यह किसी इसी प्रकार की परंपरा का अवशेष हो। अक्षर के लिए वर्ण (रंग) शब्द का प्रयोग, तथा संस्कृत में संक्षिप्त सूत्रों (सूत या रस्सी) द्वारा याद रखना भी कुछ इसी ओर संकेत करता है।

क्विपू द्वारा भाव प्रदर्शन का प्रयोग पीरू के अफ़सर विशेषतः करते थे। आज भी इस लिपि में सेना-वर्णन की एक प्राचीन पुस्तक प्राप्त है, पर उसे कोई पढ़ने में समर्थ नहीं है।

की नहीं। एक ग्रंथि या एक रंग एक पूरे वाक्य या भाव को व्यक्त करता था। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। इन रंगों, गाँठों या गाठों की संख्याओं से भाव का संबन्ध था ध्वनि का नहीं। साथ ही यह प्रबन्ध मनुष्य मनुष्य का माना हुआ था अतः आज की लिपि की भाँति उस समय भी लोगों को उसे याद करना पड़ता रहा होगा।

(ख) रेखा लिपि

यह भी विश्व की आरंभिक लिपियों में से है। सूत्र लिपि के साथ इसका भी प्रचार रहा होगा। जहाँ सूत्र या रंग आदि की प्राप्ति में कठिनाई पड़ती रही होगी वहाँ लोग इसका प्रयोग करते रहे होंगे। कुछ अफ्रीकी जातियों में आज भी इस लिपि का प्रचार है। आज के हमारे लिपि चिह्नों का इस लिपि से अधिक निकट का संबंध है, अतः इसे किसी हद तक आज के लिपि चिह्नों की जननी कहा जा सकता है। विशेषतः अंकों की उत्पत्ति तो अवश्य ही रेखा लिपि से हुई है।

उदाहरणार्थ

—से १

= से २

≡ से ३

और + से ४ आदि।

इसी प्रकार फ़ारसी आदि के ۱, ۲, ۳, आदि या अंग्रेजी आदि के 1, 2, 3 भी रेखाओं से निकले हैं। रोमन के I, II, III, में तो यह और भी स्पष्ट है।

ये रेखाएँ प्राचीन काल में, खाल, पत्थर, लकड़ी या मिट्टी के टुकड़ों पर बनाई जाती थीं।

(ग) चित्र लिपि

इन दोनों लिपियों के पश्चात् चित्र लिपि का पदार्पण हुआ होगा। इसमें किसी वस्तु के लिये उसका चित्र बना दिया जाता था। भौगोलिक नकशों में आज भी मंदिर, मसजिद, बाग, पहाड़ आदि के लिये कुछ ऐसा ही किया जाता है। पंचांगों में ग्रहों का चित्र भी इसी प्रकार कार्य करता है।

चित्र लिपि के अवशेष, स्काटलैंड तथा कैलीफोर्नियाँ की घाटियों मिश्र, मेक्सिको, चीन, फ्रांस आदि में मिलते हैं। इस लिपि के लिये, पत्थर, पेड़ की छाल, जानवरों के चर्म, सींघ आदि वस्तुएँ कागज का काम देती थीं।

चित्र लिपि बहुत ही व्यापक थीं, क्योंकि किसी का भी चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते थे, साथ ही संभवत: इसी व्यापकता के कारण इसका प्रचलन भी अधिक था। मूल रूप में यह अंतराष्ट्रीय लिपि भी थी, क्योंकि शेर का या आदमी का कोई भी चित्र कहीं भी सरलता से पहचाना जा सकता है। इस लिपि की कुछ कठिनाइयाँ भी थीं, जिन पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

चित्र लिपि की कठिनाइयाँ

(१) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का कोई साधन नहीं था। आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम मोहन और माधव का पृथक पृथक चित्र बनाना साधारणतया सम्भव नहीं था।

(२) स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो संभव था, पर भावों या विचारों का चित्र अधिक कष्ट संभव था। कुछ भावनाओं के लिये चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सबका इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना व्यावहारिक नहीं था।

(३) शीघ्रता में ये चित्र नहीं बनाए जा सकते थे।

(४) कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकार प्रवृत्ति होने के कारण समर्थ न रहे होंगे। ऐसे लोगों को और भीकठिनाई पड़ती रही होगी।

(५) काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि में एकान्त अभाव था।

चित्र लिपि के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

ऊपर हम लोग कह चुके हैं कि रेखा लिपि से ही अधिकतर अंकों का और कुछ अक्षरों का विकास हुआ होगा पर शेष के लिये हमें चित्र लिपि की ही शरण लेनी पड़ती है। विश्व की सभी प्रसिद्ध लिपियों (ब्राह्मी के

संबंध में किस चित्र लिपि से विकास हुआ यह अज्ञात है, पर अनुमानतः वह भी अवश्य किसी चित्र लिपि से विकसित हुई होगी।) का विकास चित्र लिपि से ही हुआ है, इसके स्पष्ट और निश्चित प्रमाण प्राप्त हैं। इस विकास के लिए लिपियों को अनेक अवस्थाओं को पार करना पड़ा होगा। यहाँ उनमें से प्रमुख अवस्थाओं पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

(१) विचार-चित्रण या भावलिपि (Ideography)

चीन, मिश्र आदि में इसके अवशेष मिलते हैं। इसमें एक वस्तु या एक विचार के लिए एक चित्र बनाया जाता था। चित्र-लिपि की यही प्रारम्भिक अवस्था थी। वस्तुओं का चित्र तो साधारणतया जैसी वस्तु विशेष होती थी वैसा बनता था, पर भावना या सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने वाले चित्र कुछ आसाधारण होते थे। मिस्री भाषा में प्यास को प्रदर्शित करने के लिए पानी और बछड़े का चित्र एक स्थान पर बना दिया जाता था। इसी प्रकार चीनी में मैत्री के लिये दो मिले हुए हाथों का चित्र बनाया जाता था। द्वार के चित्र के समीप कान का चित्र सुनने का भाव व्यक्त करता था। रेड इंडियन लोगों में शीघ्रता का भाव व्यक्त करने के लिये पंख फैलाये पक्षी का चित्र बनाया जाता था।

(२) खंडित विचार चित्रण

विचार चित्रण की अवस्था में पूरे वाक्य का बोध एक चित्र से किया जाता था पर कुछ विकास होने पर एक शब्द के लिए अलग चित्र बनने लगे। वाक्य को व्यक्त करने के लिए कई चित्र बनाने पड़ते थे। इस अवस्था में भी शब्द की ध्वनि को व्यक्त न करके चित्र उसके भाव मात्र को व्यक्त करते थे।

इस अवस्था तक आते-आते चित्र लिपि में रूप संबंधी विकास भी हो चला था। चित्र घिसकर एक चिह्न मात्र रह गये थे, और उस चिह्न से ही अब वस्तु या भाव विशेष का बोध होता था। जैसे चीनी भाषा में आरंभ में पहाड़ के



लिए यह चित्र बनाया जाता था। बाद में घिसते घिसते इसका निम्न रूप



केवल रह गया। इसी प्रकार सभी शब्दों या चित्रों के रूप घिस गये और अब वे स्वाभाविक चित्र न रहकर प्रतीक मात्र हो गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज ही की भाँति उस समय भी उन प्रतीकों को लोगों को याद करना पड़ता रहा होगा।

(३) ध्वनि-लिपि

चित्र लिपि के अंतर्गत की उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में विचार या अर्थ की दृष्टि से चित्र, केवल वस्तु या भावों को ही व्यक्त करते थे। वस्तु या भावों के प्रतीक शब्द की ध्वनि से उनका कोई सम्बन्ध न था। कालान्तर जब व्यक्ति वाचक नामों को लिपिबद्ध करने की कोई युक्ति न सूझी तो जाति-वाचक संज्ञा के नामों को जोड़ कर उनको लिखने की पद्धति चल निकली। यहाँ एक मेक्सिको का उदाहरण लिया जा सकता है। वहाँ के एक राजा का नाम 'इत्जकोत्ल' था। वहाँ की भाषा में 'इत्ज' का अर्थ चाकू तथा 'कोत्ल' का अर्थ साँप है, अतः उनके नाम के लिए चाकू और साँप के चिह्नों या चित्रों को एक स्थान पर लिख दिया जाता था। इसी प्रकार अन्य भी व्यक्ति-वाचक नामों का अंकन प्रारंभ हुआ! ऊपर के उदाहृत 'इत्जकोल' नामक राजा के नाम में चाकू और साँप का अर्थ से वहाँ सम्बन्ध नहीं था, केवल ध्वनि के कारण इस प्रकार लिखने का आरम्भ हुआ। इसी तरह लोगों का ध्यान ध्वनि पर गया और धीरे-धीरे सभी चित्र या चित्रों से विकसित सांकेतिक चिह्न भाव-चित्र के स्थान पर ध्वनि-चित्र समझे जाने लगे।

(४) समध्वनीय शब्दों के लिए एक चिह्न

ऊपर की अवस्था के पूर्ण विकसित होने पर ध्वनि का अच्छा ज्ञान लोगों को हो गया। फल यह हुआ कि एक प्रकार के ध्वनि वाले शब्दों के लिये एक चिह्न का प्रयोग होने लगा। मिश्र में प्राचीन काल में इसका प्रचार था। चीन में अब भी इसी का प्रयोग होता है। चीनी लिपि पर विचार करते समय इस पर कुछ अधिक विचार किया जा सकेगा।

(५) पृथक-पृथक ध्वनियों का ज्ञान

धीरे-धीरे ध्वनि का ज्ञान और आगे बढ़ा। अब तक एक ध्वनि वाले शब्द चिह्न की दृष्टि से एक में मिलाए गए थे, अब शब्द में प्रयुक्त विभिन्न

ध्वनियों का विश्लेषण हुआ। लोगों को यह ज्ञान हो गया कि अमुक शब्द में अमुक-अमुक ध्वनियाँ या अक्षरें हैं।

(६) आदि-ध्वनि लिपि

अक्षर ज्ञान होने से एक भाषा-भाषी लोगों को यह भी ज्ञान हो गया कि कितनी ध्वनियों या अक्षरों की उनकी भाषा को आवश्यकता है। जिन अक्षरों की आवश्यकता थी उनसे आरम्भ होने वाले अपनी भाषा के प्रधान शब्द लिए गए। और उनका चिह्न उस ध्वनि के लिए प्रयुक्त होने लगा। उदाहरण के लिए अपनी संस्कृत भाषा को लें इसमें वीणा के लिए वीणा का चिह्न प्रयुक्त होता था। जब लोगों को अक्षर ज्ञान हुआ तो वीणा के आरम्भ में 'व' अक्षर रहने के कारण व ध्वनि के लिये चिह्न प्रयुक्त हुआ। धीरे-धीरे यह चिह्न वीणा का चिह्न न होकर 'व' हो गया। से व का विकास बहुत ही स्वाभाविक है। > > > व

इसी प्रकार अरबी के जमल (= ऊँट) का चित्र जीम (ج) के लिये माना गया। ج अक्षर में ऊँट की गर्दन अब भी स्पष्ट है। इस अवस्था से गुजरने वाली सभी भाषाओं में यही बात हुई है।

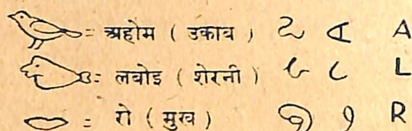
(७) अक्षर लिपि

आदि ध्वनि लिपि में वर्णित युक्तियों के आधार पर कुछ अक्षरें बनी होंगी। फिर आवश्यकता अनुसार जोड़-घटा कर उनकी संख्या भाषा के अनुकूल बनी होगी। उपर्युक्त अवस्था के बाद संभव है कुछ अक्षर किसी शब्द के चित्र के आधार पर न रखे जाकर स्वतंत्र अन्य अक्षरों को उलट फेर कर बना लिए गए हों, क्योंकि उस समय तक लोग इस योग्य हो गए होंगे। यह लिपि के विकास की अंतिम अवस्था है।

अंक और अक्षर के रूप

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं अंकों का तथा कुछ भाषाओं की कुछ अक्षरों का विकास रेखा लिपि से हुआ है, पर सभी भाषाओं की शेष अक्षरों का विकास चित्र लिपि से हुआ है। ऊपर वीणा से 'व' का विकास हम देख चुके हैं। इसी प्रकार अन्य सभी भाषाओं की अक्षरों

का भी विकास हुआ है। यहाँ अंग्रेजी के दो तीन अक्षरों का उदाहरण देना मनोरंजक होगा।



अंक और अक्षरों के रूप में विकास के कारण

(१) सभी लोग चित्रों को ठीक ठीक एक तरह नहीं बना सकते अतः धीरे-धीरे मूल चित्र से दूर हटने लगते हैं। यह परिवर्तन पीढ़ी-परिवर्तन के समय और तीव्र गति से घटित होता है, और रूप में परिवर्तन हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णता भी इसमें कार्य करती है।

(२) सुन्दर बनाने के प्रयास में भी विभिन्नता आ जाती है और धीरे-धीरे वह विभिन्नता बढ़ती चली जाती है।

(३) लोग में बिना कलम उठाए भी लिखने की प्रवृत्ति होती है ऐसी दशा में रूप और भी शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं। हिन्दी में आज तेज लिखने वाले 'क' का 'क' लिखने लगे हैं। संभव है कुछ दिन में यही रूप बँगला की भाँति अपना लिया जाय।

(४) शीघ्रता रूप-परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे बोलने में शीघ्रता ध्वनि-परिवर्तन का कारण बन जाती है।

विश्व की कुछ प्रधान लिपियाँ

(क) चीनी

प्राचीन काल में चीन में सूत्र या ग्रंथि लिपि का प्रचार था। उसे आवश्यकतानुसार न पाकर लोगों ने चित्र लिपि को अपनाया। पहले तो इससे स्थूल वस्तुओं का ही अन्कन होता था, पर शीघ्र ही सूक्ष्म भावनाओं को लिखने की भी युक्ति निकाली गई, जिसके उदारहण हम ऊपर ले चुके हैं। विश्व के अन्य राष्ट्रों की भाँति यहाँ भी पहले पूरे वाक्य के लिये एक चित्र था पर कालान्तर शब्द के लिये चित्र बनने लगे। इन चित्रों का संबंध शब्दों की ध्वनि से न होकर शब्द के भाव या अर्थ से था। यहाँ की भाव लिपि (Ideogram) विकासित होकर ध्वनि लिपि (Phonogram) न हो सकी। इस विकास के रुक जाने से अनुमानतः धीरे-धीरे ऐसी दशा आ गई होगी जब

प्रत्येक भाव (Idea) के लिए एक स्वतंत्र चित्र या चिह्न अपेक्षित हुआ होगा। इस प्रकार कई हज़ार चिह्नों की आवश्यकता पड़ती जिनकों सर्व साधारण के लिए हृदयंगम करना बहुत ही कष्टसंभव होता। इसी कठिनाई से बचने के लिए वहाँ एक चिह्न का कई अर्थों के लिये प्रयोग होने लगा। इन्हें समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द[1] कहते हैं। ये चिह्न अपने मूल रूप में चित्र थे, पर धीरे-धीरे विकसित या परिवर्तित होते होते २००० ई० पू० के लगभग तक चिह्न मात्र हो चुके थे। आज इन स्वतंत्र चिह्नों या शब्दों की संख्या लगभग ५००,है जिनसे चालिस हजार के लगभग अर्थ सुरों द्वारा प्रकट किए जाते हैं। ये ५०० भाव लिपियाँ ही चीनी भाषा की सब कुछ हैं। प्रयोग के समय अर्थ की गड़बड़ी को रोकने के लिये ऐसे शब्द पास में रख दिये जाते हैं कि अर्थ स्पष्ट हो जाय। इसके उदाहरण भाषा के वर्गीकरण के संबंध में चीनी के अन्तर्गत दिए जा चुके हैं।

चीनी में ध्वनिमूलक लिपि नहीं है। इसी कारण कोई भी विदेशी शब्द या नाम बिना वहाँ की भाषा में अनुवाद किए वहाँ नहीं लिखा जा सकता। जपानी लोगों ने चीनी लिपि को लेकर उसे ध्वनिमूलक बना लिया है। इस प्रकार उसकी विशेषताएँ भारतीय एवं यूरोपीय लिपियों की भाँति हैं।

(ख) यूरोपीय

चीन की भाँति ही मिस्र में भी बहुत पहले चित्र लिपि का विकास हो चला था। ये लोग भावलिपि पर ही चीनियों की भाँति रुक न गए बल्कि लगभग अक्षर लिपि तक विकास करते गए। उस समय फोनिशियन लोगों का व्यापार संबंध मिस्र से था। अतः फोनेशियन लोगों ने मिस्री चिह्नों को अपने अनुकूल बनाकर अपना लिया। इनकी भाषा में कुल २२ ध्वनियाँ थीं अतः इनके यहाँ २२ चिह्न हुए। ये चिह्न ठीक अक्षर न होकर कुछ पीछे की अवस्था में अर्थात कम विकसित थे। फोनेशियन चिह्नों से ही कुछ विकृत रूप में यूनानियों ने अपनी लिपि का विकास किया। आज की यूरप की सभी लिपियाँ यूनानी लिपि से विकसित हुई हैं।

---

१ समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द (Homophone या Homonym)—उन शब्दों को कहते हैं जिनका उच्चारण एक हो पर अर्थ भिन्न हों। कभी कभी ऐसा भी होता है कि उच्चारण और लिखावट दोनों दृष्टि से शब्द एक रहता है पर उसके अर्थ भिन्न होते हैं।

(ग) अरबी आदि

मिस्री लिपि को ही आर्मेनियन लोगों ने भी लिया था और फिर उनसे अरब तथा इरान की लिपियों का विकास हुआ। कुछ लोग इसी शाखा से भारत की ब्राह्मी लिपि का भी जन्म मानते हैं, पर यथार्थतः यह बात है नहीं। यह उनका मिथ्या आरोप मात्र है।

(घ सुमेरी

मेसोपटामिया के सुमेरी लोगों ने भी चित्र लिपि का विकास पहले किया था। ये लोग नरम ईंटों पर कील से खोदते थे अतः केवल सीधी रेखाएँ खींच सकते थे। बहुत जल्द ये चित्र चिह्न हो गए। बाद में इरान के पुराने लोगों ने इनको अपनाया। राजा दारा के कीलाक्षर (Cuniform) लेख इसी लिपि में मिलते हैं।

(ङ) भारतीय

भारत के प्रचीन काल के प्राप्त लेख अशोककालीन हैं। इस समय ब्राह्मी और खरोष्टी दो प्रधान लिपियाँ थीं। यूरोपीय विद्वान दोनों को ही विदेशी मानते हैं। जहाँ तक खरोष्ठी का प्रश्न है वह अवश्य ही विदेशी लिपि का भारतीयकरण है, पर ब्राह्मी के संबंध में यह आरोप निराधार है।

ब्राह्मी को अभारतीय मानने वालों का मत

इन लोगों का कहना है कि प्रचीन काल से यहाँ कोई लिपि प्रचलित नहीं थी। यदि यही बात ठीक है तो प्रश्न यह है कि भारतीयों ने इसे लिया कहाँ से। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इसका उत्तर भिन्न-भिन्न दिया है—

(१ डीके के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति असीरिया के कीलाक्षरों से संबद्ध किसी दक्षिण की सामी लिपि से हुई है।

(२ फ्रेंच विद्वान कुपेरी का विश्वास है कि चीनी लिपि से इसकी उत्पत्ति है।

(३) डॉ० आर० एन० साहा इसे कुछ अरबीसे संबन्धित मानते हैं।

(४) विल्सन, सेनार्ट आदि ग्रीक से इसे संबद्ध मानते हैं। उनके अनुसार भारतीयों ने सिकंदर के आक्रमण के समय इसे यूननियों से सीखी थी।

(५) बूहलर तथा वेबर आदि विद्वान सेमटिक के किसी रूप से इसका जन्म मानते हैं। बूहलर का मत आज सर्वमान्य माना जाता है। उनके अनुसार भारतीयों ने ६ वीं सदी ई० पू० फोनीशियन व्यापारियों से १८ अक्षर, ८ वीं सदी ई० पू० मेसोपटामियावालों से २ अक्षर, और छठी सदी ई० पू० में आर्मइक लोगों से २ अक्षर लेकर ब्राह्मी लिपि को जन्म दिया।

ब्राह्मी को भारतीय मानने वालों का मत और पूर्व मतों की परीक्षा

ब्राह्मी को भारतीय लिपि सिद्ध करने वालों में सबसे अधिक सफल हमारे भारतीय विद्वान श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा हैं। के० पी० जायसवाल ने भी इसे भारतीय लिपि माना है। विदेशी विद्वानों में कनिंघम, कोलब्रुक, फ्लीट आदि भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।

अभारतीय मानने वाले विद्वानों में अनेक मत तो इतने हास्यास्पद और अमान्य हैं कि उन पर विचार करना ही निरर्थक है। बूहलर महोदय तथा उनके टेलर आदि सहयोगियों के तर्क लोगों को मान्य हैं, अतः उनकी ही परीक्षा यहाँ की जायगी—

(१) बूहलर महोदय ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों को ही फोनिशियन से उत्पन्न मानते हैं। ऐसी दशा में पर्याप्त समानता होनी चाहिए, पर सत्य यह है कि दोनों में बहुत अंतर है। या अधिक सत्य तो यह है कि कोई साम्य ही नहीं है। खरोष्ठी के आठ अक्षर तो ठीक फोनेशियन की भाँति हैं और नव अन्य भी कुछ मिलते-जुलते हैं। केवल शेष ५ अक्षर भिन्न हैं। पर ब्राह्मी का केवल 'ग' ही कुछ समानता रखता है। एक ही देश और एक स्थान की एक ही लिपि से उधार लें और दोनों (खरोष्ठी और ब्राह्मी) में इतना अन्तर आ जाय यह समझ में नहीं आता।

(२) एरण के सिक्के पर ब्राह्मी दाहिने से बाएँ ओर को लिखी गई है। इसके आधार पर बूहलर इसे सेमटिक से संबंधित करना चाहते हैं। पर सत्य यह है कि सिक्के के ढालने में गलती से उलटा हो गया है। भारतीय एवं विदेशी कितने ही अन्य सिक्कों में भी यह उलटे लिखे जाने की गलती हुई है। अतः यह कोई आधार नहीं है।

(३) जिन कुछ अक्षरों से साम्य दिखाने का प्रयास उन लोगों ने किया वे उच्चारण की दृष्टि से एक नहीं हैं। सत्य तो यह है कि अनुकरण

उच्चारण के आधार पर ही हो सकता हैं। यदि आज हमारे पास लिपि न हो और हम रोमन लिपि लेना चाहें तो क के लिए K लेंगे पर 'क' के लिए Z लेने का तुक समझ में नहीं आता। अवश्य ही यह व्यर्थ का आरोप है।

(४) इन लोगों का कहना है कि अनुकरण करने में भारतीयों ने अक्षरों में कितने कोने निकाल दिए तथा कितने नए कोनों को बनाया, कितने ही अक्षरों को उलट दिया। यदि इस तर्क को सत्य माना जाय तो संसार की किसी भी लिपि को किसी भी लिपि का अनुकरण बहुत ही सरलता से सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि हिन्दी क से K निकलना चाहे तो

'क', गोला छोड़ देने पर 'ꝁ' और ऊपर की रेखा तिरछी कर देने पर K हो गया। पर इस तर्क को वैज्ञानिक कभी नहीं कहा जा सकता। यही बात उन लोगों के तर्क के विषय में भी ठीक है।

अंत में कहा जा सकता है कि इन लोगों के सारे तर्क व्यर्थ हैं और जैसा कि अन्य विद्वानों ने सिद्ध किया है, ब्राह्मी लिपि भारत की अपनी चीज़ है। विदेशी आक्रमणों के आधिक्य से आज प्राचीन सामग्री नष्ट हो चुकी है अतः अशोक के पूर्व इसका क्या रूप था या इसका विकास कैसे हुआ, इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता

कुछ विदेशी विद्वान मानते रहे हैं कि यहाँ ३ या ४ सदी ई० पू० के पहले लिपि नहीं थी, पर बात ऐसी नहीं है। यों तो हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो में मिली लिपियाँ कुछ विद्वानों के मत से लगभग ५००० वर्ष ई० पू० की हैं। हैदराबाद में बर्तनों पर भी २००० ई० पू० की लिपि से मिलती है, पर इसका संबंध ब्राह्मी लिपि से नहीं ज्ञात होता। ये लिपियाँ आर्यों के पहले की हैं। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि वैदिक युग में हमारे पास लिपि थी। गणक तथा दश, शत सहस्र अयुत, नियुत प्रयुत आदि की गणना बिना लिपि के संभव नहीं है। जैन और बौद्ध काल तक हमारी लिपि परंपरा काफी विकसित हो चुकी थी। लिपि के सहारे बच्चे 'अक्खरिका' खेल खेलते थे। पत्रवणा सूत्र तथा ललितविस्तर में क्रम से १८ और ६४ लिपियों का उल्लेख है। उस समय तक इतनी अधिक

लिपियाँ हो चुकी थी, यह भी लिपि-प्राचीनता का एक बड़ा प्रमाण है। पाणिनि के अष्टाध्यायी में आए 'लिपि' 'लिपिकर' शब्द भी इस ओर संकेत करते हैं। सुएनच्वांग स्वयं ६५७ पुस्तकों को चीन ले गया था। इसका आशय यह कि उस समय तक यहाँ अनेक लिपि बद्ध ग्रंथ हो चुके थे। मेंगस्थनीज ने भी जन्मपत्र एवं पंचाङ्गों का उल्लेख किया है। हमारे यहाँ बहुत पहले से व्याकरण रचना, ध्वनि-विवेचन आदि हो रहे थे। बिना लिपि के इतना सूक्ष्म विवेचन असंभव है। इन सबसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि हमारी लिपि-परंपरा अत्यन्त प्राचीन है।

खरोष्ठी लिपि

इसके नाम के संबंध में मतभेद है। डॉ प्रज़िलुस्की के अनुसार यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से खरपृष्ठी और फिर खरोष्ठी कहलाई। डा० चटर्जी के अनुसार खरोशेथ (Kharosheth) का हिब्रू में अर्थ 'लिखावट' है, उसी से ली जाने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। प्रसिद्ध चीनी कोष 'फ-युअन-चुलिन' के अनुसार भारतीय विद्वान खरोष्ठ द्वारा बनी होने के कारण इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। कुछ लोगों के अनुसार इसका सीधा अर्थ गदहे की ओष्ठवाली है। खरोष्ट्र प्रदेश की लिपि होने के कारण भी कुछ लोग इसे खरोष्ठी कहते हैं।

कुछ भी हो यह भारत की अपनी लिपि नहीं है। इरान के बादशाह डेरियस के राजत्वकाल में यह भारत आई और भारत का उत्तरी पश्चिमी भाग विशेषतः इसका क्षेत्र रहा। इसमें कुल ३२ अक्षर थे। उर्दू की भाँति दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। सामी लिपियों की ही भाँति स्वरों के लिए इसमें समुचित चिह्न न थे। संयुक्ताक्षरों की कमी थी। ३ ई० के आरंभ तक इसका लोप हो चुका था। आज इसके कुछ शिलालेख मात्र हमारे समक्ष हैं।

ब्राह्मी लिपि

ब्राह्मणों के प्रयोग में आने के कारण या विद्या को सुरक्षित रखने वाली होने के कारण इसका नाम ब्राह्मी है। कुछ लोग ब्रह्मा या किसी ब्रह्म ऋषि के नाम पर इसका नाम ब्राह्मी मानते हैं। ऊपर हम लोग इसके भारतीय या अभातीय होने पर विचार कर चुके हैं। इसके भी प्राचीन लेख अशोक-काल के ही मिलते हैं।

ब्राह्मी लिपि का विकास

४ थी शताब्दी तक संपूर्ण उत्तर भारत इसका क्षेत्र हो गया था। उसके बाद इसका एक रूप दक्षिणी भारत चला गया और इस प्रकार इसके उत्तरी और दक्षिणी दो रूप हो गए। उत्तरी में गुप्त, कुटिल, नागरी शारदा आदि और दक्षिणी में द्राविड़ प्रान्त की लिपियाँ हैं।

गुप्त राज्य के प्रभाव से पाँचवी सदी में इसका नाम **गुप्त लिपि** था छठी सदी में आकृति के कुटिल को जाने से यह **कुटिल लिपि** कहलाई। उत्तरी भारत में नवीं सदी तक इसका राज्य था। कुटिल से ही नवीं सदी में एक ओर नागरी और सुदूर उत्तर में **शारदा लिपि** का जन्म हुआ।

कश्मीरी, टाकरी आदि लिपियाँ शारदा से ही निकली। अंगद देव ने इसी अधार गुरुमुखी लिपि को जन्म दिया।

नागरी लिपि के नाम के संबन्ध में तीन चार मत हैं। कुछ लोग नागर ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण इसे नागरी मानते हैं। दूसरे तांत्रिक चिह्न 'देवनगर' के साम्य के कारण इस नाम को मानते हैं। कुछ लोग नगरों में प्रचलन के कारण भी नागरी कहलाने के पक्ष में हैं। आर० एस० शास्त्री के अनुसार प्रतिमाओं के पूर्व पूजार्थ बने 'देवनागर' यंत्रों से इसका संबन्ध है। कोई भी मत सर्व मान्य नही है। नागरी से ही बंगला, असामी, मैथिली, उड़िया, कैथी, महाजनी, राजस्थानी, नेपाली तथा गुजराती सभी का विकास हुआ है। पश्चिमी (काठियावाड, खानदेश, मैसूर आदि) तथा मध्य-देशीय (मध्यप्रदेश आदि) लिपियाँ भी इसी से निकली हैं।

दक्षिण में मद्रास की ग्रंथि लिपि भी इसकी एक शाखा है, जिससे आज की तुलू और मलयालम आदि लिपियाँ निकली हैं। इसी प्रकार तेलगू और कन्नड़ी लिपियाँ भी इसी की पुत्री हैं जो बम्बई और मद्रास तथ हैदरा-बाद में प्रचलित हैं। इससे अतिरिक्त कलिंग और तामिल आदि भी नागरी की ही आत्मजा हैं।

नागरी की पुत्री, आज को हिन्दी में प्रयुक्त देवनागरी लिपि हिन्दी के साथ स्वतंत्र भारत की राष्ट्र लिपि स्वीकार कर ली गई है। उसमें अधुनिक ध्वनि और मुद्रण की आवश्यकताओं को देखते हुए कुछ कमियाँ हैं। अतः अब आवश्यकता इस बात की है कि कम से कम सुधार करके इस लिपि को अधिक से अधिक उपयोगी और वैज्ञानिक बना लिया जाय।

दसवाँ अध्याय

व्युत्पत्ति शास्त्र

व्युत्पत्ति शास्त्र (Etymology)

जैसा कि भाषा-विज्ञान के 'अध्ययन के विभाग' शीर्षक में देखा गया है, व्युत्पत्ति शास्त्र कोई अलग विभाग नहीं है।

प्राचीन विचार और कार्य

भाषा-विज्ञान का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ होने के पूर्व भाषा-विज्ञान के नाम पर व्युत्पत्ति शास्त्र पर ही कार्य होता था। उस समय तक इस संबंध में कुछ निश्चित् सिद्धान्त तो थे नहीं। लोग अटकल से दो शब्दों के वाह्य रूप को देखकर दोनों को एक शब्द से निकला मान बैठते थे। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के शब्द नीयर (near) का अर्थ 'समीप' है, और भोजपुरी में भी 'नीअर' का अर्थ लगभग यही है। बस प्राचीन लोगों का इतना पाना था कि दोनों शब्द एक मूल के मान लिए जाते थे। ऐसे ही कितनी ही बड़ी-बड़ी पुस्तकें बनी जिनमें इन उदाहरणों के आधार पर हिब्रू से अंग्रेज़ी का या हिब्रू से ग्रीक का संबंध स्थापित किया गया। यों तो उन लोगों के ये कार्य आज व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं पर इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्व है कि उन्हीं अटकलों और असंगत बातों में भाषा-विज्ञान के शिशु ने जन्म लिया और पलता रहा।

व्युत्पत्ति शास्त्र और रूप-विचार

भाषा-विज्ञान के विकास के उपरान्त भी कुछ लोग रूप-विचार और व्युत्पत्ति शास्त्र को एक मानते रहे हैं। उनका यह विचार रहा है कि व्युत्पत्ति शास्त्र में भी किसी शब्द के जन्म से उसके रूप और उसमें आए परिवर्तनों का पता लगाया जाता है और रूप-विचार भी इससे अलग नहीं है, अतः

दोनों बहुत समीप या प्रायः एक हैं। पर जैसा कि हम आगे देखेंगे दोनों पूर्णतः भिन्न हैं।

व्युत्पत्ति शास्त्र का यथार्थ रूप

व्युत्पत्ति शास्त्र एक ऐतिहासिक विज्ञान या शास्त्र है। इसमें किसी भाषा के किसी भी शब्द के प्राचीनतम उपलब्ध रूप को पहले लेते हैं। उस रूप पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है—

(क) शब्द उसी भाषा का है तो उसका मूल क्या है ? किस धातु से किन प्रत्ययों, उपसर्गों आदि के योग से वह बना है ? और क्या उस प्राचीनतम उपलब्ध रूप में उसका धात्वर्थ सुरक्षित है या अर्थ परिवर्तन हो गया है। यदि परिवर्तन हुआ है तो उसका संभावित कारण क्या हो सकता है ?

(ख) शब्द किसी दूसरी भाषा का तो नहीं है। यदि है तो किस भाषा का है ? उस भाषा में उसका क्या अर्थ था ? नवीन भाषा में क्यों और कब लिया गया ? यहाँ आने पर उसका प्राचीन रूप और अर्थ सुरक्षित हैं या नहीं ? यदि नहीं तो ये ध्वनि, रूप तथा अर्थ संबंधी परिवर्तन क्यों हुए ?

शब्द के प्राचीनतम रूप पर इस प्रकार विचार कर लेने के पश्चात् उस समय से वर्तमान काल तक के या जब तक वह शब्द मिलें—विभिन्न रूपों को लिया जाता है। प्रयोगों के द्वारा विभिन्न कालों में उनका अर्थ निश्चित् किया जाता है। इस प्रकार शब्द के जीवन में घटित रूप, ध्वनि एवं अर्थ संबंधी सभी परिवर्तनों को अपने समक्ष रखकर उसके कारणों पर विचार करते हुए उस शब्द की ध्वनि, रूप और अर्थ प्रत्येक दृष्टि से पूरी जीवनी प्रस्तुत की जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि किसी शब्द के जन्म और संपूर्ण जीवन पर ध्वनि-विचार, रूप-विचार और अर्थ-विचार तीनों के सम्मिलित प्रयोग का नाम व्युत्पत्ति शास्त्र है।

व्युत्पत्ति शास्त्र और भ्रामक व्युत्पत्ति शास्त्र[1]
(Popular Etymology)

ध्वनि साम्य देखकर दोनों को एक समझ लेना ही भ्रामक व्युत्पत्ति है।

१. Popular का शुद्ध अनुवाद लौकिक होने के कारण कुछ लोगों

यह वाह्य साम्य कभी-कभी इतना धोखा दे देता है कि भ्रम के कारण विदेशी शब्द कुछ संबंध न होने पर भी अपने किसी शब्द से मिला लिए जाते हैं और मूलतः दोनों एक समझे जाते हैं।

ऊपर हम लोग 'नीयर' का उदाहरण ले चुके हैं। हम लोग जब मिडिल में थे तो लॉर्ड चेम्सफोर्ड को 'चिलमफोड़' कहते थे। कुछ ऐसा विश्वास भी हो गया था कि लड़कपन में पिता की चिलम फोड़ने के कारण उनका नाम चिलमफोड़ पड़ा और फिर चिलमफोड़ रोब में चेम्सफोर्ड बन गया।

इसी प्रकार अंग्रेजी कंट्री-डान्स (Jountry dance) फ्रेंच में कंट्री-डान्स (Contredanse) हो गया।

संयोग से दो भाषाओं में ऐसे बहुत से शब्द मिल जाते हैं जो वाह्य रूप तथा कुछ कुछ अर्थ में मिलते-जुलते दिखाई पड़ते हैं। पर इस आधार पर उनकी व्युत्पत्ति का अनुमान सर्वदा भ्रामक होता है। अरबी ज़ात और संस्कृत जाति, स्कैन्डिनेविया और स्कन्ध निवासी, जापान और जयप्राण, मिस्टर (Mister) और मित्र, आदि एक नहीं है, पर संस्कृत के कितने ही पक्षपातियों का ख्याल है कि ये सभी शब्द मिलने-जुलते संस्कृत शब्दों से निकले हैं।

यों तो व्युत्पत्तितः एक मूल के शब्द बाह्य रूप तथा अर्थ की दृष्टि से कुछ मिलते जुलते रहते हैं, पर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें यह समानता नहीं रहती, फिर भी वे एक मूल के होते हैं। उदाहरण के लिए—

भारोपीय* Penqe—अंग्रेजी Five (रूप बिलकुल भिन्न है)
फ्रेंच Larme— ,, Tear (,, ,, ,, ,,)
अंग्रेजी फी (Fee)—संस्कृत पशु (अर्थ और रूप दोनों भिन्न हैं)
संस्कृत उपाध्याय—मैथिली झा (,, ,, ,, ,,)

उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्युत्पत्ति शास्त्र का विषय बहुत कठिन है। तनिक भी असावधानी से व्युत्पत्ति भ्रामक व्युत्पत्ति हो जाती है। इस संबंध में

ने इसे लौकिक व्युत्पत्ति शास्त्र भी कहा है, पर लौकिक (और पारलौकिक) एक ऐसे अर्थ में रूढ़ हो गया है कि यहाँ अर्थ नहीं देता। अतः भ्रामक शब्द अधिक उपयुक्त है।

स्कीट (Skeat) ने दस नियम दिए हैं, जो इस विषय के अध्येताओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

व्युत्पत्ति शास्त्र के आधार पर किसी भाषा के समस्त शब्दों की संपूर्ण जीवनी देकर उस भाषा का बहुत सुन्दर कोष बनाया जा सकता है, जिससे भाषा के अतिरिक्त समाज संबंधी कितनी ही समस्यायों पर प्रकाश पड़ सकता है। कार्य के कठिन होने के कारण अभी तक इस दिशा में उल्लेख्य प्रयास नहीं हुए हैं, पर आशा है निकट भविष्य में विद्वान इधर ध्यान अवश्य देंगे।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

भाषा-विज्ञान का इतिहास

भाषा-विज्ञान का इतिहास

[क] भारतवर्ष

अनेक शास्त्रों और विज्ञानों की भाँति अत्यन्त प्राचीन काल से ही भाषा संबधी अध्ययन अपने देश में होता आया है। हाँ उस अध्ययन के संबंध में एक बात अवश्य हैं कि आज की भाँति वैज्ञानिक नहीं था और न तो शुद्ध आज के अर्थ में भाषा-विज्ञान का हीं था; उसका अधिकतर दर्शन हमें व्याकरण के रूप में ही होता है। केवल निरुक्त, पद-पाठ आदि कुछ में अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से शब्दों पर विचार किया गया है। सुविधा के लिए भारत में भाषा-विज्ञान के अध्ययन या इतिहास को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

क. प्राचीन

ख. आधुनिक

प्राचीन के अंतर्गत प्रागैतिहासिक काल से सोलहवीं शती के लगभग तक के अध्ययन पर विचार किया जायेगा। यह अध्ययन प्रमुखतः प्राचीन शैली का और व्याकरण के समीप या प्रायः पूर्णतः व्याकरण ही है।

आधुनिक अध्ययन का आरंभ १६ वीं सदी के मध्य से होता है। यह अध्ययन बहुत ही वैज्ञानिक और विशुद्ध रूप में भाषा-विज्ञान का है। अब हम क्रमशः एक एक को ले सकते हैं।

क. प्राचीन

अन्य देश के प्राचीन लोगों की भाँति यहाँ के भी प्राचीन लोगों में

धार्किक भावना का प्राधान्य था। उसी धार्मिक भावना से ही भाषा के अध्ययन को प्रथम प्रोत्साहन मिला, जिसका फल प्रातिशाख्यों के रूप में हमें मिलता है। पर इसके भी पूर्व ये लोग कुछ इस ओर अभिमुख हुए थे, इसका प्रामाणिक पता वेदों से मिलता है। प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के अंतिम मंडलों में है। कृष्ण-यजुर्वेद-संहिता में देवों ने देवराज इन्द्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़े में कर दीजिये। इससे स्पष्ट है कि वे इतना जानते थे कि वाक्य के खंड हो सकते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा संबंधी ज्ञान का पता चलता है, पर व्यवहार रूप में सर्व प्रथम कार्य ब्राह्मणों में मिलता है।

[१] ब्राह्मण ग्रंथ

संहिताओं के बाद की रचनाओं- का नाम ब्राह्मण ग्रंथ है। इनमें कहीं कहीं शब्दों के अर्थ सनझाने का प्रयास किया गया गया है। यद्यपि यह प्रयास बहुत कम है और खंड आदि करने की क्रिया बहुधा अनुमान पर आधारित और अशुद्ध है, (जैसे अपाप (अप+अप) को अ+पाप किया गया है।) पर इसका महत्व इसलिये है कि भाषा-विज्ञान के विश्व-इतिहास में व्याकरण (खंड-खंड करना) और धात्वर्थ तक पहुँचने का प्रथम प्रयास है। ब्राह्मण ग्रंथकारों का प्रधान लक्ष्य ध्वनि या अर्थ की ओर नहीं था, कहीं कहीं आनुषंगिक रूप से ही इस ओर उनका ध्यान गया है।

[२] पदपाठ

ब्राह्मण ग्रंथों के बाद भाषा का अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। पदपाठ में वैदिक संहिताओं को पद रूप में किया गया। इसमें संधि और समासों के आधार पर वाक्य के शब्दों को अलग किया गया, साथ ही कुछ स्वराघात पर भी विचार करना पड़ा। यह कार्य शाकल्य ऋषि का कहा जाता है।

[३] प्रातिशाख्य

कुछ दिन बाद धीरे-धीरे जनभाषा वैदिक भाषा से दूर हट गई, फल यह हुआ कि वैदिक भाषा से लोग अपरिचित होने लगे। पर वेद का प्रथानुसार पाठ आवश्यक था। और पाठ भी साधारण न होकर प्राचीन स्वराघातों पर आधारित होना चाहिये था और उसी रूप में गाकर करना अनि-

वार्य था। अन्यथा करने पर या ध्वनि संबंधी अशुद्धि होने पर दोष का भागी बनना पड़ता। ऐसी परिस्थिति में इस अशुद्धि से लोगों को बचाने के लिये ध्वनि की दृष्टि से वेदों का विशिष्ट अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार धार्मिक प्रेरणा से प्रातिशाख्यों के रूप में विश्व का प्राचीनतम वैज्ञानिक ध्वनि-अध्ययन भारतवर्ष में सम्पन्न हुआ।

उस प्राचीन परंपरा को अक्षुण्ण रखने के प्रयास में वेद की प्रतिशाखा का अध्ययन उच्चारण संबंधी विशिष्ट पदों की दृष्टि से किया गया। प्रतिशाखा के कारण इन पुस्तिकाओं का नाम प्रातिशाख्य पड़ा। इनकी संख्या एक से अधिक है। आज जो प्रातिशाख्य मिलते हैं वे ये ही नहीं हैं, पर इन्हीं प्राचीन प्रातिशाख्यों पर आधारित अवश्य हैं। आज के उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि के बाद के माने जाते हैं।

प्रातिशाख्यों में किया गया कार्य

क. प्रातिशाख्यों का मूल उद्देश्य अपनी अपनी संहिताओं का परंपरागत उच्चारण सुरक्षित रखना था, अतः स्वराघात, मात्राकाल, तथा उच्चारण संबंधी अन्य नियमों के अध्ययन का कार्य इनमें हुआ।

ख. संस्कृत ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया। यह वर्गीकरणइतना प्रौढ़ था कि आज तक लगभग वही वर्गीकरण प्रचलित है।

ग. पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात नाम के चार विभाग किए गए।

घ. इन सबके अतिरिक्त विद्वानों का अनुमान है कि पदों के आरंभिक विश्लेषण तथा संज्ञा के सामान्य लक्षणों पर भी प्रातिशाख्यों में प्रकाश डाला गया रहा होगा। साथ ही धातु तक पहुँचने के प्रयास की भी कुछ सम्भावना है।

मूल प्रतिशाख्यों के न मिलने के कारण उपर्युक्त बातें विद्वानों के अनुमान पर ही आधारित हैं।

[४] निघंटु

वैदिक भाषा के अधिक अपरिचित हो जाने पर अर्थ की दृष्टि से भी वेदों के अध्ययन की आवश्यकता हुई। इसी दृष्टिकोण से वैदिक शब्दों के लोगों ने संग्रहग्रंथ बनाये। इन संग्रहों का ही नाम निगंटु है। इन्हें वैदिक

कोष कहा जा सकता है, यद्यपि अर्थ नहीं दिया गया है। आज तो केवल एक ही निघंटु उपलब्ध है, पर ऐसी आशा की जाती है कि उस समय बहुत से निघंटु बने। मैकडानेल के अनुसार यास्क के समय में ऐसे पाँच निघंटु थे।

उपलब्ध निघंटु और उसका स्वरूप

वह निघंटु जो आज उपलब्ध है और जिस पर यास्क का कार्य आधारित है, पाँच अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम तीन अध्यायों में, जिनमें क्रम से १७, २२ तथा ३० खंड हैं, शब्दां को पर्यायक्रम से सजाया गया है। इस कारण अर्थ न देने पर भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। चौथा अध्याय ३ खंडों का है। इसमें वेद के कुछ अत्यन्त क्लिष्ट शब्द रखे गये हैं। पाँचवाँ अध्याय वैदिक देवताओं के नामों का है। इसमें ६ खंड हैं।

[५] यास्क (८ वीं सदी ई० पू०)

इनके समय के विषय में मतभेद है। 'अपार्ण' आदि कुछ शब्दां के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें पाणिनि का परवर्ती मानते थे पर अब यह अशुद्ध सिद्ध हो चुका है। यास्क का समय पाणिनि से कम से कम १०० वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिये।

यास्क का निरुक्त

निरुक्त निघंटु की व्याख्या है। अर्थ-विचार का यह विश्व में प्राचीनतम विवेचन है। इसमें निघंटु के प्रत्येक शब्द को अलग अलग लेकर उसकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया गया है। निरुक्त के लेखक के व्यक्तित्व की महानता सबसे बड़ी इस बात मे है कि, अस्पष्ट शब्दों के साथ दुराग्रह न करके उसने यह स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है कि वे शब्द उसके लिए अस्पष्ट हैं।

कुछ विद्वानों के अनुवार निघंटुओं की भाँति ही निरुक्त-ग्रंथ भी एक से अधिक थे जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध यास्क का था, जो आज उपलब्ध है।

निरुक्त की प्रधान बातें

क. इसमें निघंटु के शब्दों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयास

है। साथ ही, प्रयोग एवं अर्थ की स्पष्टता के लिए वैदिक संहिताओं से शब्दों के प्रयोग भी दे दिए गए हैं।

ख. निरुक्त में अनेक पूर्ववर्ती तथा समवर्ती व्याकरण संप्रदायो एवं वैयाकरणों के नाम[1] एवं उद्धरण दिए गए हैं, जिनमें उस समय तक भाषा सम्बन्धी अध्ययन के प्रचार एवं अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है।

ग. शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक को दृष्टि डालनी पड़ी है, जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के सम्बन्ध में बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं।

घ. शब्दों पर विचार के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन, और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा के संबंध में इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय भी इसी के लेखक को है।

ङ. निरुक्त का ग्रंथकार वाणी के अतिरिक्त अन्य अवयव-संकेतों को भी भाषा ही मानता है; यद्यपि, अव्यावहारिक एवं अस्पष्ट होने के कारण उनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण नहीं मानता।

च. कुछ शब्दों के नामकरण को लेकर बहुत वैज्ञानिक और सुन्दर शंकाएं की गई हैं, जिनसे भाषा-विज्ञान के अनेक छोटे-मोटे प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है। तृण को लेकर कहा गया है कि √तृ = चुभना, अतः चुभने वाला होने के कारण तृण को तृण की संज्ञा दी गई है। पर यदि यही बात से तो सूई और भाले को भी तृण क्यों नहीं कहा गया है? या सीधा खड़ा होने के कारण 'स्थूण' नाम है तो उसे और कोई (एक स्थान पर रहने वाला, या थामने वाला आदि) नाम क्यों नहीं दिया गया। ऐसे विवेचनों से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

छ. शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण बतलाए गए हैं—१. शब्द का अर्थ किसी की इच्छा पर पूर्णतः आधारित न होकर सिद्ध और स्थिर रहता है, जिससे श्रोता और वक्ता दोनों में एक भावना उत्पन्न करता है। २. कम परिश्रम में इसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ का बोध होता है।

ज. पाणिनि जिस धातु सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में सफल हुए

१. आग्रयण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, गालव, चर्मशिरा, मनु, शाकटायन, तथा शाकल्य आदि।

थे उसका मूल यहीं है। निरुक्तकार का भी कम या बेश, सभी शब्दों को कुछ मूलों या धातुओं पर आधारित सिद्ध करने का प्रयास है।

झ. विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी कुछ संकेत किया गया है।

ञ. प्रातिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात का संकेत है, पर यहाँ इसका कुछ विस्तृत विवेचन है। (पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च)।

ट. संज्ञा और क्रिया तथा कृदन्त और तद्धित के प्रत्यय भेदों का भी अस्पष्ट उल्लेख मिलता है।

ठ. निरुक्तकार का प्रयास ब्राह्मण के अर्थों से अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक है, तथा विरोधी मतों के खंडन आदि के कारण तर्कपूर्ण भी है।

[६] आपिशलि तथा काशकृत्स्न

यास्क और पाणिनि के बीच में भाषा के अध्ययन का पर्याप्त विकास हुआ। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुव्रीहि, कृत, तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इससे आशय यह निकलता है कि उस समय तक भाषा के अध्ययन का इतना विकास हो चुका था कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता नहीं समझते थे।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा प्रमाण यह भी है कि यास्क के बाद सीधे पाणिनि इतने उच्चकोटि के व्याकरण की रचना नहीं कर पाते, यदि उसके पीछे एक परंपरा की साधना न रहती।

पाणिनि के पूर्व के व्याकरण-सम्प्रदायों के जनक आपिशलि तथा काशकृत्स्न माने जाते हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों को ऐंद्र सम्प्रदाय का मानते हैं।

जयादित्य और वामन की काशिका में आपिशलि का एक नियम मिलता है। पाणिनि ने भी दस वैयाकरणों में आपिशलि का नाम लिया है। कैय्यट ने आपिशलि और काशकृत्स्न दोनों ही के उद्धरण दिये हैं। काशिका में काशकृत्स्न के व्याकरण के सम्बन्ध में मिलता है कि वह सूत्रों में था और उसमें तीन अध्याय थे। (त्रिकं काशकृत्स्नम्)। इसी प्रकार

की कुछ अन्य दो एक बातों के अतिरिक्त इन दोनों के विषय में कुछ अधिक नही मिलता।

[७] ऐन्द्र सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोई इन्द्र ऋषि माने जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ये ही प्रथम वैयाकरण हैं। यह संप्रदाय पाणिनि के पूर्व का है और कुछ लोगों के अनुसार सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। पाणिनि में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है प्राचीन होते हुए भी पाणिनि के समय तक इसमें कोई प्रसिद्ध विद्वान नहीं हुआ था। पाणिनि के बाद के वैयाकरण कात्यायन इसी सम्प्रदाय के हैं। मूल प्रातिशाख्यों पर, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, आधारित वर्तमान प्रातिशाख्य भी इसी सम्प्रदाय द्वारा निर्मित हुए थे।

कुछ लोग कातंत्र सम्प्रदाय भी इसी का नाम बतलाते हैं। ऐन्द्र सम्प्रदाय के सिद्धांत पाणिनि से कम विकसित हैं, पर इसकी कुछ बातें उनसे अधिक सुबोध हैं।

ऐन्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव और प्रचार दक्षिण में अधिक था। डॉ० बर्नेल के अनुसार दक्षिण के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम' पूर्णतः इसी आधार पर बना है।

सामग्री के अभाव के कारण इस सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्व के जीवन पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका है।

[८] पाणिनि

पाणिनि को यदि विश्व का सबसे बड़ा वैयाकरण माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दुःख यह है कि इतने बड़े व्यक्ति के समय एवं जीवन के सम्बन्ध में हमें अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है।

इनका स्थान लाहौर के पास शालातुर बतलाया जाता है। महाभाष्य-कार पतंजलि ने इन्हें एक स्थान पर 'दाक्षीपुत्र' कहा है, इसी आधार पर इनके माँ का नाम दाक्षी कहा जाता है। पंचतन्त्र में कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि इनकी मृत्यु सिंह से हुई थी। इससे अधिक इनके विषय में सप्रमाण कुछ नहीं कहा जा सकता।

पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पीटर्सन आदि कुछ विद्वान कवि पाणिनि को इनसे मिलाकर सुभाषितावली तथा कुछ अन्य ग्रंथों के आधार पर इनका समय ईसा के आरंभिक वर्षों के समीप मानते हैं। मैक्समूलर तथा वेबर आदि विद्वान इन्हें ३५० ई० पू० के बाद का मानते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि में यवन शब्द मिलता है और यह शब्द सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा। भंडारकर और गोल्डस्टकर ने ५०० ई० पू० के भी पूर्व इनका समय निश्चित किया है। सत्यव्रत आदि कुछ विद्वान दूसरे छोर पर हैं। उनके अनुसार पाणिनि का काल २४०० ई० पू० है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक मत हैं।

डा० बेलवेकर ने सभी महत्वपूर्ण मतों की परीक्षा करते हुए पाणिनि का समय ७०० ई० पू० के समीप माना है। आजकल यही समय मान्य समझा जाता है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रति अध्याय में चार पाद हैं, और प्रति पाद में अनेक सूत्र हैं। सब मिलाकर सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र हैं।

पूरी पुस्तक १४ सूत्रों (अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच् हयवरट् लण् ञमङणनम् झभञ् घढधष् जबगडदश् खफछठथचटतव् कपय् शषसर् हल्), जिन्हें माहेश्वर सूत्र भी कहते हैं, पर आधारित है। संक्षेप में कहने के लिए, प्रत्याहार, गण आदि का सहारा लिया गया है।

अष्टाध्यायी की विशेषताएँ

१. इन १४ सूत्रों के आधार पर संस्कृत भाषा जैसी जटिल और विस्तृत भाषा को थोड़े से पृष्ठों में इस खूबी से पाणिनि ने बाँधा है कि आज तक लगभग ढाई हजार वर्ष बाद भी भाषा टस से मस न हो सकी। इस बीच में अनेक नवीन वैयाकरण आए पर उसके सामने किसी की दाल न गल सकी। बंधन अटूट तो है ही साथ ही एक बड़ी बात यह भी है कि यह कार्य इतने संक्षेप में प्रत्याहार, आदि के सहारे किया गया है कि देखने वाला आश्चर्यचकित रह जाता है।

२. सभी शब्दों को कुछ एकाक्षर धातुओं पर आधारित किया हैं। ये धातुएँ किसी क्रिया का भाव प्रकट करती हैं। इन्हीं से उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि की सहायता से अनेकानेक शब्द बना लिए जाते हैं।

३. भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ है, इसका भी प्रथम उल्लेख यहीं है। भाषा में इनके अनुसार वाक्य ही प्रधान है।

४. यास्क के नाम आख्यात आदि चार भेदों को न स्वीकार करके पाणिनि ने शब्द को सुबन्त, तिङन्त तथा अव्यय, इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया। आज तक विश्व में शब्दों के जितने भी विभाजन किए गए हैं उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। पश्चिम के ८ भेद (eisght parts of speech) भी इसके समक्ष नहीं टिकते।

५. ध्वनियों का, स्थान और प्रयत्न के अनुसार वैज्ञानिक वर्गीकरण जो इसमें है ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

६. लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

संक्षेप में अष्टाध्यायी में अर्थ, ध्वनि और तुलनात्मक व्याकरण की सामग्री समय को देखते हुए आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाली है।

पाणिनि के अन्य ग्रंथ

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त इसी के सहायक ग्रंथ के रूप में पाणिनि ने कुछ अन्य पुस्तकों की भी रचना की। इन ग्रंथों में प्रथम स्थान धातुपाठ का है। इसमें धातुओं की सूची है। कहना न होगा कि इसमें संस्कृत के सभी शब्दों को इन्हीं कुछ धातुओं पर आधारित माना गया है। धातुओं को दस गणों में भी विभाजित किया गया है। पाणिनि का दूसरा ग्रंथ गणों से सम्बन्धित गणपाठ है। एक गण में आये धातुओं का रूप एक प्रकार से चलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार गणपाठ का कुछ ही भाग पाणिनि द्वारा रचित है। तीसरा ग्रथ उणादिसूत्र है। इसे कुछ विद्वान् शाकटायन की रचना मानते हैं, पर इसके पारिभाषिक शब्दों (उदात्त, उपधा, लोप) को देखने से यह भी पाणिनि का ही ज्ञात होता है। साथ ही इसके विरुद्ध प्रमाण भी काफी मिलते हैं। आशय यह है कि तीसरे ग्रंथ के सम्बन्ध में विश्वास के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

पाणिनि का प्रभाव

प्रभाव के सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि इनके बाद अधिकतर विद्वान चाहें वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना, प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी आदि में लगे रहे। यदि कुछ लोगों ने स्वतन्त्र ग्रंथ लिखने का प्रयास भी किया तो कार्य इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उसका नाम काल-कवलित होने से बच सके।

आज जब हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए पारिभाषिक शब्द बनाने बैठते हैं तो आज २५०० वर्ष बाद भी हमारी दृष्टि परिपक्व शब्द पाने के लिये उसी ऋषि पर जाती है। प्रभाव की पराकाष्ठा इससे अधिक हो ही क्या सकती है?

[६] कात्यायन

कथा सरित्सागर कात्यायन को पाणिनि का समकालीन एवं पाणिनि से आयु में बड़ा बतलाता है जो असम्भव है। इनके कार्य को देते हुए इनका समय पाणिनि से दो तीन सदी बाद का होना चाहिये। अर्थात् यदि पाणिनि आठवीं सदी ई० पू० के लगभग के हैं तो कात्यायन ५ वीं सदी ई० प० के इनको ऐन्द्र सम्प्रदाय का कहा जाता है। पतंजलि इनको दक्षिणी बतलाते हैं। हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि ऐन्द्र सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दक्षिण में ही था।

कात्यायन का वार्तिक

दो तीन सौ वर्ष के अंतर के कारण भाषा में यथेष्ट विकास हो गया था, अतः पाणिनि के कुछ सूत्र समय के प्रतिकूल हो गए थे। इन सूत्रों को ठीक करने के लिये कात्यायन ने अपना वार्तिक लिखा। वार्तिक के सूत्र भी अष्टाध्यायी की भाँति ही हैं।

सब मिलाकर चार हजार सूत्रों में से वार्तिक में १५०० सूत्र लिए गए हैं, और उनका दोष दिखलाते हुए लेखक ने सूत्र में परिवर्तन करके उन्हें फिर से लिखा है। उदाहरणार्थ कात्यायन ने पाणिनि के 'अदर्शनं लोपः' सूत्र को लेकर 'वर्णस्याऽदर्शनं लोपः' कर दिया है। पतंजलि के अनुसार कात्यायन ने अनेक स्थलों पर पाणिनि को समझने में अशुद्धि की है।

वार्तिक का कुछ अंश गद्य और कुछ पद्य में है। पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों में भी कुछ परिवर्तन कात्यायन ने किया है।

सब मिलाकर इसमें चार हज़ार वार्तिक हैं।

वार्तिक का महत्व

यों तो अन्य सम्प्रदाय का होने के कारण कात्यायन अपनी आलोचना में कहीं कहीं सीमा पार कर गये हैं, पर जैसा कि ऊपर कहा गया है भाषा के परिवर्तन के कारण ही उस पर विचार करना उन्होंने आरम्भ किया, अतः अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए और उसके कुछ पक्षों का समझने के लिये यह बहुत ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

[१०] पतंजलि

इनका समय पहले विद्वान ई० के आरम्भ में मानते रहे हैं, पर डॉ० भंडारकर के अकथ परिश्रम के फलस्वरूप अब १५० ई० पू० माना जाने लगा है। पतंजलि अपनी अप्रतिम शैली के लिए संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पतंजलि का महाभाष्य

महाभाष्य अष्टाध्यायी की भाँति ही ८ अध्यायों में बँटा है। प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं, और प्रत्येक पाद कुछ आह्निकों में विभाजित है।

महाभाष्य प्रमुखतः दो ध्येयों को समक्ष रख कर लिया गया है—

१. कात्यायन ने पाणिनि की जो आलोचना की थी, उसका उत्तर देने के लिये, तथा

२. पाणिनि के उन सूत्रों में सुधार करने के लिए जो समय व्यतीत होने के कारण अनुपयुक्त हो गये थे।

कात्यायन के आक्षेपों का उत्तर देने में पतंजलि पूर्णतः सफल हुए हैं। साथ ही अपने दूसरे ध्येय में भी इनकी सफलता कम नहीं है।

इन्होंने अपने नियमों को इष्टि की संज्ञा दी है।

महाभाष्य का महत्व

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त महाभाष्य का महत्व भाषा संबंधी कुछ विवेचनाओं के लिए ही अधिक है। इसमें भाषा का दार्शनिक विवेचन बहुत ही सुन्दर है। ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध, वाक्य के विभिन्न भाग, तथा ध्वनि की परिभाषा आदि पर भी वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है।

मुनित्रय

पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत व्याकरण के मुनित्रय की संज्ञा दी गई है। सचमुच संस्कृत व्याकरण को उच्चतम बिंदु पर पहुँचाने में ये ही लोग सफल हुए हैं।

[११] पाणिनि शाखा और उसके अन्य वैयाकरण

पाणिनि-शाखा सच पूछा जाय तो पाणिनि के कुछ पहले से आरम्भ हुई होगी। पाणिनि के अप्रतिम कार्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी परम्परा की साधना उसमें अवश्य सन्निहित है। वह एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। हाँ इसका नामकरण संस्कार पाणिनि के ही नाम पर हुआ है।

व्याकरण के मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि) इस शाखा के प्रधान आचार्य हैं। इन तीनों में ही मौलिकता का अंश पर्याप्त है, पर इनके पश्चात् पाणिनि शाखा में कोई भी ऐसा विद्वान न हो सका जो ऐसी प्रतिभा का हो। सभी लोगों ने या तो इसी पर टीकाएँ लिखीं या समय को देखते हुए पढ़ने और समझने की सुविधा के लिये नवीन क्रम दिया। यहाँ संक्षेप में उन पर अलग-अलग विचार कर लेना उचित होगा।

[अ] टीकाकार

संस्कृत में धीरे धीरे कुछ परिवर्तन हो रहा था। उन परिवर्तनों को देखते हुए टीकाकारों ने टीकाएँ की। इस प्रकार ये टीकाएँ उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी गईं।

(क) जयादित्य तथा वामन (७वीं सदी पूर्वार्द्ध)

इन लोगों की लिखी टीका 'काशिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें भी अष्टाध्यायी की भाँति ८ अध्याय हैं, जिनमें प्रथम ५ जयादित्य विरचित और शेष ३ वामन द्वारा लिखे गये हैं।

काशिका में पाणिनि के सूत्रों को पर्याप्त उदाहरणों के साथ बड़ी सुबोधता से समझाया गया है। प्राचीन वैयाकरणों के कुछ उदाहरण भी इसमें मिलते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अमूल्य हैं।

(ख) जिनेन्द्र बुद्धि (८वीं सदी पूर्वार्द्ध)

जिनेन्द्र ने उपर्युक्त काशिका पर एक टीका लिखी, जिसका नाम काशिका-न्यास या काशिका-विवरण-पंजिका है। जिनेन्द्र बौद्ध थे। इन्होंने

भी सामयिक परिवर्तनों पर ही विशेष ध्यान रखा है। इस न्यास की अभी तक एक भी पूर्ण प्रति उपलब्ध न हो सकी है।

(ग) हरदत्त (१२ वीं सदी)

इनका ग्रंथ पदमंजरी भी काशिका की ही एक सुन्दर टीका है। हरदत्त दक्षिणी थे और सम्भवतः तेलगू साहित्य से भी इनका परिचय था, क्योंकि एक उदाहरण 'कूचिमंची' उन्होंने उस भाषा का दिया है।

(घ) भर्तृहरि (७ वीं सदी)

शृंगार, नीति और वैराग्य शतकों के रचयिता ही ये वैयाकरण भर्तृहरि थे, यह नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने एक महाभाष्य की टीका लिखी थी, जिसमें तीन ही पाद हो पाये थे। सम्भवतः इसके बाद उनका देहान्त हो गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यप्रदीप' है। इसमें व्याकरण के दर्शन पक्ष का बहुत सुन्दर विवेचन है। पुस्तक तीन खंडों में बँटी है, जिनके नाम क्रमशः आगम या ब्रह्मखंड, वाक्यखंड और प्रकीर्ण या पद-खंड हैं। द्वितीय खंड के अंत में इसमें कुछ व्याकरणकारों के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री भी दी गई है।

(ङ) कय्यट (११वीं सदी)

कय्यट कश्मीरी थे। इनका ग्रंथ महाभाष्य प्रदीप है। जैसा कि लेखक ने स्वयं भूमिका में कहा है, इनका पथ-प्रदर्शक भर्तृहरि का वाक्यप्रदीप है। महाभाष्य के विवेचन में कय्यट बहुत ही सफल हुए हैं। इनमें भी तात्विक पक्ष की प्रधानता हैं।

कय्यट के प्रदीप के टीकाकारों में नागोजि भट्ट, नारायण और ईश्वरानन्द प्रधान हैं। विशेषतः नागोजि भट्ट का प्रदीपोद्योत बहुत ही सुन्दर और गम्भीर है। इनके अन्य ग्रंथों परिभाषेन्दुशेखर तथा वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषा में दूसरा, भर्तृहरि और कय्यट की भाँति ही तात्त्विक विवेचन का सुन्दर ग्रंथ है।

नागोजि का व्यक्तित्व बहुत ही अलौकिक था। विवाहित होने पर भी आप आजीवन ब्रह्मचारी रहे और अपनी पुस्तकों को ही अपनी सन्तान समझते रहे।

कय्यट के तीनों ही टीकाकारों का समय १६ वीं सदी है।

(आ) कौमुदीकार

मुसलमानों के राज्य-स्थापन के बाद देश की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। वातावरण विदेशी सा बन गया, अतः अष्टाध्यायी को सुबोध बनाने के लिए नए क्रम से रखने की आवश्यकता थी। कौमुदियों के लिखे जाने का एक और कारण यह भी था कि टीका जितनी संभव थी हो चुकी थी। अब उस क्षेत्र में रिक्त स्थान नहीं था। तीसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरण पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे जा चुके थे कि उनको सुबोध बनाने के लिये नवीन क्रम की आवश्यकता थी। प्रधान कौमुदीकार निम्न हैं।

(क) विमल सरस्वती (१४ वीं सदी)

इनके ग्रन्थ का नाम रूपमाला है। इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय का क्रम दिया। पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को और उसके बाद स्वर, प्रकृतिभाव, व्यंजन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा छः भागों में सुबन्त ; तथा स्त्री प्रत्यय और कारकों को स्थान दिया। अन्त में कृत्, तद्धित और समास के प्रकरणों को रखा।

रूपमाला में आख्यान का प्रकरण बहुत ही विस्तार से है। प्रत्येक लकार पर अलग शीर्षक में विचार किया गया है। अंत में लकारार्थ-माला के रूप में एक परिशिष्ट भी है। रूपमाला की शैली बहुत ही सुन्दर है। विशेषतः विषयों का क्रम बहुत ही समीचीन है।

(ख) रामचन्द्र (१५ वीं सदी)

ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनकी पुस्तक प्रक्रिया-कौमुदी है। १६ वीं सदी में प्रकिया कौमुदी पर कई टीकाएँ लिखी गई जिनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध विट्ठलाचार्य की है। टीका का नाम 'प्रसाद' है। दूसरी शेष कृष्ण की 'प्रक्रियाप्रकाश' है। इसके अतिरिक्त 'सार', 'अमृतसृति' तथा 'व्याकृति' आदि भी हैं पर इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(ग) भट्टोजि दीक्षित (१७ वीं प्रथम चरण)

इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिद्धान्त कौमुदी' है। इसकी महत्ता इतने से ही सिद्ध हो सकती है कि इसके समक्ष लोग अष्टाध्यायी को भी भूल गए। आज भी अधिकतर विद्यार्थी इसी को पढ़ते हैं।

भट्टोजि ने रामचन्द्र की प्रक्रिया कौमुदी तथा हेमचन्द्र के शब्दा-

नुशासन से अपनी कौमुदी बनाने में विशेष सहायता ली है। आपने स्वयं अपने ग्रन्थ पर 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की टीका लिखी। फिर उसका एक छोटा रूप 'बाल मनोरमा' भी बनाया।

आपने पाणिनि के धातु पाठ, तथा अष्टाध्यायी पर भी टीकाएँ लिखीं। दूसरी टीका अभाग्यवश अपूर्ण है।

भट्टोजि की पौढ-मनोरमा पर जगन्नाथ और नागेश आदि ने टीकाएँ लिखीं। इसके बाद विहारी की सतसई की भाँति इसकी अनेक टीकाएँ लिखीं गई।

(घ) बरदराज (१८ वीं सदी)

विशेषतः विद्यार्थी वर्ग में आपका नाम स्मरणीय है। बरदराज ने सिद्धान्त कौमुदी के मध्य, लघु और सार तीन संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किए। इनके इन तीन संस्करणों पर भी टीका ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन टीकाकारों में रामशर्मा और जयकृष्ण प्रसिद्ध हैं।

[१२] व्याकरण की पाणिनीतर शाखाएँ

ब्राह्मण-कर्त्ताओं को भाषा-विचारक के रूप में न माना जाय तो शाकटायन, प्रातिशाख्य कर्ता (१००० ई० पू०), यास्क (८ वीं सदी ई० पू०), आपिशालि तथा काशकृत्स्न (७ वीं सदी) आदि पूर्व पाणिनि शाखा के वैयाकरण थे। इनके वाद पाणिनि शाखा आई जिनमें पाणिनि से लेकर बरदराज का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन दो के अतिरिक्त भी कुछ शाखाएँ हैं जिनमें से प्रसिद्ध शाखाओं पर हम यहाँ संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

(क) चान्द्र शाखा

इस शाखा का प्रथम उल्लेख भर्तृहरि के वाक्य-प्रदीप और अंतिम मेघदूत की माल्लिनाथ कृत टीका में मिलता है। इस शाखा के अधिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। डॉ० बूहलर और डॉ० लीबिक के श्रम से इसके संबन्ध में कुछ बातें ज्ञात हुई हैं। इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन हैं जिनका समय ५ वी सदी के लगभग है। इन्होंने अपना व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के व्याकरण से अधिक सुधरा और संक्षेप में लिखा। वैदिक व्याकरण और स्वराघात के विषय में कुछ पाणिनि के नियमों को परिवर्तित कर दिया। पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों

की संख्या को घटाकर १३ कर दी। 'हयवरट्' और 'लण्', इन सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र' हयवरलण्। कुछ प्रत्याहारों को निकालकर फिर से बनाया। सूत्रों को भी घटा कर लगभग ३१०० कर दिया। चन्द्रगोमिन की मौलिक और प्रधान देन ३५ सूत्रों की है। इनके व्याकरण में केवल छः अध्याय हैं। व्याकरण को असंज्ञक कहा गया है। इसके अतिरिक्त चन्द्र-गोमिन ने उणादि सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ आदि भी लिखा।

इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष हुआ क्योंकि चन्द्र गोमिन् बौद्ध थे।

इस शाखा में और भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे पर उनका पता नहीं चलता। १३ वीं सदी में एक ग्रंथ 'बालाव बोध' अवश्य लंका के एक बौद्ध पंडित काश्यप द्वारा लिखा गया जो चन्द्रगोमिन के ही ग्रन्थ का एक छोटा संस्करण मात्र है।

(ख) जैनेन्द्र शाखा

जिस प्रकार चान्द्र शाखा पूर्णतः बौद्धों की थी, जैनेन्द्र शाखा जैनों की थी। इसके प्रथम के वैयाकरण अंतिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस शाखा का भी आरंभ चान्द्र शाखा के आरंभ के समय ही हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण हमें मिलते हैं। छोटे में ३००० सूत्र और बड़े में ३७०० है। इनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। पाणिनि और कात्यायन से अधिकतर बातें ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। इसके रचयिता देवनन्दी या पूज्यपाद हैं। धार्मिक कट्टरता इनमें इतनी है किसी अन्य धर्मावलंबी वैयाकरणों का आभार नहीं स्वीकार किया है।

अभयनन्दी (८ वीं सदी) और सोमदेव की इस पर दो टीकाएँ केवल मिलती हैं। पंचवस्तु नाम से एक आरंभ करने वालों के लिये इसका नवीन संस्करण भी मिलता है।

इस शाखा के विषय में और कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

(ग) शाकटायन शाखा

यह शाखा भी जैनों की ही है। इसके प्रधान वैयाकरण शाकटायन (८ वीं सदी) हैं, दयापाल (१० वीं सदी), प्रभाचन्द्र तथा अभयचन्द्र (१४ वीं सदी) हैं। इनका प्रथम और प्रधान ग्रंथ शाकटायन शब्दा-

नुशासन है। पाणिनि, चन्द्रगोमिन् और पूज्यपाद से इस व्याकरण में अधिक लिया गया है। इसमें चार चर पादों के चार अध्याय हैं और लगभग ३२०० सूत्र हैं। क्रम कौमुदियों की भाँति है।

शाकटायन के ही लिखे पाणिनि के आधार पर उन्हीं नामों के धातु-पाठ, गण पाठ आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस शाखा में हैं।

इस शाखा में भी टीकाकारों और कौमुदीकारों के दो युग आए हैं। टीकाओं में न्यास और चिन्तामणि प्रसिद्ध हैं। कौमुदियों में प्रक्रिया-संग्रह मुख्य है।

हेमचन्द्र की शाखा के कारण यह शाखा लुप्त हो गई।

(घ) हेमचंद्र शाखा

पाणिनि शाखा के बाद प्रचार की दृष्टि से इसी शाखा का नाम आता है। इसके सूत्रपातकर्ता हेमचन्द्र (१०८८ ई०—११७२ ई०) एक जैन साधु थे। गुजरात के इतिहास में भी इनका हाथ है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक शब्दानुशासन है जिसका पूरा नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इसमें भी ८ अध्याय और ३२ पाद हैं। सूत्रों की संख्या ४५०० है। इनमें लगभग ११०० सूत्र अंतिम अध्याय में हैं जिसमें उस समय की जन भाषा प्राकृतों का वर्णन है। इन्होंने संक्षेप में अधिक से अधिक कहने का प्रयास किया है। शाकटायन के शब्दानुशासन की नकल भी इसमें बहुत है।

हेमचंद्र ने अपने शब्दानुशासन पर 'शब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति नामक टीका भी लिखी। यह टीका बहुत ही विवेचनापूर्ण है। इनके द्वारा लिखे कुछ अन्य ग्रंथ भी कहे जाते हैं जिनमें पाणिनि की भाँति, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा गण पाठ आदि भी हैं।

हेमचंद्र पर लिखी गई टीकाओं में 'बृहद्वृत्ति-ढुंढिका' प्रसिद्ध है, पर इसकी पूरी पोथी नहीं मिलती। इसके लेखक के विषय में भी अनिश्चय है। दूसरी प्रसिद्ध टीका देवेन्द्र सूरी की 'हैमलघुन्यास' है।

टीकाओं के अतिरिक्त 'हैमलघु प्रक्रिया' आदि कौमुदियाँ भी प्रथा-नुसार बनाई गईं।

१५ वीं सदी के बाद यह शाखा भी शांत हो गई।

(ङ) कातंत्र शाखा[1]

कातंत्र का शाब्दिक अर्थ संक्षिप्त संस्करण है। यह व्याकरण आरंभ करने वालों के लिये पाणिनि के आधार पर बनाया गया था। मूलत: यह कोई स्वतंत्र शाखा नहीं थी। इसकी रचना सर्वसाधारण के लाभ के लिए की गई थी। विशेषतः जब कि लोगों को प्राकृति के माध्यम से संस्कृत सीखनी थी। इसमें १४०० सूत्र थे।

इसके आरंभ के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक बार एक दक्षिणी राजा शातवाहन ने जलक्रीड़ा करते समय अपनी रानी के 'मोदकं देहि राजन्' कहने पर उसे कुछ मोदक (मिठाई) दिया, फिर जब अपनी गलती ज्ञात हुई तो अपने पंडित शर्ववर्मन को संस्कृत जानने के लिये एक विशिष्ट व्याकरण रचने की आज्ञा दी। उसने भगवान कार्तिकेय या कुमार की सहायता से इस संक्षिप्त संस्करण को तैयार किया। इसी लिये इसे कौमार व्याकरण भी कहते हैं। इसी से संबद्ध एक अन्य आधार पर इसका नाम कालाप शाखा भी है।

इसका आरम्भ दूसरी सदी से है। ७ वीं सदी के लगभग इसका काश्मीर में प्रचार हुआ। इसके प्रथम टीकाकार दुर्गसिंह (६ वीं सदी) हैं। आज के उपलब्ध पाठों में प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य है।

इसके प्रसिद्ध वैयाकरण जगद्धर, छिछुभट्ट तथा महादेव आर्य हैं। १५ वीं सदी से इसका प्रचार बंगाल में हो गया, और बहुत सी टीकाएँ लिखीं गईं।

आज भी काश्मीर में प्रचलित व्याकरण कातंत्र के आधार पर ही बने हैं।

(च) सारस्वत शाखा

इसका आरंभ १३ वीं सदी से है। इसकी मूल पुस्तक में सारी बातें बहुत सरल ढंग से संक्षेप में समझाई गई हैं। पाणिनि के ४००० सूत्रों के स्थान पर इसमें केवल ७०० सूत्र हैं। इसका अवतरण भी जनता की माँग के कारण ही हुआ। इस शाखा को प्रोत्साहन देने वाले गयासुद्दीन खिलजी और सलेमशाह मुसलमान शासक थे।

---

१. कुछ लोग इसी को ऐन्द्र सम्प्रदाय भी मानते हैं।

संक्षेप और सरलता इसकी प्रधान विशेषता थी। प्रत्याहार तथा माहेश्वर सूत्र भी कुछ परिवर्तित ढंग से इसमें रखे गए थे। वैदिक व्याकरण को यहाँ अनावश्यक समझ कर स्थान नहीं दिया गया।

कहा जाता है कि सरस्वती से अनूभूतिस्वरूपाचार्य ने इसे प्राप्त किया था। पर सत्य यह है कि अनुभूतिस्वरूप एक टीकाकार थे। शाखा के जनक कोई अन्य महाशय थे जिनके संबन्ध में आज कुछ ज्ञात नहीं है। अमृतभारति, क्षेमेन्द्र, हर्षकीर्ति, मंडन आदि भी अन्य टीकाकार इस शाखा में हुए हैं।

यह शाखा १८ वीं सदी तक चलती रही है। फिर इधर पाणिनि स्कूल के कारण इसका लोप हो गया। विल्किन नामक अंग्रेज विद्वान ने भी इस शाखा के आधार पर एक व्याकरण लिखा। कुछ लोग आज भी इसे प्रोत्साहन देते हैं। सचमुच सरलता की दृष्टि से साधारणतः इसे पाणिनि शाखा से भी अधिक उपयोगी कहना समीचीन होगा।

(छ) बोपदेव शाखा

इस शाखा का आरंभ बरार निवासी बोपदेव से माना गया है। बोपदेव (१३ वीं सदी) बहुत विद्वान आदमी थे, और इन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिखी। भाषा संबन्धी इनकी प्रसिद्ध पुस्तक मुग्धबोध है। जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रभाव इन पर नहीं था। इनका भी प्रधान ध्येय सरलता और संक्षेप ही है। उनकी शैली कातंत्र से मिलती-जुलती है। इनके माहेश्वर-सूत्र और प्रत्याहार पाणानि से कुछ भिन्न हैं। वैदिक विशेषताओं की ओर से ये भी उदासीन हैं। इनके पारिभाषिक शब्द भी पाणिनि से भिन्न हैं। (जैसे धातु के लिए धू, वृद्धि के लिये वृ आदि)।

मुग्धबोध का अधिक प्रचार नहीं हो सका। १७ वीं सदी तक यह बंगाल के नदिया जिले तक सीमित हो गया। इस पर भी टीकाएँ और कौमुदियाँ बनीं, जिनमें रामतर्कवागीश की अधिक प्रसिद्ध है।

(ज) शेष शाखाएँ

शेष में जौमर (१२००-१४००), सौपद्म (१३००-१५५०) और हरिनामामृत (१६वीं सदी) आदि शाखाएँ हैं, जिनके क्रम से प्रसिद्ध

लेखक जुमरनन्दी, पद्मनाभदत्त और हरिनामामृत हैं। महत्वपूर्ण न होने के कारण इनका नाम ले लेना ही पर्याप्त है।

[१३] पाली

पाली व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्म प्रदेश और लंका तीनों ही स्थानों में हुई। इन व्याकरणों की तीन शाखाएँ बनाई जा सकती हैं— कच्चायन मोग्गल्लान तथा अग्गवंस। ये तीनों ही शाखाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं और विषय की दृष्टि से अपूर्ण हैं। यहाँ इन पर पृथक्-पृथक विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

[क] कच्चायन

ये कच्चायन (कात्यायन) संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय ८वीं या ९वीं सदी के लगभग का है। इनकी प्रधान कृति 'कच्चायन व्याकरण' है, जिसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कृति पाली और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डालती। इस ग्रंथ के अतिरिक्त दो और व्याकरण ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं।

इनकी शाखा में 'कच्चायन व्याकरण' की कई टीकाएँ लिखी गईं। इनमें सबसे प्रसिद्ध विमलबुद्धि की टीका 'न्यास' है। इस न्यास पर भी कुछ टीकाएँ भारत तथा ब्रह्मदेश में लिखी गई हैं।

छपद की सुत्तनिद्देस तथा संघरखित की सम्बन्धचिन्ता आदि पुस्तकें भी इसी शाखा की हैं।

[ख] मोग्गल्लान (१२वीं सदी)

इन्हें मोग्गल्लायन भी कहा गया है। इनकी प्रधान पुस्तक मोग्गलायन व्याकरण है। इस पर इन्होंने स्वयं मोग्गाल्लायन-पंचिका नामक टीका भी लिखी है। इनका व्याकरण भी कुछ दृष्टियों से अपूर्ण है पर कच्चायन की अपेक्षा बहुत अच्छा है। वर्गीकरण तथा इनके परिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न हैं। इन्होंने प्राचीन छोटे-मोटे पाली व्याकरण और पाणिनि तथा चंद्रगोमिन आदि से अधिक सहायता ली है।

इस शाखा में भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से पियदस्सिन की 'पदसाधन' तथा राहुल की मोग्गल्लायनपंचिकापदीप उल्लेखनीय हैं।

[ग] अग्गवंस (१२वीं सदी)

अग्गवंस ब्रह्मदेश के निवासी थे। इनकी पुस्तक सिद्धनीति है। अग्गवंस की शाखा का प्रचार लंका और ब्रह्मदेश में हुआ। यह शाखा प्रमुखतः कच्चायन पर आधारित है, अतः इसे कुछ लोग स्वतंत्र शाखा न मान कर कच्चायन के अंतर्गत ही मानते हैं।

[१४] प्राकृत

प्राकृत के व्याकरण विशेषतः संस्कृत नाटकों के प्राकृत-अंशों को समझने के लिए लिखे गए थे। जीवित प्राकृत से उनका कोई संबन्ध नहीं था। इन व्याकरणों का ढाँचा भी पूर्णतः संस्कृत व्याकरणों पर आधारित था।

प्राकृत वैयाकरणों की प्रतीच्य और प्राच्य दो शाखाएँ मानी गई हैं।

(क) प्रतीच्य शाखा

इस शाखा के सूत्रों के रचयिता वाल्मीकि कहे जाते हैं, इसी कारण इस शाखा को वाल्मीकि शाखा की भी संज्ञा दी गई है। इन सूत्रों की सबसे प्रसिद्ध टीका त्रिविक्रम (१३वीं सदी) की है जो 'प्राकृत व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी टीका लक्ष्मीधर (१६वीं सदी) लिखित 'शब्द भाषा-चंद्रिका है।

हेमचंद्र (१२वीं सदी)

इस शाखा का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हेमचंद्र लिखित सिद्ध हेमचन्द्र (शब्दानुशासन) है। इस ग्रंथ का पूरा नाम 'सिद्धहेमचंद्राभिधस्वोपज्ञ-शब्दानुशासन' है। इस पुस्तक के ७ अध्याय तो संस्कृत व्याकरण के हैं, जिनके संबन्ध में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका ८ वाँ अध्याय पूरे ग्रंथ का लगभग चौथाई है, जिसमें प्राकृतों पर विचार किया गया है, जिनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिका पैशाची आदि प्रधान है। हेमचंद्र के सूत्र इनके अपने हैं, पर शैली वही पुरानी है।

(ख) प्राच्य शाखा

इस शाखा के सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि हैं अतः उनकेनाम से भी यह शाखा प्रसिद्ध है।

वररुचि (५वीं सदी)

प्राकृत भाषा का सबसे पुराना व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' है। इसके प्रथम नौ अध्यायों में संस्कृत के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत का बहुत विस्तृत वर्णन है। १० वें, ११ वें और बारहवें अध्याय में क्रम से पैशाची, मागधी और शोरसेनी का वर्णन है। शौरसेनी का वर्णन बहुत संक्षेप में है क्योंकि शेष बातों में वह महाराष्ट्री से भिन्न नहीं है।

प्राकृत-प्रकाश पर प्राचीनतम टीका कात्यायन (७वीं सदी) लिखित प्राकृत मंजरी है।

इस शाखा की अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ लंकेश्वर की 'प्राकृत-कामधेनु', वसंतराज की 'प्राकृत-संजीवनी' तथा उड़ीसा-निवासी मारकंडेय (१७वीं सदी) की 'प्राकृत-सर्वस्व' हैं। इनके प्राकृत-सर्वस्व का स्थान शेष से अधिक महत्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के संबन्ध में स्वतंत्र रूप से लिखी गई प्राचीन पुस्तकें नहीं के बराबर हैं। हाँ हेमचंद्र आदि के प्राकृत व्याकरणों के अंत में इस संबंध में कुछ सामग्री अवश्य दी हुई है।

[१५] वैयाकरणों के अतिरिक्त

उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्यशास्त्र वालों ने भी भाषा पर प्रकाश डालने का सुन्दर प्रयास किया है।

(क) नैयायिक

बंगाल के नदिया के तार्किकों या नैयायिकों ने भाषा के मनोविज्ञान-पक्ष की ओर ध्यान दिया। इससे 'अर्थ-विचार' पर कुछ प्रकाश पड़ा। जगदीश तर्कालंकार का 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' ग्रंथ इन ग्रन्थों में अधिक महत्व-पूर्ण है।

(ख) साहित्यक

कुछ साहित्यिकों ने रीति या काव्यशास्त्र का विवेचन करते हुए भाषा के अर्थ-पक्ष का सुन्दर विवेचन किया। ऐसों में ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक आदि के रचयिता प्रधान हैं। ये लोग अलंकार एवं शब्द-शक्तियों के वर्णन में इस ओर झुके हैं।

भारत में की गई भाषा सम्बन्धी प्राचीन खोज को यहाँ समाप्त करते

हुए कहा जा सकता है कि, रूप, वाक्य, ध्वनि और अर्थ प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक दृष्किोणों के अभाव में भी यहाँ पर्याप्त कार्य हुआ था, और इस क्षेत्र में भारत अन्य देशों से बहुत आगे था।

त्र. आधुनिक

भारत में भाषा-विज्ञान का आधुनिक रूप में अध्ययन यूरोप के संसर्ग से आरंभ हुआ है। सत्य तो यह है कि पहले-पहल उन्हीं लोगों ने यहाँ इसका प्रारम्भ भी किया, और इसी कारण यह श्रेय उनको ही प्राप्त है।

१. जान बीम्स

बीम्स १८५५ में सारन जिले के कलक्टर थे। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' है। इसके ३ भाग क्रम से १८७२, १८७५ और १८७९ में प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में एक लंबी सी भूमिका है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस भाग में ध्वनियों का विवेचन है। उदाहरण की प्रचुरता के कारण यह भाग अन्यों की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। दूसरे भाग का संबन्ध संज्ञा तथा सर्वनाम से तथा तीसरे का क्रिया से है। इस विशाल काय व्याकरण में योग्य लेखक ने आर्य परिवार की भारत की सभी प्रमुख भाषाओं (सिंधी, पंजाबी, हिन्दी गुजराती मराठी, बँगला तथा उड़िया आदि) के व्याकरणों का तुलनात्मक ढंग से ऐतिहासिक अनुशीलन किया है।

२. एस्० एच्० केलाग

ये पादरी थे। इनका हिन्दी भाषा का व्याकरण १८७६ में प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण प्रमुखतः तो खड़ी बोली हिन्दी का है, पर तुलनात्मक ढंग से ब्रज, अवधी, राजस्थानी, तथा विहारी आदि से भी सामग्री दी गई है। अध्यायों के अंत में व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास भी दे दिया गया है।

३. डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इस युग में काम करने वाले ये प्रथम भारतीय हैं। भंडारकर प्रमुखत: प्रत्न भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व के विद्वान थे, पर आर्य भाषाओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। १८७७ में बंबई विश्व विद्यालय में इस विषय पर इन्होंने सात व्याख्यान दिए जो ३७ वर्ष

बाद १९१४ में पुस्तक[1] रूप में छपे। भंडारकार ने प्राचीन भारतीय भाषा-विज्ञान के साथ-साथ नवीन यूरोपीय भाषा-विज्ञान का भी अध्ययन किया था इसी कारण यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। आरम्भ में भाषा के विकास के संबन्ध में सामान्य नियम दिए गए हैं, तथा संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में पाली तथा उस समय की अन्य बोलियों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय क्रम से 'प्राकृत-अपभ्रंश' तथा 'उत्तरभारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि' से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवें और छठें में आधुनिक भाषाओं में पाए जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व रखता है। सातवाँ अध्याय प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्माणकाल को देखते हुए ग्रंथ बहुत ही महत्व का है।

४. ए० रूडल्फ़ हार्नली

हार्नली साहब पहले काशी में जयनारायण स्कूल के प्रधानाध्यापक थे बाद में रायल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका के संपादक हो गए। १८८० में इनका गाडियन भाषाओं, विशेषतः पूर्वी हिंदी का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख ध्यान भोजपुरी पर है, पर साथ-साथ प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओं से तुलनात्मक ढंग पर भी सामग्री दी गई है। विवेचन की कमी होने पर भी सामग्री की नवीनता एवं प्रचुरता के कारण ग्रंथ आज तक महत्वपूर्ण बना है।

५ जार्ज आब्राहम ग्रियर्सन

ये बंगाल में काम करते थे। भाषा के सम्बन्ध में इनके अतुल ज्ञान का पता इसी से लग सकता है कि कई सौ भाषाओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। पहले इन्होंने बिहारी भाषाओं का अध्ययन किया और इनके 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' १८८३ से ८७ तक प्रकाशित हुए। १८९४ में इनका प्रसिद्ध कार्य 'भारतीय भाषाओं का सर्वे' आरम्भ हुआ। ३३ वर्ष घोर परिश्रम के बाद १९२७ में ये इसे समाप्त कर सके। आज तक विश्व के किसी भी देश में भाषाओं की ऐसी पैमाइश नहीं हुई है। यह ग्रंथ-रत्न

१. Wilson philological lectures

११ बड़ी बड़ी जिल्दों में है। जिनमें सभी भारतीय भाषाओं तथा बोलियों का सोदाकरण व्याकरण दिया गया है। आरम्भ में बहुत विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका है जिसमें भारतीय आर्य भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास है। १९०६ में पिशाच भाषा तथा १९११ में कश्मीरी पर (२ भागों में) भी इनके प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित हुए थे।

६ रेल्फ लिले टर्नर

लगभग ३०-३५ वर्ष के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली कोष १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है। साथ में भारत की प्रधान आर्य भाषाओं के शब्द भी तुलना के ढंग पर दे दिये गए हैं। कहीं-कहीं यूरोपीय भाषाओं के भी तुलनात्मक शब्द हैं। लगभग २०० शब्द मूल भारोपीय भाषा के दिये गए हैं। पुस्तक २१२ भाषाओं के आधार पर लिखी गई है। जैसा कि डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कहा है, यह भारतीय आर्य भाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त टर्नर ने मराठी स्वराघात, गुजराती ध्वनि, तथा सिंधी पर भी कुछ कार्य किया है। आजकल फिर कोई कोष बनाने में संलग्न हैं।

७ .जूल ब्लाख़

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मराठी की बनावट' (१९१९) है। किसी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक इतिहास तथा उसकी बनावट का सुरुचिपूर्ण विवेचन यह प्रथम बार हुआ। ध्वनि और रूप का विवेचन इसमें विशेष है। इसके अतिरिक्त इनका 'भारतीय आर्य भाषाएँ' ग्रन्थ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने द्राविड़ों और आर्यों के पूर्व के भारतीयों की भाषा आदि के संबंध में में भी कुछ निबंध लिखे हैं।

८. शेष विद्वान और उनके प्रधान विषय

इन प्रमुख सात के अतिरिक्त और भी बहुत से विद्वान हैं। यहाँ भाषाओं के अनुसार कुछ खास खास के नाम लिए जा सकते हैं—

क. मूल भारोपीय भाषा

इस सम्बन्ध में केवल आर्येन्द्र शर्मा, टर्नर तथा चटर्जी का नाम उल्लेख्य है।

ख. संस्कृत

डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने यास्क के निरुक्त पर काम किया है। विश्वबंधु शास्त्री तथा आर० एन० डाडेकर आदि के कार्य वेदों से संबद्ध हैं। संस्कृत और दर्द भाषा के सम्बन्ध पर कार्य करने का श्रेय सिद्धेश्वर वर्मा को है। ई० डी० कुलकर्नी ने महाभारत की कुछ क्रियाओं पर प्रकाश डाला है। डा० सुकुमार सेन भी इस विषय के अच्छे विद्वान हैं। इधर १६४६ में एक नये अध्येता डा० कपिलदेव द्विवेदी ने 'संस्कृत में .अर्थ-विचार' तथा 'संस्कृत व्याकरण के दर्शन पर 'अर्थ-विज्ञान और व्याकरणदर्शन' नामक एक उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

ग. पाली प्राकृत तथा अपभ्रंश

अलफर्ड सी० वूलनर (प्राकृत), मनमोहन घोष (महाराष्ट्री प्राकृत, जिसे ये भारत की राष्ट्र भाषा मानते हैं) बापट, विधुशेखर भट्टाचार्य, भिक्षु जगदीश (पाली), हीरालाल जैन (अपभ्रंश) शहीदुल्ला (पाली तथा सिद्धों का अपभ्रंश), प्रबोध चंद्र बाग्ची (अपभ्रंश) तथा बनारसीदास जैन आदि ने विशेष कार्य किया है।

घ. अवेस्ता आदि

तारापूरवाला, पूनवाला, कागा, कपाड़िया तथा सुकुमारसेन आदि का इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य है।

ङ. बंगाली

वर्तमान समय में भारत के सबसे बड़े भाषा विज्ञानी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी हैं। इनकी प्रधान पुस्तक 'बंगाली की उत्पत्ति और विकास' है। इस पुस्तक को वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का विश्वकोष कहा गया है, क्योंकि इसकी भूमिका में लगभग सभी पर प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। इन्होंने बंगाली ध्वनि पर भी एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी है।

बंगाली वाक्य-विचार पर सुकुमार सेन तथा अर्थ-विचार पर हेमन्त कुमार सरकार के कार्य महत्वपूर्ण हैं। कवीन्द्र-रवीन्द्र ने भी अर्थ से संबंधित 'अर्थ-तत्व' नामक एक पुस्तक बहुत पहले लिखी थी।

बंगाली भाषा की बोलियों पर भी स्वतन्त्र कार्य हुए हैं। इस सम्बन्ध में गोपाल हल्दर (दक्षिणी पूर्वी बंगाल की नोवाखाली बोली), कृष्णपद गोस्वामी (चिटागांग की बंगाली), तथा प्रफुल्ल भट्टाचार्य (बर्दवानी) के नाम उल्लेखनीय हैं।

च. उड़िया

इसके सम्बन्ध में गोपालचन्द्र का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उड़िया कोष' है जिसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिये गए हैं।

छ. आसामी

आसामी के प्रसिद्ध विद्वान बानीकान्त काकाती हैं। १६४१ में इन्होंने 'आसामी का स्वरूप और विकास' ग्रंथ लिखा।

ज. मराठी

इस सम्बन्ध में ज़ूल ब्लाख़ का नाम हम ऊपर ले चुके हैं। इधर डा० सुमित्रमंगेश कत्रे ने कोंकणी की बनावट पर कार्य किया है। के० पी० कुलकर्नी का मराठी का व्युत्पत्ति कोष भी स्तुत्य कार्य है।

झ. गुजराती

इस सम्बन्ध में टर्नर का नाम हम ऊपर ले चुके है। इधर कुछ नवीन विद्वानों ने कार्य किया है पर उनमें कोई विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

ञ. द्राविड़

कैल्डवेल इसके प्रामाणिक विद्वान माने जाते हैं। अन्य कार्य करने वालों में रामकृष्ण (तामिल), अमृतराव (तामिल), नीलकंठ शास्त्री (तामिल), रामस्वामी ऐयर (मलयालम) तथा डेनिस डे एस० ब्रे (ब्राहुई) आदि हैं।

ट. सिंहली

इस पर प्रधान कार्य करने वाले विलहेम गाइगर हैं।

ठ. सिंधी

इस सम्बन्ध में टर्नर का नाम ऊपर लिया जा चुका है। ई० ट्रंप ने भी सिंधी पर कार्य किया है, उनका सिन्धी व्याकरण पुराना होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है।

ड. पंजाबी, कश्मीरी तथा दर्द आदि

बनारसी दास जैन (पंजाबी तथा लुधियानी ध्वनि पर विशेष), डा० खजुरिया (पंजाबी), सिद्धेश्वर वर्मा (लहँदा (ध्वनि पर विशेष) और कश्मीरी, दर्द तथा संस्कृत का सम्बन्ध), टी० ग्रैहेम बेली (पंजाबी), परमानन्द बहल (पंजाबी) तथा हरदेव बाहरी आदि ने विशेष रूप से कार्य किया है।

ढ. हिन्दी

हिन्दी पर भी देशी और विदेशी बहुत से विद्वानों ने कार्य किया है जिनमें प्रमुख का नाम इस प्रकार है—

सुभद्र झा (मैथिली), उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी), वाचस्पति उपाध्याय (बनारसी), बाबूराम सक्सेना (अवधी), रामाज्ञा द्विवेदी (अवधी) धीरेन्द्र वर्मा (व्रज), टैस्सीटरी (राजस्थानी), जान टी प्लाट्स (हिन्दुस्तानी), सी० जे० लाल (हिन्दुस्तानी), एस्-एच्० केलाग (हिन्दी) मोहुउद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि), कामता प्रसाद गुरु (हिन्दी), दुनीचंद (हिन्दी-पंजाबी) हरदेव बाहरी (हिन्दी-अर्थ-विचार) हरिशंकर जोशी (कुमायूँनी) तथा ग्रैहेम बेली (बाँगरू) आदि।

इनमें से विशुद्ध भाषा-विज्ञानी दृष्टिकोण वाले प्रसिद्ध विद्वान केवल डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी, सुभद्र झा, कादरी तथा बाहरी हैं। डा० चटर्जी ने भी Indo Aryan and Hindi में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी पर विचार किया है। इधर उनकी एक पुस्तक 'राजस्थानी भाषा' भी प्रकाशित हुई है जिसमें राजस्थानी की विशेषताओं एवं इतिहास का सुन्दर विवेचन है।

६. भाषा-विज्ञान के विद्वानों की प्रधान प्रवृत्तियाँ और आवश्यकताएँ

इधर कुछ दिनों से जीवित भाषाओं के अध्ययन पर ही अधिक जोर दिया जा रहा है। उसमें भी विशेषतः ध्वनि की दृष्टि से अध्ययन हो रहा है। रूप की दृष्टि से भी काम हो रहा है, पर अपेक्षाकृत कम। अर्थ का अध्ययन तो यूरोप में भी शैशवावस्था में है तो फिर यहाँ उस पर कम ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं है।

ध्वनि के अध्ययन में नवीन यंत्रों के सहारे यहाँ अभी पर्याप्त प्रयोग नहीं हुए हैं, और न तो हो रहे हैं। इसका प्रधान कारण है यहाँ यंत्रों का न होना। विना इसके ध्वनि का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। अतः इसके लिये सुन्दर प्रयोगशालाओं की स्थापना अत्यावश्यक है।

अर्थ के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र की पृष्टिभूमि अत्यावश्यक है। हमारे भारतीय विद्वानों ने इस ओर भी अभी कम ध्यान दिया है। इसी प्रकार मानवशास्त्र जो भाषा-विज्ञान के लिए आवश्यक

है, का भी अध्ययन हमारे भाषाविज्ञान के विद्वान नहीं कर रहे हैं और न तो उधर ध्यान ही दे रहे हैं। दो एक ने किया भी है पर केवल उतने से काम नहीं चल सकता।

हमारी जीवित भाषाओं ने अपना जीवन रस जिन भाषाओं से खींचा है उनका भी अध्ययन आवश्यक है। प्रसन्नता है कि इस ओर लोग यथेष्ट ध्यान दे रहे हैं और संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवेस्ता, अरबी तथा फारसी आदि का कुछ अध्ययन अब चल रहा है।

इनके अतिरिक्त उन यूरोपीय भाषाओं का भी अध्ययन आवश्यक है जिनसे हमने शब्द आदि उधार लिये हैं। इस सम्बन्ध में पुर्तगाली, डच, फ्रांसिसी तथा अंग्रेजी आदि का नाम लिया जा सकता है। कहना न होगा कि हमारे विद्वानों ने अंग्रेजी तथा कुछ कुछ फ्रांसिसी पर ध्यान दिया है पर अभी पुर्तगाली आदि का कोना पूर्णतः अछूता ही है। आशा है शीघ्र ही हम इधर भी ध्यान देंगे।

इन सबके साथ साथ समाज-विज्ञान तथा धर्मविज्ञान का भी पर्याप्त अध्ययन होना आवश्यक है। इनके बिना भारत जैसे धर्म-प्रधान देश की भाषाओं का अध्ययन पूर्ण नही हो सकता।

अभी तक भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों पर अपने दृष्टिकोण से स्वतन्त्र कार्य होना भी बाकी है। आशा है भाषाओं के अध्ययन के बाद इस ओर भी हमारा ध्यान बढ़ेगा और सिद्धान्तों के लिए भी हमें यूरोप का मुखापेक्षी न बनना होगा।

इन दोनों कार्यों को समाप्त कर हमें भाषा-विज्ञान की सहायता से अपने इतिहास के विस्मृत पृष्ठों का पुनरुद्धार करना है। इतना ही नहीं पूरे इतिहास को इस कसौटी से कस कर प्रलयुग से आजतक के सांस्कृतिक इतिहास के चित्र को पूरा करना है, और तब भाषा-विज्ञान के सहारे, जैसा कि नेहरु अभिनंदन ग्रंथ (जनवरी १९५०) में दिये गए निबंध में सुनीति बाबू ने दिखाया है, शुद्ध रूप में हम संसार को दिखा सकेंगे कि संसार की सभी प्रधान संस्कृतियों के संगम पर हम भारतीयों की नींव है, और इस प्रकार यथार्थ रूप में पूरा संसार हमारे घर का अपना है।

[ख] चीन

भाषाओं के प्रकरण में चीनी भाषा पर विचार करते समय उसकी प्राचीनता की ओर हम लोग संकेत कर चुके हैं। कुछ लोग तो पाँच छः हजार वर्ष ई० पू० से ही इसे सुसंस्कृत भाषा मानने के पक्ष में हैं पर यदि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इतनी दूर न भी जाँय, तो कम से कम १५०० वर्ष ई० पू० से चीनी को समुन्नत भाषा मानने में तो संभवतः किसी को आपत्ति न होगी। फू-हि, हुआङ-ती, तथा शेन-नुङ आदि सम्राट जिनके समय से वहाँ लिपि का आरंभ माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ई० पू० के बहुत पहले हो चुके थे। चीन का स्वर्ण-युग भी लगभग २००० ई० पू० के पहले ही समाप्त हो चुका था। ऐसी दशा में यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है कि १५०० ई० पू० से साहित्य-सृजन वहाँ पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हो गया होगा। महात्मा कनफ्यूशिअस ने ५०० ई० पू० के लगभग १८०० ई० पू० तक के गीतों का एक संग्रह किया भी था। चीन में इतिहास और कहानियाँ लिखने की परंमपरा भी बहुत प्राचीन है। जब लोगों की प्रवृत्ति इस प्रकार साहित्य सृजन की ओर थी तो अवश्य ही भाषा की ओर भी उनका ध्यान गया होगा। अन्य भाषाओं के व्याकरणों की भाँति किसी व्याकरण[1] का तो आज भी वहाँ अभाव है, पर शब्द कोष अवश्य बहुत से बनाए गए हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी अवश्य ही कुछ कोष बनाए गए होंगे। कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि भाषा संबंधी पुराना ग्रंथ एक भी नहीं मिलता। हूणों, मंगोलो और मांचुओं के आक्रमण के अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा कारण यह है, कि, २१३ वर्ष ई० पू० चीन के राजा त्सिन-शी- हुआङ-ती ने कुछ राजनैतिक कारणों से सभी उपलब्ध पुस्तकों को जलवा डाला था।

उपर्युक्त राजा की मृत्यु के बाद प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की ओर जब चीनी विद्वानों का ध्यान गया तो वैज्ञानिक रूप से भाषा के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की प्राप्त तिथि लगभग

---

१ जे० एडकिन्स तथा एम० कूरैंट आदि कुछ अंग्रेज और फ्रेंच विद्वानों ने कुछ व्याकरण लिखे हैं पर वे भी ठीक अर्थ में व्याकरण नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि चीनी के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कोष ही वहाँ व्याकरण का कार्य करता है।

२०० ई० पू० है। इसी के लगभग भारतीय बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए वहाँ पहुँचे। उस समय तक भाषा का अध्ययन भारत में बहुत आगे बढ़ चुका था, अतः इन साधुओं की सहायता से भी चीनियों ने विशेषतः ध्वनि के सम्बन्ध में अपना अध्ययन आगे बढ़ाया। उसी समय से चीनी कोषों में चिह्नों को ध्वन्यनुसार क्रम भी दिया जाने लगा।

चीन में भाषा के अध्ययन के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान कार्य कोषों का है। कोषों में चिह्न या शब्द प्रायः दो प्रकार से सजाए जाते हैं। प्रथम प्रकार अन्य भाषाओं के कोषों की भाँति ध्वनियों पर आधारित रहता है। पर ऐसे कोष बहुत उपयोगी नहीं समझे जाते। इसका कारण यह है कि चीनी चिह्नों का उच्चारण निश्चित नहीं है। एक ही चिह्न कहीं तो कुछ उच्चरित होता है और कहीं कुछ। इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति कोषकार के उच्चारण से परिचित न रहे वह शब्द का अर्थ नहीं देख सकता।

चिह्नों के सजाने का दूसरा क्रम रेखाओं की संख्या पर आधारित रहता है। जिस चिह्न में एक रेखा हो उसे पहले रखेंगे और जिसमें दो रेखाएँ हों उसे उसके पश्चात् स्थान देंगे। इसी प्रकार आगे भी तीन चार पाँच इत्यादि।

चीन का सबसे प्रथम और प्रामाणिक कोष हू-शेन का है, जिसका नाम 'शुओ-वेन-की-त्सी' है। इसका प्रकाशन १०० ई० के लगभग हुआ था। इस इस कोष में उस समय के प्रचलित शब्दों की परीक्षा बहुत ही सुन्दर की गई है। इसमें कुल ३६४ चिह्न है। आज भी यह कोष बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और इसकी टीकाएँ भी लिखी गई हैं। हू-शेन की कृति का आधार तीसरी सदी ई० पू० के एक राजा 'त्स-इन' के मंत्री 'ली-सी' की एक पुस्तक मानी जाती है।

इसके बाद का दूसरा कोष 'स्ती-यून' ७वीं सदी के आरंभ का है। सामग्री की दृष्टि से यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। १२वीं सदी के लगभग सिमाकुआङ ने भी इस संबंध में महत्वपूर्ण कार्य किया था।

चीन में भाषा सम्बन्धी कोष एवं खोज करने वालों में अन्य प्रसिद्ध विद्वान लो चेन-यू, वाङ कुओ-वी, हापकिन, तथा कार्लग्रेन आदि हैं।

प्रामाणिक कोषकारों में कार्लग्रेन के अतिरिक्त गाइल्स और काउरूर आदि भी हैं, पर इन दोनों के कोष अंग्रेजी में हैं। चीनी भाषा में छपे आधुनिक कोषों में १७१६ ई० के प्रकाशित एक कोष 'कंङ-ही त्सी-तीन' का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है।

नवीनतम भाषाविज्ञान सम्बंधी सिद्धांतों के आधार पर चीनी का पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण अभी शेष ही है। दुर्भाग्य से राजनैतिक झगड़ों के कारण इधर बहुत दिनों से वहाँ के विद्वान इस अध्ययन को आगे बढ़ाने की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। आशा है अब साम्यवाद की शीतल छाया में कार्य अवश्य आगे बढ़ेगा।

[ग] अरब

अरब में भी भाषा का अध्ययन प्रायः संस्कृत की भाँति ही आरंभ हुआ। धार्मिक ग्रन्थों (विशेषतः क़ुरान) के समझने के लिए भाषा के विवेचन की ओर लोगों का ध्यान गया और धीरे-धीरे वह साधारण ध्यान ही प्राचीन भाषा-वैज्ञानिक या व्याकरणीय विवेचन हो गया।

भारत में यह प्रायः प्रवृत्ति है कि किसी भी चीज का आरभ ऋग्वेद से माना जाता है। ठीक उसी प्रकार बहुत सी इल्मों का आरंभ अरबी में मुसलमानी मज़हब के चौथे ख़लीफ़ा हज़रत अली से माना जाता है।[1] भाषा के अध्ययन में भी वे ही प्रथम व्यक्ति कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यूनानी भाषाविज्ञ एवं दार्शनिक अरस्तू की तरह अली ने भी भाषा में ३ भाग किए थे। इसके अतिरिक्त उनके विवेचन के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

१०वीं सदी के अरबी के विद्वान, अरबी ज्ञान को दो भागों में बाँटते थे। प्रथम तो अरब ज्ञान (Arab Sciences) कहलाता था जिसमें भाषा का अध्ययन, नीतिशास्त्र, साहित्य तथा इतिहास आदि विषय थे। दूसरी ओर दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि विषय अरबेतर ज्ञान (Non-Arab Sciences) कहलाते थे। इस प्रकार अरबों के अनुसार भाषा का अध्ययनः पूर्णतः इनकी अपनी चीज़ है, यद्यपि यह ठीक नहीं है। डॉ० बोअर ने स्पष्टतः

---

१. हज़रत मुहम्मद ने कहा है —

'अना मदीनतुलइल्मे व अलीय्युन बाबोहा'

अर्थात् मैं (मुहम्मद) इल्म का शहर हूँ और अली उसके दरवाजे हैं।

लिखा है कि तथाकथित अरब ज्ञान पूर्णत: अरबों के नहीं हैं। उनपर भी अन्य लोगों के प्रभाव पड़े हैं।[1] इन प्रभाव डालनेवालों में सीरियन्स और परशियन्स का प्रधान हाथ है।

कुछ भी हो निश्चित रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि अमुक समय में भाषा के अध्ययन का विकास यहाँ प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार संस्कृत में वैयाकरण के आचार्य पाणिनि प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अरबी में सेबवै (Sibawaih) का नाम लिया जाता है। यह भाषाशास्त्र का ईमाम या पेशवा था। पाणिनि के अष्टाध्यायी की भाँति ही इसका ग्रंथ भी अपने में बहुत पूर्ण मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि पाणिनि की भाँति ही यह भी किसी प्राचीन प्रचलित सम्प्रदाय का सम्भवतः अंतिम व्यक्ति था। बाद में पाणिनि की भाँति ही इसके ग्रंथ के भी बहुत से भाष्य हुए तथा टीकाएँ आदि लिखी गईं। आगे चलकर व्याकरण के प्रधान दो सम्प्रदाय बने। एक तो बसरा में तथा दूसरा कुफ़ा में था। बसरा वाले या 'बसरी' बग़दादियों की भाँति भाषा में 'सादृश्य' का बहुत प्रभाव मानते थे, पर कुफ़ा-वाले या 'कुफ़ी' नहीं। 'बसरी' भाषाशास्त्र पर तर्कशास्त्र का बड़ा प्रभाव था। भारत में नादिया के वैयाकरण भी प्रायः ऐसे ही थे। विशेषतः अरस्तू के तर्क शास्त्र ने बसरी सम्प्रदाय को बहुत प्रभावित किया। बाद में, 'भाषा स्वाभाविक है या कृत्रिम' जैसे प्रश्नों पर भी विचार किया गया। व्याकरण के साथ-साथ छंद शास्त्र का भी यहाँ समुचित अध्ययन हुआ।

कुछ दिन बाद तक यह अध्ययन चलता रहा और फिर लुप्त सा हो गया। आधुनिक युग में भारत की ही तरह यूरोपीय विद्वानों ने अरबी भाषा-विज्ञान पर विशेष काम किया है। अब धीरे-धीरे कुछ अरब और मिश्र के विद्वान इस ओर झुक रहे हैं।

[घ] यूरोप

यूरोप में अन्य सभी विषयों की भाँति भाषा के भी अध्ययन का आरंभ

---

1. And yet the socalled Arab Sciences are not altogether pure native products.—Dr. T. J. De Boer (The History of Philosophy in Islam. London 1903, page 31.)

यूनान में आरंभ हुआ। भारत की ही भाँति यूरोप का भी प्राचीन या प्रारंभिक अध्ययन विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक नहीं था अतः स्पष्टता के लिए इसके भी प्राचीन और आधुनिक दो भेद किए जा सकते है।

क. प्राचीन

यों तो महर्षि सुकरात के पूर्व भी समुन्नत यूनानियों[1] का कुछ न कुछ ध्यान अवश्य ही भाषा की ओर गया रहा होगा, पर प्रमाण सुकरात से ही मिलते हैं अतः उन्हीं से इसका आरंभ माना जाता है।

१. सुकरात (४६६ ई० पू० से ३६६ ई० पू०)

इस सम्बंध में सुकरात के समक्ष यह प्रश्न आया था कि क्या शब्द और उसके अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि क्या पुस्तक का 'पुस्तक' नाम ही स्वाभाविक है। यदि कोई दूसरा नाम रखा जाता तो क्या वह अस्वाभाविक हो जाता है? इसका सुकरात नकारात्मक उत्तर देते हैं, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर माना हुआ सम्बन्ध है, इसी कारण प्रत्येक भाषा में पृथक् पृथक् नाम हैं। यदि स्वाभाविक संबंध होता तो सम्भवत: एक वस्तु का एक ही नाम सभी भाषाओं में होता। इतना ही क्यों, तबतो संसार में एक ही भाषा (स्वाभाविक) भी सम्भवतः होती। पर इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम्भव नहीं है जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु और नाम का स्वाभाविक सम्बन्ध हो। सुकरात का यह द्वितीय कथन स्पष्ट ही सत्य से कोसों दूर है।

२. प्लैटो (४२६ ई० पू० से ३४७)

प्लैटो अपने गुरु सुकरात की भाँति ही एक दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आनुषंगिक रूप से इन्होंने 'क्रेटिलस' 'सोफिस्ट' आदि में अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किए हैं। इन विचारों को संक्षेप में हम गिन सकते हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में अंटिस्थिनिट, हीराक्लीटस, पिथागोरस आदि नाम मिलते हैं।

क. इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्ति की ओर संकेत मिलता है, पर उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

ख. यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लैटो को ही है। इन्होंने ग्रीक ध्वनियों को घोष और अघोष दो वर्गों में बाँटा। फिर अघोष के भी दो भेद किए।

ग. 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा पर विचार करते समय इन्होंने स्पष्ट किया है, कि विचार और भाषा में थोड़ा अंतर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर ओठों पर प्रकट होता है तो उसे भाषा की संज्ञा से विभूषित करते हैं।

अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यतः एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते हैं। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलतः भाषा और विचार एक हैं पर वाह्य अंतर इतना अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक।

घ. उद्देश्य-विधेय तथा वाच्यों आदि की ओर भी कुछ संकेत इन्होंने किये हैं। इस प्रकार वाक्य के विश्लेषण तथा शब्द भेदों के संबंध में भी उन्हें कुछ ज्ञान होने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

३. अरस्तू (३८५ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)

अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भाँति तत्त्ववेत्ता थे, पर आनुषंगिक रूप से आपने भाषा पर भी कुछ विचार किया, और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढ़ाया।

अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोयटिक्स' है। इसके द्वितीय भाग के २५ व २५ वें अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशुद्ध रूप में भाषा-विज्ञान से संबन्धित न होने पर भी महत्वपूर्ण है, अतः कुछ विस्तार से देखा जा सकता है।

क. अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं, जिसके स्वर, अंतस्थ और स्पर्श तीन भेद भी किये हैं। इनके भी आगे दीर्घ ह्रस्व; अल्पप्राण महाप्राण आदि भेद किये गये हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू द्वारा दी गई

स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा या ओठ के उच्चरित हो) बहुत वैज्ञानिक है।

ख. मात्रा तथा संबन्ध-सूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

ग वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया पर विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है।

घ. कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है।

ङ. शब्द, मोटे रूप से साधारण और दुहरे, दो प्रकार के माने गए हैं। साधारण से अरस्तू का अर्थ अर्थरहित से है और दुहरे शब्द वे है जिनमें सार्थक और निरर्थक दोनों तत्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौहरे शब्द भी माने गए हैं। शब्द के शुद्ध-विदेशी, परिवर्तित, मनगढ़ंत आदि और भी भेद किए गए हैं, जो शब्दसमूह (Vocabulary) की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

प्लेटो के श्रेणी-विभाग (parts of Speech) को पूरा कर ८ बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है।

च. अंत में इन अध्यायों में स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग तथा उनके लक्षणों पर विचार किया गया है।

४. अरस्तू और थ्रैक्स के बीच का कार्य

अरस्तू के पद-विभाजन को बाद के ग्रीक वैयाकरणों ने आगे बढ़ाया। उसी आधार को कुछ उन्नत करके व्यंजनों के तनु (Tenues) मध्य (Media) और महाप्राण (Aspiratae) तीन भेद किए। इस सम्बन्ध में स्टोइक वर्ग के तत्ववेत्ताओं का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है, जिनके बहुत से परिभाषिक शब्द लैटिन भाषा का बाना पहन कर आज भी व्याकरण के क्षेत्र शुद्ध या अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं।

स्टोइक वर्ग के विद्वानों के बाद ग्रीक विद्वानों का अलक्षेन्द्र सम्प्रदाय (alexandrian school) आता है। इन विद्वानों ने ग्रीक भाषा के प्राचीन कवियों की कविताओं को लोगों को समझाने के लिए कुछ अध्ययन

प्रारंभ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप शब्दों के नियमित या सादृश्य से प्रभावित तथा अनियमित रूपों की ओर ध्यान गया। साथ ही अर्थ को समझने में कुछ अर्थ-विचार पर भी प्रकाश पड़ा।

५. डियोनीसिअस थ्रैक्स (२ री सदी ई० पू०)

ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण थ्रैक्स महोदय हैं। इनका प्रधान कार्य पुरुष, काल, लिंग तथा वचन आदि पर प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त कर्ता और क्रिया के संबन्ध पर भी इन्होंने सम्यक् विचार किया है।

थ्रैक्स के बाद इनकी एक शिष्य-परम्परा चलती रही जिसमें अपोलोनियस डिसकोलस अधिक प्रसिद्ध हैं। डिसकोलस ने प्रमुख रूप में वाक्य-विचार पर कार्य किया है।

बाद में भी थ्रैक्स और डिसकोलस को आधार-मानकर बहुत से ग्रंथ लिखे जाते रहे।

६. यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युग

ग्रीस और रोम से संपर्क बढ़ने पर आदान-प्रदान में रोमवालों ने ग्रीस की भाषा-अध्ययन-प्रणाली को भी अपनाया, जिसके फलस्वरूप लैटिन के भी व्याकरण लिखे जाने लगे। प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय १५ वीं शती के एक विद्वान लौरेंशस वाल को है। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिस्किअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण लिखे हैं।

इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा जिसका फल यह हुआ कि ओल्ड टेस्टामेण्ट (old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इन परिस्थितियों में विद्वानों को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू (old testament की भाषा) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण लोग हिब्रू को स्वर्ग में बोली जाने वाली तथा सभी भाषाओं की जननी मानते थे। इसी आधार पर मिलते-जुलते शब्दों के कोष बनने लगे और यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों को हिब्रू के शब्दों से व्युत्पत्ति की दृष्टि से संबन्धित माना गया। ऐसे अनुमानों का एकमात्र आधार ध्वनि-साम्य था। इसी सिलसिले में सीरियन और अरबी आदि का भी कुछ अध्ययन विद्वानों ने किया।

नवीन युग के कुछ पहले जागरण आन्दोलन (Renaissance) के कारण सभी लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर गया। फल यह हुआ कि कोष आदि में व्युत्पत्ति के लिए लोग शब्दों को देने लगे।

इन प्राचीन धार्मिक एवं नवीन सामाजिक आन्दोलन से भाषा के अध्ययन में निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें घटित हुई—

क. तुलनात्मक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया।

ख. विद्वानों को कुछ-कुछ इस बात का संकेत मिला कि शब्द धातुओं पर आधारित हैं।

ग. लैटिन तथा ग्रीक के मूलतः किसी एक भाषा से निकले होने का आभास मिला। इस प्रकार परिवारों के ज्ञान का मूल भी यहीं है।

प्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज़ भी भाषा के अध्ययन का प्रेमी था। उसी से प्रभावित होकर पीटर महान ने शब्दों का संग्रह करवाया। रानी कैथरिन द्वितीय ने भी इस कार्य में प्रोत्साहन दिया। इन्हीं लोगों के फलस्वरूप पल्लस्, हर्वस् तथा एडलंग आदि विद्वानों ने शब्द-संग्रह के सुन्दर कार्य किए। विशेषतः पल्लस् महोदय का संग्रह एशिया और यूरोप की बहुत सी भाषाओं के आधार पर था, जिसके प्रथम संस्करण में ही २८५ शब्द तुलनात्मक ढंग पर दिए गए थे।

१८ वीं सदी के काम करनेवालों में हर्डर और जेनिश के नाम अधिक महत्वपूर्ण हैं।

रूसो ने भाषा की उत्पत्ति के विषय निर्णय-सिद्धान्त को ठीक माना था। इस सिद्धान्त की अव्यावहारिकता भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं। इसी प्रकार कंडिलैक् ने भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। उत्पत्ति के प्रश्न के संबन्ध में जे० जी० हर्डर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्डर ने १७७२ में बर्लिन एकेडेमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' निबन्ध लिखा; जिसमें उसने दैवी उत्पत्ति का सफलता के साथ खंडन किया। साथ ही उसने यह भी नहीं माना कि मनुष्य ने भाषा बनाया। उसका कहना यह था कि आवश्यकता के कारण ही भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ है।

१७६४ में बर्लिन एकेडेमी ने पूर्ण और आदर्श भाषा पर लेख के संबंध में एक प्रतियोगिता की। डी० जेनिश नामक एक जर्मन विद्वान इस प्रतियोगिता में प्रथम रहा।

इस निबंध में जेनिश ने ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं को तुलनात्मक रूप से देखने का प्रयास किया था। इस तुलना की कसौटी के लिये तथा आदर्श भाषा के लिए उसने चार बातें बतलाई हैं—

क. भाषा का सम्पन्न होना—इसमें भाषा का शब्द-समूह, तथा नए शब्द बनाने की क्षमता आदि बातें आती हैं।

ख. भाषा की शक्ति—'कम से कम शब्द और सरल से सरल युक्ति से भाषा अधिकाधिक अभिव्यक्ति कर सकती है या नहीं ?' 'व्याकरण के रूप कठिन हैं या सरल ?' आदि बातों का इस में समावेश है।

ग. स्पष्टता—शब्दों के अर्थ निश्चित हैं या नहीं ? इसी प्रकार नियम स्पष्ट तथा निश्चित हैं या अस्पष्ट एवं लचीले। निश्चित अर्थ और नियमों वाली भाषा अधिक स्पष्ट कही जायेगी।

घ. माधुर्य—बोलने तथा सुनने में कोई भाषा कितनी मधुर है ? इसका संबन्ध ध्वनि से है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर जेनिश द्वारा की गई तुलना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष है।

यहाँ भाषा संबन्धी प्राचीन यूरोपीय अध्ययन का अंत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय अध्ययन की तुलना में यह अध्ययन बहुत ही कम तथा अवैज्ञानिक है।

(त्र) आधुनिक

जिस प्रकार भारत में भाषा-संबन्धी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग से आरम्भ हुआ उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरंभ भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान भारत से संस्कृत सीख कर ही वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन में सफलीभूत हो सके। पर इसका आशय यह नहीं कि नवीन अध्ययन एकमात्र संस्कृत के ज्ञान के कारण हुआ। अब तक लोग साधारण ढंग से भाषा का विश्लेषण करते थे। चौड़ाई में स्थान होने के कारणग हराई में जाना लोगों को पसन्द नहीं था।

पर जब चौड़ाई का स्थान समाप्त हो गया और भाषाओं से अपेक्षाकृत लोग अधिक परिचित हो गए, तो गहराई में जाना भी स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार १६वीं सदी के आरंभ से ही विद्वान भाषा के संबन्ध में अधिक शास्त्रीय और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने लगे। इस आधुनिक युग के भी दो चरण हैं। प्रथम चरण को प्रत्न-युग और द्वितीय को नव-युग कहा जा सकता है।

[क] प्रत्न-युग

हम ऊपर संस्कृत के यूरोप में प्रवेश के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता मिलने का उल्लेख कर चुके हैं। इस संबन्ध में प्रथम प्रयास तो फ्रांसीसी पादरी कोर्डो (coeurdoux) का १७६७ में ही हुआ था, जब उसने ग्रीक, लैटिन, तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ शब्दों से संस्कृत-शब्दों की तुलना करने का प्रयास किया था। उक्त लेख को उसने भारत से फ्रेंच इन्स्टीच्यूट में भेजा था। दुर्भाग्य से उस समय यह लेख लोगों के समक्ष न आ सका और इसी कारण कोर्डो इस विषय में अग्रणी न माने जा सके।

१. सर विलियम जोंस (१७४६-१७६४)

जोन्स साहब कलकत्ता हाइकोर्ट में चीफ़ जस्टिस थे। यहाँ आपने संस्कृत का अध्ययन किया तो आपको यूरोपीय भाषाओं से अनेक दृष्टियों से अभूत-पूर्व साम्य दिखाई पड़ा। १७८६ में रायल एशियाटिक सोसायटी की नींव डालते हुए आपने संस्कृत के महत्व की घोषणा की और संस्कृत को कई बातों में ग्रीक और लैटिन से भी श्रेष्ठ[1] बताया। इनकी इस घोषणा के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

जोन्स महोदय ने अपने इसी व्याख्यान में शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गाथिक, केल्टिक तथा पुरानी फारसी को एक मूल से निकली होने का अनुमान लगाया।

---

१. The sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Grcek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either......

२. हेनरी थामस कोलब्रूक (१७६५-१८३७)

कोलब्रूक भी संस्कृत के विद्वान थे। इन्होंने संस्कृत के सम्बन्ध में बहुत से निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया।

३. फ्रिड्रिख़ वान श्लेगल (१७७२-१८२६)

श्लेगल् भी संस्कृत के विद्वान थे। इन्होंने केवल भाषा की दृष्टि से संस्कृत को न पढ़कर दर्शन और काव्य का भी अवगाहन किया था। आपने पेरिस जाकर १८०३ में एक सिपाही हैमिल्टन से जो युद्ध का कैदी था, संस्कृत पढ़ी थी और बाद तक ज्ञान-वृद्धि करते रहे। भारतीय भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ. १८०८ में प्रकाशित हुआ। इन्हीं के कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रचार बढ़ा।

तुलनात्मक व्याकरण के विषय में भी आवाज उठाने वाले प्रथम विद्वान श्लेगल् ही हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से ऐसे शब्दों को इकट्ठा किया जो बिना किसी विशेष अर्थ या ध्वनि सम्बन्धी अंतर के ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत में एक थे। इनके पूर्व कुछ लोगों का विश्वास था कि भारतीयों के उधार लेने के कारण ही शब्द-साम्य मिलता है, पर श्लेगल् ने पुष्ट आधारों पर इसका खंडन किया।

तुलना करने में आपने कुछ ध्वनि-परिवर्तन तथा ध्वनि नियमों (लैटिन f के लिए स्पैनिश h; जर्मन f के लिए लैटिन p आदि) की ओर भी संकेत किया था। कहना न होगा कि जर्मन-ध्वनि-नियम का सूक्ष्म बीज यहीं है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करने वाले प्रथम विद्वान भी श्लेगल ही है। इन्होंने भाषाओं को २ वर्गों में रक्खा—

१. संस्कृत तथा सगोत्रीय (congeners) भाषाएँ—श्लेगल् द्वारा दी गई इस वर्ग की परिभाषा बहुत कुछ आज की श्लिष्ट वर्ग से मिलती-जुलती है।

२. अन्य भाषाएँ—इस वर्ग को श्लेगल् लगभग अश्लिष्ट वर्गीय मानता है, जिसमें प्रत्यय उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। इस दूसरी शाखा के अंत में वह चीनी भाषा को स्थान देता है पर साथ ही उसने स्वयं स्वीकार किया है है कि अन्य भाषाओं से चीनी कुछ भिन्न है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से २ वर्ग बनाते हुए भी श्लेगल् ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा है।

भाषा की उत्पति के विषय में उसका विश्वास है कि इसके लिए एक ही आधार नहीं माना जा सकता। मांचू आदि कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें अनुकरणात्मक एवं अनुरणनात्मक शब्द अधिक है, अतः उस भाषा की उत्पत्ति में अवश्य ही प्रकृति तथा जीव-जन्तुओं का अधिक हाथ है, पर संस्कृत,-ग्रीक आदि भाषाओं के लिए भी यही बात नहीं कही जा सकती।

अपने परिणाम निकालने के जोश में श्लेगल् ने बहुत सी ऊल-जलूल बातें भी कहीं हैं। उसका कहना है कि फारसी और जर्मन भाषा में बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। इसी प्रकार उसका यह भी विश्वास था कि भारत के दर्शन एवं काव्य का भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसे यह भी आशा थी कि जिस प्रकार ग्रीक के अध्ययन से यूरोपीय विचारों में क्रांति मच गई उसी प्रकार संस्कृत के अध्ययन से भी हो सकती है।

४. अडोल्फ डब्लू० श्लेगल् (१७६७-१८४५)

ये श्लेगल् के बड़े भाई थे और उसी की भाँति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। फ्रिड्रिख् श्लेगल् द्वारा किए गए भाषाओं के अप्रत्यक्ष तीन वर्गों को इन्होंने स्पष्ट किया। इनका विश्वास था कि संस्कृत आदि श्लिष्ट भाषाएँ सर्वोच्च हैं। इन्होंने संस्कृत तथा उसकी सगोत्रीय भाषाओं (श्लिष्ट वर्ग) को दो उपवर्गों (संयोगात्मक और वियोगात्मक) में बाँटने का कार्य किया, और दोनों का अंतर बड़े वैज्ञानिक ढंग से समझाया।

५. विल्हेम वान हम्बोल्ट (१७६७-१८३५)

हम्बोल्ट प्रधान रूप से राजनीति से संबन्धित थे, पर भाषा-विज्ञान के भी गंभीर अध्येता थे। इस संबन्ध में बाप जैसे प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी से इनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इतना ही नहीं, इनके विचारों से प्रभावित होकर ग्रिम जैसे विश्व-विश्रुत भाषा-शास्त्र-वेत्ता को अपने कुछ सिद्धान्तों को बदलना पड़ा था। भाषा-विज्ञान के संबन्ध में अनेक सिद्धान्त इनके पूर्णतः अपने हैं। इनकी शैली इतनी ठोस और क्लिष्ट थी कि इनके विचारों को सार रूप से कहना जेसपर्सन जैसे विद्वान भी एक कठिन कार्य मानते हैं।

हम्बोल्ट के शिष्य हेमैन स्टेन्थल ने इनके विचारों को कई प्रकार से

कई बार समझाया है और आश्चर्य यह है कि प्रत्येक बार का समझाना शेष से भिन्न है।

हम्बोल्ट भाषा को एक अबाध कार्य मानते हैं। इसीलिए वे भाषा को स्थिर परिभाषा में बाँधने के पक्ष में भी नहीं हैं। उनकी दृष्टि में भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक है। वे भाषा को नियमों द्वारा शब्दों में विश्लेषित करने को अस्वाभाविक मानते हैं। भाषाओं को वे कम या अधिक पूर्ण मानते हैं, और जंगली से जंगली भाषा को भी कम महत्व की नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक भाषा का अपना व्यक्तित्व है, जो भाषा की गात विधि को समझने के लिए महत्वपूर्ण है।

हम्बोल्ट बोलियों को भी अपने में पूर्ण मानते हैं, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में अपने बोलने वालों का पूरा व्यक्तित्व व्यक्त करती हैं।

भाषा-वर्गों के संबन्ध में चीनी को जिसमें व्याकरण के रूप नहीं हैं, वे अलग मानते हैं। शेष को ३ वर्गों में—श्लिष्ट, अश्लिष्ट और प्रश्लिष्ट—रखते हैं। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि कोई एक भाषा निश्चित रूप से एक वर्ग में नहीं रखी जा सकती। सभी भाषाओं में कुछ न कुछ सभी वर्गों के लक्षण मिल सकते हैं। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के विषय में इनका मत था कि विभिन्नता के आधिक्य के कारण सफल वर्गीकरण संभव नहीं है।

हम्बोल्ट ने बोलने वाले के मानसिक स्तर में परिवर्तन का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव माना है। शब्दों को धातु पर आधारित मानने के पक्ष में भी वे थे। प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि कभी न कभी ये स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

इनके अनुसार किसी का आरम्भ और अंत हम नहीं जान सकते, इस लिए भाषा की उत्पत्ति के विषय में हमें व्यर्थ में सर खपाना ठीक नहीं। उसके प्राप्त इतिहास का अध्ययन ही पर्याप्त है। हम्बोल्ट ने भाषा के प्रतिदिन के व्यावहारिक रूप पर अधिक न कह कर सूक्ष्म बातों तथा भाषा के दर्शन पक्ष पर ही अधिक विचार किया है।

भाषा-विज्ञान को इनकी सबसे बड़ी देन इनका भाषा के अध्ययन के संबन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का पिता कहा

गया है। जावा की भाषा का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उस संबन्ध में पुस्तक भी लिखी।

६. रैस्मस रैस्क (१७८७-१८३२)

रैस्क डैनिश विद्वान थे। ये शैशवावस्था से ही व्याकरण से विशेष प्रेम रखते थे। बड़े होने पर सबसे अधिक प्राचीन नार्स (आइसलैंड की भाषा) का अध्ययन किया। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैंड का व्याकरण' १८११ में प्रकाशित हुई जो उस समय के लिए एक अभूतपूर्व पुस्तक थी। १८१४ में इन्होंने प्राचीन नार्स पर एक बहुत सुन्दर निबंध लिखा। उसे देखते हुए बहुत से विद्वान रैस्क को आधुनिक भाषा-विज्ञान के पिता मानने के पक्ष में हैं।

रैस्क के अनुसार किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा की गठन एवं शब्द-समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। विशेषतः उस काल के लिये जिसकी कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न हो भाषा से उत्तम और कोई युक्ति नहीं है।

रैक्स ने अपने सारे सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन आइसलैण्डिक भाषा के आरम्भ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यह करते समय उसने सगोत्रीय भाषाओं पर भी विचार किया है। इस सम्बन्ध में इस परिवार की कुछ भाषाओं के सम्बन्धों का उसमें सुन्दर वर्णन है। इसी सिलसिले में रैक्स ने फिनो-उग्रिअन परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण भी किया है जो बहुत ही प्रामाणिक है।

रैस्क भारतवर्ष भी आया था। जेन्द को आर्य परिवार में उचित स्थान दिलाने का श्रेय इसी को है। इसके पूर्व के विद्वानों का इस सम्बन्ध में मत नितांत भ्रामक था। इसके अतिरिक्त रैस्क ने ही सर्वप्रथम द्राविड़ भाषाओं को—जिन्हें वह मालाबारिक कहता है—संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया। कीलाक्षरीय लेखों की दो अस्पष्ट अक्षरों को पढ़ने में भी पहले-पहल रैस्क ही सफल हुआ।

१८१६ में ये देशाटन करने निकले और लगभग ७ वर्षों तक स्वेडेन फिनलैंड, रूस, तुर्की, ईरान तथा भारत आदि में घूमते और भाषाओं का अध्ययन करते रहे।

इन्होंने बहुत सी भाषाओं के व्याकरण लिखे जिनमें प्रमुखतः रूप-विचार सम्बन्धी अंश बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

७. जैकोब ग्रिम (१७८५-१८६३)

फेयरी टेल्स के लेखक यही ग्रिम महोदय हैं। इनका जन्म जर्मनी में एक वकील के घर हुआ था। इन्होंने स्वयं भी वकालत पढ़ी थी। बाद में प्राचीन जर्मन के अध्ययन की ओर झुके। अपने भाई विल्हेम के साथ इन्होंने ग्राम्य संस्कृति संबंधी बहुत सी सामग्री इकट्ठी की और कुछ प्रकाशित भी की। प्राचीन पंडितों की भाँति पहले ये भी भाषा के संबंध में अनुमानित व्युत्पत्ति-शास्त्र पर काम करने लगे पर रैस्क के कार्य और श्लेगेल की आलोचना से इन्हें होश आया और तब इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्री भाषाओं का गंभीर अध्ययन प्रारंभ किया। रैस्क के 'आइसलैन्डिक व्याकरण' का परिचय देते हुए इन्होंने बोलियों और असभ्य भाषाओं के संबन्ध में अपने विचार प्रकट किए थे। अब तक लोगों का अध्ययन केवल प्रचीन भाषाओं तक सीमित था पर, ग्रिम ने वर्तमान भाषाओं और बोलियों के अध्ययन पर ज़ोर दिया।

ग्रिम की सबसे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तक उनका देव भाषा व्याकरण (Deutsche Grammatik) है। यह जर्मन भाषा का व्याकरण १८१९ में प्रकाशित हुआ। जैसा कि भूमिका में उसने लिखा है यह अपने ढंग का प्रथम व्याकरण था। इसमें पूरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। १८२२ में इसका दूसरा संस्करण निकला, जिस पर रैस्क के व्याकरण का बहुत प्रभाव था। उसने स्वयं रैस्क की बहुत तारीफ़ की है।

इस दूसरे संस्करण में ध्वनि-प्रकरण में नवीनता थी। इसी प्रकरण में उसने lautverschiebung (वर्ण परिवर्तन) का विवेचन किया है जिसे मैक्समूलर के बाद से ग्रिम-नियम कहा जाने लगा, यद्यपि इसका बीज रैस्क में है अतः उचित नाम तो रैस्क-नियम ही होता। प्रस्तुत नियम पर हम लोग पीछे ध्वनि नियम प्रकरण में विचार कर चुके हैं।

ग्रिम के गढ़े हुए बहुत से पारिभाषिक शब्द (Umlaut ablaut आदि) आज भी भाषा-विज्ञान में प्रचलित हैं।

इन्होंने अपनी ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा ध्वनि के अतिरिक्त वाक्य पर भी कार्य किया है। इनके व्याकरण के चौथे भाग में यह प्रकरण देखने ही योग्य है।

जीवन के अन्तिम चरण में ग्रिम बर्लिन में अध्यापक थे और अन्त तक भाषा-विज्ञान संबंधी कार्य करते रहे।

८. फ्रान्त्स बाप (१७६१-१८६७)

उस युग के भाषा-विज्ञान के तीन प्रधान स्तंभों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का ही नाम आता है। ये अपनी अवस्था के बीस बर्ष समाप्त करने के बाद ही पेरिस जा पहुँचे और वहा संस्कृत का अध्ययन करने लगे। बाप तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के पिता कहे जाते हैं। इस संबंध में इनकी प्रथम पुस्तक धातु प्रकिया पर १८१६ में प्रकाशित हुई जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप तुलनात्मक ढंग से दिए गए थे। इस के बाद काफी दिनों तक ये संस्कृत-अध्येता के रूप में संस्कृत पुस्तकों का संपादन और उनका अध्ययन करते रहे। संस्कृत की कुछ पुस्तकों से इनके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। १८२२ में बाप प्रसिद्ध बर्लिन एकेडेमी में अध्यापक हुए। इसके बाद १६ वीं सदी के दूसरे चरण में (१८३३ और १८४६ के बीच में) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान लेखक ने इसमें संस्कृत, जेन्द, आर्मीनीयन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्रचीन स्लावियन गाथी तथा जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण दिया है।

बाप प्रधानतः इस बात का अध्ययन करना चाहते थे, कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई। इसके लिये उन्हों ने संस्कृत को अपनाया। और भाषाओं को छोड़ कर संस्कृत को ही क्यों अपनाया इसका भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। ये यह निश्चित रूप से मानते थे कि संस्कृत ग्रीक तथा लैटिन आदि का विकास किसी एक भाषा से हुआ है पर साथ ही यह भी मानते थे, कि उस मूल भाषा की विशेषताएँ संस्कृत में औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। इसी कारण संस्कृत पर ही अपनी खोज आधारित की और प्रथम पुस्तक (धातु प्रक्रिया) में संस्कृत को ही अधार माना तथा इसी तुलनात्मक ढंग से मूल रूपों को जानने की कोशिश की।

इसके अतिरिक्त बाप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी लिखा है।

प्रत्ययों के विषय में हार्नीटुके तथा हम्बोल्ट आदि की भाँति बाप का भी विश्वास था कि ये कभी न कभी स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

स्वरों के सम्बंन्ध में बाप का विचित्र मत था। पहले इनका विश्वास था कि लिपि की अपूर्णता के कारण ही यूरोपीय भाषाओं के ए और ओ के स्थान पर संस्कृत में अ मिलता है। बाद में ग्रिम के प्रभाव से अ, इ और उ को ही उन्होंने मूल स्वर माना, फिर भी ये तथा इनके अनुगामी संस्कृत के अ को मूल भाषा का प्रतिनिधि मानते रहे। १८८० के लगभग 'तालव्य नियम' की खोज के बाद इस भ्रम का निवारण हुआ।

बाप सामी धातुओं को भारोपीय भाषाओं से भिन्न मानते हैं। सामी धातुएँ ठीक ३ वर्णों (letters) की होती हैं। न कम न बेश[1]। इस प्रकार अधिकतर उसमें दो अक्षरें (Syllables) होती हैं। दूसरी ओर भारोपीय धातुओं में वर्णों की संख्या निश्चित नहीं है, पर ने सर्वदा एक अक्षर की होती हैं।

ग्रिम ने अपिश्रुति (ablaut) के अन्तर्गत आने वाले ध्वनि-परिवर्तनों का कारण मनोवैज्ञानिक माना था। ईसका बाप ने विरोध किया और शब्द के अंतिम अंश में इसका कारण निहित बतलाया।

बाप ने श्लेगल के भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बंध में किए गए दो वर्गों को अशुद्ध बतलाया और वृद्ध श्लेगल के तीन वर्गों में कुछ सुधार करने अपना तीन वर्ग इस प्रकार रक्खा— १. चीनी आदि बिना व्याकरण की भाषाएँ, २. भारोपीय आदि एक वर्णीय धातु की भाषाएं तथा ३. तीन वर्णीय धातु की सामी भाषाएँ।

बाप ने सामान्य रूप से भाषा संबंधी बहुत सी समस्याओं को स्पर्श किया पर गहराई में न जा सके। जैसा कि जेस्परसन ने संकेत किया है—गंभीर पाठक के लिए बाप में आलोचना के योग्य बहुत सी बातें मिल जाती हैं।

बाप का सबसे बड़ा सिद्धान्त वाक्य[2] यह था कि भाषा-विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित् परिधि के भीतर ही सत्य होते हैं।

---

१. कुछ धातुएँ २ वर्णों की भी होती हैं यद्यपि इनकी संख्या नहीं अधिक है।

२. Laws of philology are true only within certain limits.

६. पश्च पर एक दृष्टि

यूरोप में संस्कृत के प्रवेश से १९वीं सदी के मध्य तक भाषा-विज्ञान का जो अध्ययन हुआ था, समय की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने पर भी अध्ययन की गहराई और दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। हाँ एक बात अवश्य है कि आगे के अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई थी। इसीलिए उसे कुछ लोगों ने 'उपकरण-संग्रह युग' का भी नाम दिया है।

इन पाँच दशाब्दियों के अध्ययन की मुख्य प्रवृतियों को हम उँगलियों पर गिन सकते हैं—

१. संस्कृत का विशेष महत्व माना जाता था और इसी कारण सभी भाषा-विज्ञानी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते थे।

२. प्राचीन या क्लासिकल भाषाओं का ही अध्ययन प्रधान रूप से किया जाता था। वर्तमान भाषाओं का यदि थोड़ा बहुत अध्ययन हुआ भी तो उनमें भी पुरानी भाषाओं के ही लक्षणों को खोजने की धुन थी।

३. कुछ-कुछ तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी होने लगा था, पर प्रायः सामान्य लक्षणों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

४. परिवारों की कल्पना अपने धुँधले रूप में आने लगी थी।

५. आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर भी लोगों का पर्याप्त ध्यान ने लगा था।

६. प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्द मानने लगे थे।

७. भाषा-विज्ञान को लोग अन्य विज्ञानों की भाँति निश्चित विज्ञान बनाने की आशा रखते थे।

१०. आगस्ट एफ़० पॉट (१८०२-१८८७)

वैज्ञानिक व्युत्पत्ति शास्त्र के ये पिता कहे जाते हैं। इन्होंने इस सम्बन्ध में एक बड़ी पुस्तक लिखी। अब तक तुलनात्मक ध्वनियों का कोष्ठक (table) नहीं बनाया गया था। इसका श्रेय भी पाट को मिला। इसके अतिरिक्त पाट ने बाप के व्याकरण का संस्कार किया।

पाट के समकालीन कुछ और भी विद्वान हुए जिन्होंने-उपर्युक्त तीन महारथियों के मार्ग पर कुछ कार्य किए।

११. के० एम्० रैप

रैप ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनि-शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में इन्होंने एक भारी पुस्तक भी लिखी जिसके चार भाग क्रम से १८३६,' ३६,'४० और' ४१ में प्रकाशित हुए। रैप ने कई देशों में जाकर जीवित भाषाओं का अध्ययन किया। डेनमार्क जाकर रैस्क की शिष्यता स्वीकार की। इनका विश्वास था कि किसी भाषा के प्राचीन इतिहास का अध्ययन अपने में पूर्ण नहीं है। उसे पूर्णता देने के लिए जीवित भाषा का भी अध्ययन अनिवार्यतः आवश्यक है। यह बात ग्रिम के सिद्धान्तों के विपरीत थी। रैप ने एक ओर अन्य बातों के लिए ग्रिम की तारीफ़ की पर इसके लिए उसका घोर विरोध किया। दुःख है कि इस विरोध के कारण ही रैप के ग्रंथ का यथोचित स्वागत न हो सका। इस स्वागत न होने का एक और कारण यह भी था कि कुछ सत्यता और मौलिकता होने पर भी पुस्तक में इतनी अधिक अशुद्धियाँ थीं कि, विद्वानों के समक्ष उसका हेय समझा जाना स्वाभाविक था।

कुछ भी हो, ध्वनि के संबन्ध में रैप का अध्ययन स्तुत्य है। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध स्थापन करके उसने जो ध्वन्यानुकूल अनुलिपि (phonetic transcription)—मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं का—किया है, वह भी कम श्लाध्य नहीं। जेस्पर्सन के इस कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है, कि यदि ग्रिम-आदि विद्वान रैप के मौलिक मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिए होते तो भाषा-विज्ञान के अध्ययन की प्रगति और भी तीव्र हुई होती।

१२. जे० एच० ब्रेडूस्डार्फ

ब्रेडूस्डार्फ डैनिश विद्वान थे। ग्रिम, बाप आदि ने भाषा के विकास के कारणों पर ध्यान नहीं दिया था। इस ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय ब्रेडूस्डार्फ को है। इस सम्बन्ध में इनका ग्रन्थ १८२१ में प्रकाशित हुआ। यों तो ये प्रधानतः ध्वनिशास्त्र के विशेषज्ञ थे, पर उक्त ग्रंथ में इन्होंने भाषा के सामान्य परिवर्तन के कारणों पर भी विचार किया और उन्हें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया। संक्षेप में हम कारणों को गिन सकते हैं—१. शब्दों को अशुद्ध सुनना या उनके अर्थ को न समझना, २. अशुद्ध स्मरण ३. ध्वनि-

अवयव की अपूर्णता, ४. आलस्य (विदेशी प्रभाव के अतिरिक्त होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों में लगभग ६० प्रतिशत का कारण ब्रेंड्स्डार्फ इस आलस्य को ही मानते हैं।), ५. सादृश्य की ओर जाने की प्रवृत्ति, ६. स्पष्ट होने का प्रयास, तथा ७. नये विचारों को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता। इसके अतिरिक्त ब्रेंड्स्डार्फ यह भी मानता है कि कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जो उपर्युक्त कारणों से घटित हुए नहीं कहे जा सकते और उनमें से अधिक के मूल में विदेशी प्रभाव कार्य करता है।

यह कहना न्याय-संगत ही होगा कि बहुत सी बातों में (सादृश्य आदि) ब्रेंड्स्डार्फ अपने युग से बहुत आगे था।

१३. रुडल्फ राथ (१८२१-१८६५) तथा ओटो बाटलिंक (१८१५-१६०४)

ये दोनों ही संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान तथा भाषा-शास्त्र वेत्ता थे। इन दोनों ने मिलकर St. Petersburg Dictionary of skt. नामक संस्कृत का एक बहुत बड़ा कोष तैयार किया। इस कोष की विशेषता यह है प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातु तक दी गई है।

१४. आगस्ट श्लाइखर (१८२१-६८)

यूरोप में संस्कृत-प्रवेश के समय से भाषा-विज्ञान का आधुनिक युग मान कर यदि हम इस युग के दो भाग कर दें तो प्रथम चरण के ऊर्ध्व विन्दु पर श्लाइखर आसीन मिलते हैं। इनके बाद आधुनिक युग का दूसरा चरण आरम्भ होता है, जिसके ध्येय और मार्ग दोनों ही कुछ भिन्न हैं।

श्लाइखर शुरू से आखीर तक भाषा-विज्ञानी — स्वयं अपने शब्दों में 'Glottiker' था। उसे कई भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था तथा उसकी विवेचन शैली बहुत ही प्रौढ़ और दो टूक थी। इन्हीं सब कारणों से बहुत दिनों तक उसकी पुस्तकें इस क्षेत्र में प्रामाणिक समझी जाती रहीं और वह अग्रणी बना रहा।

श्लाइखर स्लावोनिक और लिथुआनिअन का विशेषज्ञ था, और विशेषतः लिथुआनिअन को तो वहाँ जाकर उसने सीखी तथा बहुत सी कथाओं और गीतों को वहाँ के किसानों के मुँह से सुन कर नोट भी किया था। वह कुछ दिन तक प्रेग विश्वविद्यालय में अध्यापक था जहाँ उसे जेक सीखने का भी

अवसर मिला। रूसी का भी उसे ज्ञान था। इस प्रकार कई भाषाओं का वह पूर्ण ज्ञाता था। शैशवावस्था में उसके पिता उसे ग्राम्य वातावरण से दूर रखकर शुद्ध भाषा की शिक्षा देना चाहते थे। इसकी प्रतिक्रिया इतनी हुई कि जन भाषा की ओर ही वह विशेष झुका, और जन गीतों पर पुस्तकें तक लिखीं। इस प्रकार मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं की ओर श्लाइखर की रुचि थी।

भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त श्लाइखर दर्शन तथा भौतिक-विज्ञान का भी प्रेमी था। इनके बहुत से सिद्धान्तों को उसने भाषा-विज्ञान में भी लागू किया। विशेषत: हिगेल का वह बहुत ऋणी है। उसकी प्रथम दो पुस्तकों के आमुख पूर्णतः हिगेल से प्रभावित हैं। डारविन की भाँति वह भाषा को भौतिक वस्तु (Malerial Thing) मानता था। इसके लिए विरोध भी हुआ था जिसके फलस्वरूप उसे उत्तर में एक पुस्तक लिखनी पड़ी।

भौतिक विज्ञान से वह भाषा को इतनी मिली मानता था कि मनुष्यों का वर्गीकरण खोंपड़ी या बालों के आधार पर न कर, भाषा के आधार पर करना अधिक ठीक मानता था। उसका कहना था कि भाषा अधिक स्थिर चीज़ है।

भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी हिगेल के त्रयवाद (trilogies) के आधार पर वह तीन वर्ग बनाता है—

क. अयोगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ का बोध होता है।

ख. अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ और सम्बन्ध दोनों का बोध होता हैं।

तथा, ग. श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—जिनमें अर्थ और सम्बन्ध प्रकट करने वाले अंग आपस में मिले रहते हैं।

इन तीनों वर्गों को उसने बीजगणित की भाँति धातु = R, उपसर्ग = P, प्रत्यय = S तथा आंतरिक परिवर्तन = X मानकर समझाया भी है। इस वर्गीकरण को ह्विटनी तथा मैक्स मूलर ने पूर्णतः मान लिया था यद्यपि भाषा-विज्ञान की विशुद्ध दृष्टि से कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं।

श्लाइखर की सबसे मौलिक देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निमाण है। इसके पुनर्निमाण का विचार उसके मस्तिष्क में बहुत पहले से नाच रहा था, पर उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्पेंडियम' के पूर्व इस विचार पर वह विस्तार पूर्वक विचार न कर सका। इस पुस्तक में उसने उस मूल भाषा के स्वर, व्यंजन, धातु तथा रूप-रचना आदि पर स्वतंत्र अध्यायों में विचार किया। मूल भाषा के सम्भावित रूपों को देते हुए उनसे निकलने वाले संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा गाथिक आदि रूपों को भी दिया। इन संभावित रूपों में उसने एक कहानी (Avis Akvasas ka) भी लिख डाली। इस कहानी की भूमिका में उसने अपनी कठिनाइयों का निर्देश करते हुए ध्वनि तथा व्याकरण के रूपों के सम्बंध में मूल भाषा के बहुत समीप होने का विश्वास दिलाया है। इस प्रकार अनुमानसिद्ध भाषा का निर्माण भाषा विज्ञान के लिए बहुत उपयोगी नहीं कहा जा सकता, इसी कारण बाद के भाषा-विज्ञानियों ने इस ऐसा फिर कोई प्रयास नहीं किया।

बॉप के कार्य को आगे बढ़ाने का तथा पीछे की सारी खोजों को ठीक से सजाने का श्रेय भी श्लाइखर को ही है। १९वीं सदी के अंतिम तथा २० वीं के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता कार्ल ब्रुगमैन इन्हीं के शिष्य हैं।

१५. कुर्टिअस (१८२०—१८८५)

कुर्टिअस श्लाइख़र के समकालीन थे और प्रेग विश्वविद्यालय में उसके साथ काम कर चुके थे। भाषा-विज्ञान सम्बंधी विद्वत्ता में उस युग में श्लाइख़र के बाद इन्हीं का नाम आता है। इसी कारण नवीन भाषा विज्ञानियों की आलोचना की कटु बौछार श्लाइख़र की मृत्यु के बाद कुर्टिअस को ही सहनी पड़ी।

इनका विशेष अध्ययन ग्रीक का था। ग्रीक क्रिया तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति सम्बंधी इनके ग्रंथ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ध्वनि-नियमों में इनका भी विश्वास था, पर नव-युग के विद्वानों की भाँति ये इस बात को नहीं मानते थे, कि ध्वनि-नियम के अपवाद नहीं होते। नव-युग के विद्वान प्राचीन

भाषाओं की पद-रचना में भी सादृश्य का बहुत अधिक प्रभाव मानने लगे थे, पर कुर्टिअस ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नव-युग की इन मान्यताओं के विरुद्ध कुर्टिअस ने अपने अंतिम काल में एक पुस्तक भी लिखी। इस प्रकार अंत तक ये नवीनतावादियों के विरुद्ध लड़ते रहे।

१६. निकोलई मैडविग

ये प्रमुखतः ग्रीक और लैटिन के विद्वान थे। भाषा-विज्ञान के सामान्य नियमों के विवेचन की ओर भी इनकी अभिरुचि थी। भाषा के सम्बंध में रहस्यवादी भावनाओं या दैवी बातों के विरोधी थे। तर्कवाद उनका मूल मंत्र था, पर इस तर्कवाद की धारा में वे इतने आगे बढ़ गए कि हम्बोल्ट आदि ने जिस ध्वनि-प्रतीक (sound- symbolism) पर इतना बल दिया था उसकी स्थिति ही अस्वीकार कर दी। व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सम्बंधी अध्ययन को बहुत अधिक महत्व नहीं देते थे। विद्वान होने पर भी केवल डैनिश भाषा में लिखने के कारण ये अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके। १८७५ में प्रकाशित अपनी जर्मन पुस्तक की भूमिका में इन्होंने लिखा भी है कि ह्विटनी आदि जिन सिद्धांतों के कारण इतने प्रसिद्ध हुए उनको ये ये वर्षों पहले निकाल चुके थे, पर किसी प्रसिद्ध भाषा में न लिखे जाने के कारण संसार इनको न जान सका।

१७. इस युग के कुछ प्रसिद्ध विशेषज्ञ

इस युग के पूर्व तक लोग अधिकतर सभी प्रसिद्ध भाषाओं पर कार्य करते थे। पर इस युग विशिष्ट में विशिष्ट भाषाओं के कुछ विशेषज्ञ भी हुए। इन विशेषज्ञों ने तुलनात्मक ढंग पर भाषाओं के इतिहास का विवेचन किया। ग्रीक के विशेषज्ञ कुर्टिअस का उल्लेख हम लोग ऊपर कर चुके हैं। संस्कृत के बहुत से विशेषज्ञों में वेस्टरगार्ड और बेनफी का नाम अग्रगण्य है। इसी प्रकार स्लावोनिक के श्लाइख़र और मिक्लोसिख़, तथा केल्टिक के जेउस आदि प्रसिद्ध हैं। रोमानिक के विशेषज्ञों में फ्रेड्रिख़ डीज़ सर्वोपरि हैं। ग्रिम के बतलाए रास्ते पर जर्मेनिक पर भी बहुत से लोगों ने कार्य किया।

१८. फ्रेड्रिख़ मैक्समूलर (१८२३—१६००)

भाषा-विज्ञान का इतना अध्ययन हुआ पर अभी तक उसका प्रचार केवल इसके विद्वान वर्ग में था। अन्य लोग उससे पूर्णतः अपरिचित थे। इस परिचय कराने के कार्य को मैक्समूलर ने किया। १८६१ में उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि इस सूखे विषय को भी इन्होंने मनोरंजक बना दिया और इसका फल यह हुआ कि भाषा-विज्ञान की ओर बहुत से लोग झुके। इनके ग्रंथ का नूतन संस्करण २६ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। नूतन संस्करण की भूमिका में इस बीच हुई खोजों का परिचय देते हुए मैक्समूलर ने नवयुगीन भाषा-विज्ञानियों के लगभग सभी सिद्धान्तों को मान लिया।

मैक्समूलर प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। इसी कारण उनके व्याख्यान या पुस्तकें जितनी मनोरंजक और आकर्षक हैं उतनी गहरी नहीं है। ध्यान से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहाँ वे किसी प्रश्न को लेकर चलते हैं और बीच ही में मनोरंजक व्युत्पत्ति आदि के फेर में पड़ कर अपना मूल विषय ही भूल जाते हैं।

श्लाइख़र की बहुत सी बातों को उन्होंने बिना विश्लेषण किए मान लिया है। उदाहरणार्थ भाषा-विज्ञान को एक भूत विज्ञान मानते थे पर उसे फिलोलोजी (Philology) से भिन्न मानते थे, जो उनकी दृष्टि में एक ऐतिहासिक विज्ञान है। पर यह केवल उनका मानना मात्र था। जहाँ उन्होंने भाषा-विज्ञान को भूत-विज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया है वे असफल ही रहे हैं।

प्रकार-कार्य के साथ ही मैक्समूलर ने जो सबसे बड़ा कार्य किया वह उनका संग्रह-कार्य है। परिचय देने के लिये उन्होंने भाषा के उद्गम, भाषा की प्रकृति, भाषा का विकास, विकास का कारण, तथा भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषयों पर हुए कार्यों के परिणामों को एकत्र कर दिया।

मैक्समूलर भारत के बहुत बड़े हिमायती थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को संसार में उचित स्थान दिलानेवालों में उनका नाम सबसे

ऊपर है। 'पूरब की पवित्र पुस्तकें' माला में उन्होंने पचासों पुस्तकों के अनुवाद किए हैं। औपनिषदिक दर्शन, एवं जातियों के धर्मानुष्ठान-पद्धति पर भी उन्होंने पर्याप्त लिखा है। तुलनात्मक पौराणिक कथा तथा धर्म के विज्ञान पर कार्य करने वाले ये प्रथम व्यक्ति हैं। सायण भाष्य के साथ इनका जो ऋग्वेद का संस्करण है अब तक प्रामाणिक माना जाता है।

भाषा-विज्ञान के संबंधित इनके तीन अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनके पूर्व विद्वानों का ध्यान अर्थ-विचार पर नहीं के बराबर था। इन्होंने पहले पहल इसकी ओर ध्यान दिया। आर्यों की मूल भाषा पर तो विचार हुआ था पर उनके मूल स्थान पर विशेष नहीं। मैक्समूलर ने इस पर भी पर्याप्त कार्य किया और मूलस्थान मध्येशिया निश्चित् किया। इसका तीसरा कार्य नागरी लिपि के प्रचार का है। इनके पूर्व यूरोप आदि में कौन कहे भारत के भी सभी प्रांतों में नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयास के फलस्वरूप यूरोप तथा भारत दोनों ही में इसकी वैज्ञानिकता सराही गई और संस्कृत आदि के लिये इसका प्रयोग होने लगा।

१६. विलियम ड्वाइट ह्विटनी (१८२७—१८९४)

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रथम अमेरिकन विद्वान ह्विटनी हैं। ये न्यू-हेवन के येल कॉलेज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने अपनी पुस्तक भाषा और भाषा का अध्ययन १८६७ में लिखी। दूसरा ग्रंथ 'भाषा का जीवन और विकास' १८७५ में लिखा गया। इनको संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण १८७९ में निकला जो अपने ढंग का अकेला है। विद्वत्ता की दृष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक योग्य कहे जाते हैं, पर अंग्रेजी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारत में इनका यथोचित आदर एवं प्रचार न हो सका, जिसका इन्हें बहुत दुःख था। इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी पर दूसरी ओर उनकी अपेक्षा अधिक गंभीर और ठोस थी। मैक्समूलर से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्दिता चली। इन्होंने उनके बहुत से काल्पनिक सिद्धांतों की आलोचना की और उन्हें ठीक भी किया। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तकों में उदाहरणों का कहीं-कहीं दुरुपयोग किया है। इन सबकी आलोचना भी ह्विटनी ने अनेक लेखों में की। मैक्समूलर ने इन आलोचनाओं का उत्तर

अपनी पुस्तक chips prom a German workshop में दिया। ह्विटनी ने अंत में एक 'मैक्समूलर और भाषा-विज्ञान' नाम की छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी। भाषा की परिभाषा के संबंध में भी दोनों में पर्याप्य अंतर था। मैक्समूलर के लिए वह भूत विज्ञान थी पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानता था। उसके लिए भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी।

इतना होने पर भी दोनों बहुत सी बातों में एक थे। दोनों ने पिछले अर्द्ध-शताब्दी के किए गए कार्य को इकट्ठा किया तथा दोनों ही प्रधान रूप से गंभीर भाषा-विज्ञानी नहीं थे। उनके लगभग सभी सिद्धांत आज सामान्य हो गये हैं। जिन बातों को उन्होंने शाश्वत समझ कर उच्चरित किया था वे भी आज के लिए केवल ऐतिहासिक महत्व की रह गई हैं।

[ख] नव-युग

यों तो किसी भी युग का आरंभ किसी निश्चित् सन् या दिन से नहीं होता, पर जैसा कि कहा जाता है, नव युग का आरम्भ हम १९वीं सदी के तृतीय चरण से मान सकते हैं। इस समय भाषा-विज्ञानियों की एक नई शाखा चली उसे प्राचीन विद्वानों ने नौसिखियों की शाखा (Junggrammatiker) या नव्य शाखा कहा। सबसे पहले दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध ध्वनि को लेकर चला। नव्य शाखा वालों का विशेषतः लेस्कीन का कहना था कि ध्वनि-नियमों के अपवाद नही होते, पर प्राचीन शाखा वाले इसे मानने को तैयार न थे। इस न मानने के लिए पर्याप्त कारण भी था। वे देख चुके थे कि प्रसिद्ध ग्रिम-नियम अपवादों से भरा है। इस प्रथम विरोध के बाद फिर दोनों शाखाओं में काफी चखा-चखी रही और पुराने लोग नयों की बड़ी हँसी उड़ाते रहे, जैसा कि प्रायः होता आया है, पर अंत में जैसा कि हम लोग देखेंगे नई शाखा की सभी बातें लगभग सत्य निकलीं, जिसके फलस्वरूप प्राचीनों को झुकना पड़ा। आज नई शाखा के सिद्धान्तों का ही बोलबाला है। इसका केन्द्र बहुत दिन तक लिपज़िग में रहा है।

१. हेमैन स्टेन्थल (१८२५ १८६६)

भाषा-विज्ञानियों की नव्यशाखा का इनको अग्रणी कहा गया है। ये व्याकरण और भाषा-विज्ञान के साथ साथ तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रकांड पंडित थे। इनके पूर्व भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा नहीं लिया जाता था। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। स्टेंथल का प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ जिसमें इन्होंने मनोविज्ञान तर्कशास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक संबन्ध का विवेचन किया। श्लाइख़र आदि ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्वविंदु पर थे, इस पुस्तक की ख़ूब खिल्ली उड़ाई। भाषा के मनोविज्ञान पर स्टेंथल के और भी ग्रंथ प्रकाशित हुए। इसने अपने इस नूतन पथ के लिए प्रेरणा हम्बोल्ट के ग्रंथों से ली थी।

भारोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन पर्याप्त हो चुका था, इसलिए स्टेंथल ने विशेषत: चीनी तथा अफ्रीका की मन्डे निग्रो भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ लोग इनको इसलिए भी हीन समझते थे। इनकी शैली अच्छी नहीं थी। समझी बात को भी स्पष्ट रूप से नहीं रख पाते थे। इन्हीं सब कारणों से प्रसिद्धि न पा सके। कुछ भी हो, जीवित भाषाओं के अध्येता, अस्पर्शित भाषाओं पर कार्यकर्ता, एवं भाषा-विज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान की महत्ता के अंगुलि-निर्देशक के रूप में स्टेंथल का नाम अवश्य ही महत्वपूर्ण है।

२. कार्ल ब्रुगमैन

नव्यशाखा के विद्वानों में ये सब अधिक प्रसिद्ध हैं। आगे इस शाखा या युग की मूल प्रवृत्तियों के रूप में जो कुछ भी नई बातें कही जायेंगी, लगभग सभी में इनका हाथ है।

ब्रुगमैन का सबसे बड़ा कार्य भारोपीय भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में है। यह बड़े-बड़े चार भागों में समाप्त हुआ है। इनके समय तक वाक्य के संबन्ध में भी कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ था। इन्होंने इस दिशा में भी उक्त व्याकरण के पंचम खंड में कार्य किया है। हर्मन ओस्टाफ के साथ इनका मिश्रित कार्य रूप-रचना पर है। यह ग्रंथ नई शाखा की गीता के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रुगमैन का अनुनासिक सिद्धांत (Sonant nasal theory) भी प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया।

३. नवयुग के शेष प्रधान भाषा-विज्ञानवेत्ता और उनके प्रमुख कार्य

ग्रासमैन ने अपने ग्रासमैन नियम (ध्वनि-नियम प्रकरण में वर्णित है) की खोज की और ग्रिम नियम के कुछ अपवाद इससे समाप्त हो गये।

शेष अपवादों में से कुछ को दूर करने के लिए डेन विद्वान **कार्ल वर्नर** ने १८७७ में वर्नर नियम (ध्वनि-नियम प्रकरण में है) खोज निकाला। इस समय की खोजों में इसका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

१८७० में **अस्कोली** ने खोज निकाला कि मूल भारोपीय भाषा में क और च वर्ण क के उच्चारण में मिल गए। इससे भी ग्रिम के कुछ अपवाद समाप्त हो गए। अस्कोली की खोज से भारोपीय परिवार की केन्तुम् और सतम् दो प्रधान शाखाएँ भी बनाई गई। परिवारिक वर्गीकरण में भरोपीय कुल पर विचार करते समय हम लोग इसे विस्तार से देख चुके हैं।

ऊपर 'वाक्य' के अध्ययन के सम्बंध में हम ब्रुगमैन का उल्लेख कर चुके हैं। इस कार्य के श्री गणेश करने वाले के रूप में **लांगे** का भी नाम प्रसिद्ध है जिसने १८५२ में इस विषय पर कुछ लिखा था। इन दो के अतिरिक्त इस सम्बंध में **बी० डेलब्रुक** का नाम भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने वाक्य-विचार पर काफी लिखा है। ध्वनि-नियमों को बिना अपवाद का मानने वालों में भी इनका नाम आता है।

जैसा कि आगे हम देखेंगे, इस नवयुग में भाषा के बनने में सादृश्य का बहुत अधिक हाथ है। इस बात पर अधिक बल देने वाले तथा सादृश्य का सर्वप्रथम पूर्णरूपेण विवेचन करने वाले **हर्मन पाल** हैं। इस युग के पूर्व भाषा-परिवर्तन के कारणों पर भी विद्वानों का ध्यान नहीं के बराबर गया था। अब इस ओर भी लोगों का ध्यान गया और १८८० के लगभग, 'भाषा-परिवर्तन के क्या कारण हैं ?' 'वे कैसे कार्य करते हैं ?' 'उन कारणों

का वर्गीकरण कैसे किया जा सकता है ?' आदि प्रश्नों पर विचार होने लगा था। यों तो इस सम्बंध में छोटे मोटे कई लेख निकले पर प्रामाणिक पुस्तक १८८० में प्रकाशित हुई। इसके लेखक भी पाल महोदय ही थे। इस पुस्तक का युग पर अधिक प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक के अन्य नवीन संस्करणों में काफी सुधार किया गया और पुस्तक और भी उपयोगी हो गई। पालने वाक्यों पर भी विचार किया, साथ ही सामान्य सिद्धांतों पर भी प्रकाश डालने का श्रेय इन्हें हैं। कहना न होगा कि नव युग के नेताओं में इनका महत्व-पूर्ण स्थान है।

हर्मन अस्थाफ का कहना था कि ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध स्थूल अवयवों से है, पर सादृश्य के आधार पर हुए परिवर्तन मनोविज्ञान से सम्बंध रखते हैं। बाद में इस धारणा की असत्यता सिद्ध हो गई। इनके अतिरिक्त ध्वनि के सम्बंध में कार्य करने वालों में **एडलंग, कालिट्ज़, बार्थोलोमे, बेख्टेल्, फोर्टूनेटोव् मेल्लेट्, हिर्ट स्ट्रेटवर्ग** आदि का नाम भी उल्लेख्य है। ध्वनि पर प्रयोगात्मक कार्य करने वालों में **रोजापेल्ली, ओकले कोटस, स्क्रिप्चर** तथा **डैनियल जोन्स** हैं।

वाक्य तथा रूप पर ब्रुगमैन, डेलब्रुक, पाल आदि के अतिरिक्त **जीमर** ने भी कार्य किया है।

अर्थ पर सबसे प्रसिद्ध कार्य कर्ता फ्रेंच विद्वान **मिकेल ब्रील** हैं। **ओर्टलऔर टकरने** भी इस पर कार्य किया है। **वेस्टफ़ाल** और **सीवर्स** ने छन्द पर कार्य किया है।

इधर विशिष्ट भाषा-परिवारों या भाषाओं पर भी कार्य किया जा रहा है। चीनी के **स्टैंसिला भूलें, विलियम्स, लेग, श्लेगेल, गाइल्स, शावान** तथा **कार्लग्रेन** हैं। इनमें सबसे अधिक कार्लग्रेन ने कार्य किया है।

सेमेटिक आदि की ओर झुकने वालों में **हौप्ट, बार्थ, ब्रौकेलमान** तथा **मोलर** आदि हैं। मोलर ने ब्रुगमैन आदि की भाँति मूल सेमेटिक के व्याकरण पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। मिश्री के विद्वानों में **शैंपोलोई, लेप्सिअस,** और **दे रूग** प्रसिद्ध हैं।

अफ्रीका में कार्य करने वालों में **रीनिश, ब्लीक, क्राफ,** तथा **टोरेंड** आदि हैं।

इसके अतिरिक्त वूँड्ट (जर्मन), वेन्द्रीए (फ्रेंच), ब्लूमफील्ड (अमेरिकन), तथा जेस्पर्सन (डैनिश) आदि भी प्रसिद्ध विद्वान हैं। विशेषत: जेस्पर्सन ने सामान्य विकास के सम्बंध में अभूतपूर्व कार्य किया है।

भाषा-विज्ञान का केन्द्र लगभग डेढ़ सौ वर्ष जर्मनी में रहने के बाद इधर फ्रांस चला आया है।

४ नव-युग में किए गए प्रधान कार्य

इस युग के पूर्व की कई प्रधान समस्याएँ जिनपर भाषा-विज्ञानी प्राय: अपना सर खपाया करते थे, व्यर्थ कह कर छोड़ दी गईं। इनमें से दो प्रधान की ओर हम यहाँ संकेत कर सकते हैं। प्रत्ययों के संबन्ध में लोगों का विचार था कि वे किसी अर्थवान शब्द के अवशेष हैं, और इसी आधार पर लोग उनके मूल को खोजने का प्रयास किया करते थे। नवयुग के विद्वान इस ओर से बिल्कुल विमुख हो गये। इसी प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विचार करना लगभग आवश्यक सा समझा जाता था। इस पर विचार करना अब अनावश्यक समझा गया। इसका विरोध तो यहाँ तक हुआ कि पेरिस की भाषा-विज्ञान-परिषद् ने अपने यहाँ इस सम्बंध में किसी प्रकार का विचार करना वैधानिक रूप से वर्जित कर दिया।

प्राचीन युग में व्युत्पत्ति पर अवैज्ञानिक कार्य बहुत हुआ था। आधुनिक काल में प्रत्नयुग के अंत तक भारोपीय परिवार के शब्दों में लगभग ६० प्रतिशत पर वैज्ञानिक कार्य हो गया और इस प्रकार नवयुग में कम से कम भारोपीय परिवार में व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक कार्य नहीं रह गया था, अत: इस ओर भी विद्वानों का ध्यान कम जाना स्वाभाविक हो गया।

१८८० के समीप तालव्य नियम[1] की खोज हुई जिसके फलस्वरूप लोगों का यह विचार कि संस्कृत मूल के अधिक समीप हैं बदल गया। इस खोज से भारोपीय परिवार की ध्वनि सम्बंधी कुछ समस्याओं तथा अपवादों का समाधान भी हो गया।

मूल भारोपीय भाषा के अ, ऍ, ऑ, तीन मूल स्वर निश्चित हुए। अब तक लोगों का विश्वास था कि धातु का मूल रूप ही आरंभिक है, पर यह भ्रामक सिद्ध हुआ और गुण वृद्धि वाले रूप ही आरंभिक माने गये। साथ ही धातुओं को एक से अधिक अक्षरों का मानना पड़ा।

---

१. ध्वनि-नियम के अंतर्गत इसपर विचार किया जा चुका है।

ग्रासमैन तथा वर्नर नियम का पता चला जिसके फलस्वरूप ग्रिम नियम के अपवाद कम हो गए।

ध्वनि नियम के सम्बंध में प्राचीन विद्वान अपवादों का होना ठीक मानते थे पर अब इसका पूरा विरोध हुआ। लोगों का यह विचार हुआ कि ध्वनि-नियम बिना अपवाद छोड़े अंधाधुन्ध अपना कार्य करते जाते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि ऐसी बात है तो ग्रिम आदि नियमों के अपवाद क्यों मिलते हैं। नव्यशाखा (जुंग्रैमेटिकर) वाले इसका उत्तर यों देते हैं कि जो अपवाद हैं वे स्वयं किसी अन्य ध्वनि नियम के उदाहरण हैं। उनका यह भी कहना है कि इतने ध्वनि-नियमों की खोज के बाद भी यदि कुछ अपवाद शेष हैं तो इसका आशय यह नहीं कि वे यथार्थतः अपवाद हैं, बल्कि इसका इतना ही अर्थ है कि वे किसी अन्य ऐसे ध्वनि-नियम के उदाहरण हैं, जिनकी खोज अभी तक नहीं हो सकी हैं। बहुत सम्भव है कि भविष्य में विद्वान नवीन ध्वनि-नियमों की खोज में सफल हों और ये अपवाद समाप्त हो जायँ।

अब तक सादृश्य[1] का भी कोई महत्व पूर्ण स्थान नहीं था, पर नए विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि भाषा के विकास में तथा भाषा के रूपों के नियमित होने में सबसे बड़ा हाथ सादृश्य का हैं। सादृश्य के प्रथम प्रौढ़ विचारक पाल हैं। ब्रील आदि ने भी इस पर विस्तार के साथ विचार किया है।

भाषा-परिवर्तन के कारणों की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया और लोगों ने इस पर गंभीरता से विचार कर इसका विवेचन तथा वर्गीकरण किया।

भाषा पर वाक्य रूप में विचार हुआ और इस प्रकार भाषा विज्ञान भाषा के अक्षुण रूप के अधिक निकट आ गया।

यंत्रों[2] के सहारे ध्वनि आदि का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ हुआ, जिसके कारण अनेक बातो के संबंध में लोगों के मत अधिक निश्चित हो गए तथा प्राचीन भ्रांतियाँ दूर हो गईं।

१. परिशिष्ट में इस पर विस्तार से विचार किया है। २. परिशिष्ट देखिए।

पद-विन्यास पर भी कार्य आगे बढ़ा। छंद पर वेस्ट फाल आदि ने तुलनात्मक आलोचना आरंभ की।

५. मूल प्रवृत्तियाँ

(१) जीवित भाषाओं का अध्ययन प्राचीन भाषाओं से अधिक महत्व-पूर्ण माना जाने लगा, जिसके फलस्वरूप संसार की भिन्न भिन्न वर्तमान भाषाओं का अध्ययन विद्वान लोग करने लगे।

(२) सादृश्य पर बहुत बल दिया गया और इसकी विशिष्ट दृष्टि से भाषा का अध्ययन भी होने लगा।

(३) भाषा को देखने का दृष्टिकोण भी बदला। अब तक व्याकरण के नियमों से बँधी भाषा पर जोर दिया जाता था। जीवित भाषा का भी केवल व्याकरण सम्मत रूप ही पढ़ा जाता था, पर अब बोलने वालों की दृष्टि से उसे देखा जाने लगा। शब्द से अधिक उसके भाव पर बल दिया जाने लगा। मनोविज्ञान से भी सहायता लेनी आवश्यक समझी गई।

(४) भाषा की उत्पत्ति तथा उसके आकृतिमूलक वर्गीकरण को व्यर्थ समझकर इस ओर विचार करना छोड़ दिया गया।

(५) बोलियों की आपसी लेन देन की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा, क्योंकि इससे भाषा के विकास की दशा को समझने में काफी सहायता मिल सकती है। इस संबंध में लोगों का यह भी विश्वास हो गया कि विशुद्ध भाषा का मिलना असंभव है। सभी भाषाएँ संसर्ग के कारण इधर उधर की भाषाओं से अवश्य ही प्रभावित होती हैं।

(६) भाषा को चिर विकसित होनेवाली मान कर उसके नवीनतम रूप को भी भाषा का शुद्ध रूप समझा गया और इसी धारणा के कारण जन भाषा के प्रति भी आदर का भाव बढ़ा तथा लोग प्रति १० वर्ष पर नए व्याकरण की कमी को महसूस करने लगे। अर्थात भाषा को बाँध रखने की भावना समाप्त हो गई और उसके नव रूप का स्वागत होने लगा। आज साहित्य में इन्ही सब कारणों से जन भाषा से उधार लिए हुए प्रयोग बढ़ते जा रहे हैं। हो सकता है कि युग की प्रगतिवादी विचार धारा का ही यह प्रभाव भाषा विज्ञान की प्रवृत्ति पर भी पड़ा हो।

———

परिशिष्ट

[क]

सादृश्य (analogy)

मनुष्य स्वभाव से ही आलसी होता है। किसी नई चीज के बनाने में या नया कार्य करने में बहुधा वह अपने प्राचीन पथ का आधार लेता है। नवीन बात सोचना, कार्य में नवीनता लाना या नए ढर्रे से किसी वस्तु का निर्माण कष्टप्रद है, अतः वह इस कार्य को तब तक नहीं करना चहता जब तक कि अत्यावश्यक न हो। सादृश्य (औपम्य, उपमान) मनुष्य के इस स्वभाव का बड़ा प्रमाण है।

नए शब्दों को पुराने के आधार पर बनाने के अतिरिक्त पुराने शब्दों को भी कभी कभी हम किसी पुराने के अधार पर उसी जैसा बना देते हैं। इसका कारण भी हमारी सुविधा ही है। हम शब्दों को याद रखने की सुविधा से वर्गों में रखना अधिक पसन्द करते हैं। वर्गों में रखने के लिए रूप की समानता आवश्यक है। अतः बहुधा पुराने रूप भी दूसरे के अधार पर परिवर्तित कर लिए जाते हैं। सैंतिस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतिस और पैंतालिस के सादृश्य पर ही आधारित है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा के आरंभकाल में बहुत से रूप रहे होंगे। धीरे धीरे सादृश्य के आधार पर ही रूपों की विभिन्नता दूर हुई होगी। अंग्रेजी की बली (.Strong) क्रियाएँ इसी अधार पर धीरे धीरे बलहीन (Weak) होती जा रही हैं। एक समय ऐसा भी असंभव नहीं है जब एक भी बली क्रिया अंग्रेजी में शेष न रहे।

मिथ्या सादृश्य (False analogy)

सर्व प्रथम रोमांस भाषाओं के अध्ययन में लोगों का ध्यान इस ओर गया। उस समय लोग इसे सादृश्य न कह कर मिथ्या सादृश्य कहते थे। बाद में इस आधार पर कि, सभी सादृश्य मिथ्या हैं, मिथ्या शब्द को निरर्थक समझा गया और मिथ्या सादृश्य के स्थान पर सादृश्य का प्रयोग होने लगा।

क्या सादृश्य एक कारण है ?

अधिकतर लोग ऐसा समझते है कि सादृश्य स्वयं एक कारण है और इसी कारण से परिवर्तत होते हैं। यथार्थतः यह बात नही है। सादृश्य पर आधारित परिवर्तनों का कारण सादृश्य नहीं है। उसका कारण तो सुविधा या सुख है। सादृश्य तो एक साधन मात्र है, जिससे सुविधा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये 'मझ' शब्द 'तुझ' के सादृश्य पर 'मुझ' हो गया। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'मझ' 'तुझ' के सादृश्य के कारण 'मुझ' होगया अपितु यह कहना उचित है कि याद रखने की सुविधा के कारण 'तुझ के आधार पर 'मुझ' बना लिया गया। 'तुझ' का सादृश्य तो आधार या साधन मात्र है। अतः यह कहना अशुद्ध है कि सादृश्य किसी परिवर्तन का कारण है।

सादृश्य की गति

इसकी गति गणित की भाँति है।

१: २ : : ६ : १२

संस्कृत में केवल युग्म शब्दों के लिए द्विवचन का प्रयोग होता था। पादौ, कर्णौ, पितरौ। बाद में विलोम युग्म के लिए भी प्रयोग होने लगा। लाभालाभौ जयाजयौ। कुछ दिन बाद सादृश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी यही बात आने लगी। सिंह-मृगालौ,राम-लक्ष्मणौ आदि।

अंग्रेजी में Shall से Should और will से would बना तो यहाँ Shall और will में l होने से, l होना अस्वाभाविक नहीं था, पर इसी के सादृश्य पर Can में l न रहते हुए भी Could में l ला दिया गया।

छोटे लड़के या नवीन भाषा सीखनेवाले सादृश्य के अधार पर अधिकतर रूप बना लेते हैं। अंग्रेजी में s लगाकर बहुधा बहुवचन बनाया जाता है। नया विद्यार्थी कभी कभी उसी सादृश्य पर Box से Boxes देख कर Ox से Oxes कर देता है। नया हिंदी सीखने वाला इसी प्रकार मर से मरा, धर से धरा देख कर कर से करा कह बैठता है।

सादृश्य के कुछ प्रधान कारण

यों तो सुविधा के लिए सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है पर उस सुविधा के भी कुछ विशेष स्थलों की ओर पृथक पृथक संकेत किया जा सकता है—

(१) अभिव्यंजना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए एक प्रकार के भाव के लिए दो शब्द विभिन्न रूप के रहते हैं तो कुछ

कठिनाई रहती है। यदि अनुकूल और वर्ग बनाने योग्य कोई रूप बन सकता है तो जन-मस्तिष्क बना लेता है। ऐसे में पुराना रूप लुप्त हो जाता है। पूर्वीय और पौरस्त के रहते हुए भी पाश्चात्य के सादृश्य पर पौर्वात्य शब्द आज हिंदी में आ गया है।

(२) अधिक स्पष्टता लाने के लिए

यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्टतः न वहन कर सकते हों तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके रूप बना लिए जाते है। अंग्रेजी में ग्रीक-ism के आधार पर Optimism, Socialism, जर्मन—ard के अधार पर bastard, coward, इटैलियन esque के आधार पर romanesque, picturesque तथा फ्रेंच—al के आधार पर national Local आदि शब्द बना लिए गए हैं।

(३) समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए

अंग्रेजी के Before, after, लैटिन के antid, postid आदि इसके उदाहरण हैं।

संस्कृत में स्वसृ का पंचमी में स्वसुः, मातृ का मातुः, पितृ का पितुः तो ठीक हैं, पर इन्हीं समानता से सादृश्य पर पति का पत्युः रूप चल पड़ा है, यद्यपि पतेः होना चाहिए जैसा कि कुछ स्थानों पर मिलता भी है।

संस्कृत में अभ्यंतर और वाह्य शब्द थे। अभ्यंतर से हिंदी भीतर का बनना तो ठीक था पर वाह्य से बाहर क्यों बना। दोनों एक दूसरे के विपर्यय हैं अतः रूप की समानता देदी गई। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए निर्गुण के सादृश्य पर सगुण को सरगुण का रूप दे दिया गया है।

(४) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए

कभी-कभी कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है, तो उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों के सादृश पर नया रूप दे दिया जाता है। कभी-कभी नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाए जाते हैं। कुछ लोगों ने हिन्दी की 'इक' प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर ऐतिहासिक के स्थान पर इतिहासिक लिखना आरम्भ किया अब उसके सादृश्य पर समाजिक, व्यवहारिक आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं।

(५) शीघ्रता, अशुद्धि, तथा पाण्डित्य प्रदर्शन आदि

इनका प्रभाव अस्थायी होता है। शीघ्रता से, असावधानी से या अज्ञा-

नतः अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य का आगमन हो जाता है। बच्चों और विभाषियों की भाषा में इसके अनेक प्रयोग मिलते हैं। घोड़ों लड़कों और घरों के साथ अनेक का भी अनेकों हो गया यद्यपि अनेक स्वयं ही (एक न होने के कारण) बहुवचन है।

पांडित्य प्रदर्शन में भी अशुद्धि कभी-कभी सादृश्य का आधार लेती है। वाहुल्यता, पांडित्यता, आधिक्यता इसके उदाहरण लिए जा सकते हैं।

सादृश्य का आरंभ

कुर्टिअस आदि कुछ विद्वानों का मत था कि सादृश्य का आरम्भ हाल में हुआ है, पर इसके विपरीत ब्रील आदि इसे भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है। भाषा ही क्या जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरंभ से ही सादृश्य का आरंभ हुआ होगा। एक को घर बनाते देख वैसा ही दूसरे ने बनाया। तीसरे न जब उससे अधिक उपयोगी बनाया होगा तो अपनी सुविधा के लिए पहले और दूसरे ने भी अपने मकान को तीसरे के आधार पर नया रूप दिया होगा। भाषा के आरम्भ होने पर यही बात भाषा में भी लागू हुई होगी। व्याकरण के नियम सादृश्य के कार्य करने के उपरान्त ही समानता देखकर बनाए गए होंगे।

सादृश्य का प्रभाव

(१) नियम के विरुद्ध पाए जाने वाले अपवादों को दूर करके सादृश्य नियमबद्धता लाता है। अंग्रेजी की क्रियाएँ धीरे-धीरे इसी कारण एक रूप होता जा रही हैं।

(२) एक भाषा का दूसरी पर भी प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी वाक्यों का प्रभाव इसी रूप में नेहरू, जैनेन्द्र आदि के वाक्यों पर पड़ा है।

(३) दो जातियों के मिश्रण के बाद जब भाषा का विकास होता है, तो वहाँ भी सादृश्य ही काम करके भाषा को दोनों के उपयुक्त बनाता है।

(४) इसके प्रभाव से भाषा आसान होती जाती है। एसपिरैंतों इसी पर आधारित होने के कारण थोड़े समय में ही सीखी जा सकती है।

सादृश्य का क्षेत्र

भाषा विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख चारो शाखाओं में इसका क्षेत्र है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। पर रूप और ध्वनि में तो इसका प्रधान हाथ है। रूप, ध्वनि

तथा अर्थ के प्रकरण में परिवर्तनों के साथ इसका भी कुछ वर्णन किया गया है।

अंत में यह कहना असंगत न होगा कि भाषा के विकास में सादृश्य का प्रधान हाथ है।

[ख]

ध्रुवाभिमुख नियम (Law of polarity)

अफ्रीका के के भाषा कुलों में प्रधान कुल हेमटिक है। इस कुल की भाषाएँ उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में बोली जाती हैं। इन भाषाओं कि सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें संज्ञा एक बचन का बहुबचन बनाया जाता है तो उसका लिंग भी परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् संज्ञा एकबचन पुलिंग का बहुबचन स्त्रीलिंग, तथा संज्ञा एकबचन स्त्रीलिंग का बहुबचन पुलिंग हो जाता है।

इस कुल की एक प्रधान भाषा सोमाली से इस सम्बन्ध में उदाहरण लिए जा सकते हैं।

'होयोदि' (= माँ) स्त्रीलिंग एकवचन का बहुबचन 'होयोइन—कि' (माताएँ) शब्द वहाँ के व्याकरण से पुलिंग है। दूसरी और 'लिबाहिह्' (= शेर) पुलिंग एकवचन का बहुबचन शब्द 'लिबाहि्ह्यो-दि' (कई शेर) वहाँ के व्याकरण से स्त्रीलिंग है।

इस प्रकार के कुछ उदाहरण अफ्रीका के दूसरे भाषाकुल 'सेमिटिक में भी मिलते हैं पर वे अपवाद है, और प्रायः हामी (हेमिटिक) के प्रभाव स्वरूप हैं।

कारण और उसका स्पष्टीकरण

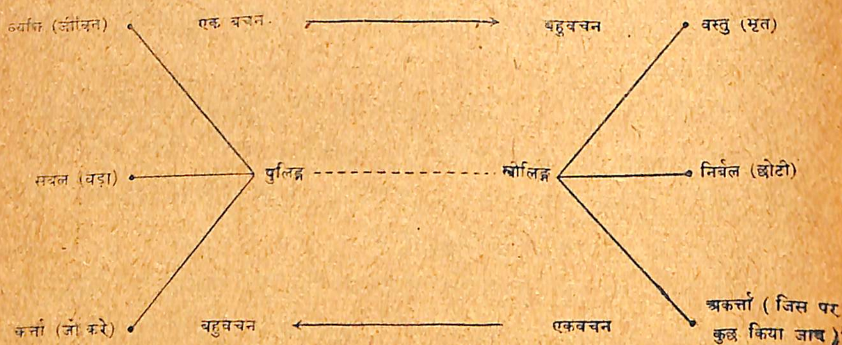
इन भाषाओं के विशेषज्ञ श्री मेनहाफ (Meinhof) ने इस विचित्रता का कारण यह बतलाया है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार का भी परिवर्तन मान लेता है। वह दोनो को अलग नहीं कर पाता। अर्थात् एक बचन से दूसरे बचन में जाने में वह मूल लिंग से भी दूसरे में जाना मान लेता है। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को वह संभवतः एक मानता है। इसका पूरा परिचय निम्न चित्र और विवरण से दिया जा सकता है।

इन भाषाओं में संज्ञाओं के २ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग 'व्यक्ति' का है और दूसरा 'वस्तु' का। व्यक्ति वर्ग 'जीवित' और वस्तु वर्ग 'मृत' माना जाता है। साथ ही व्यक्ति वर्ग की संज्ञाएँ 'सबल' और बड़ी मानी जाती हैं और दूसरी ओर वस्तु वर्ग की संज्ञाएँ 'निर्बल' और छोटी। इसके साथ ही एक और विचार है। वे लोग व्यक्ति वर्ग की संज्ञाओं को कर्त्ता या करने वाला मानते हैं और वस्तु वर्ग को वह जिस पर कुछ किया जाय।

प्रथम वर्ग की संज्ञाएँ पुलिंग हैं और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'व्यक्तित्व' 'जीवन' 'सबलता' बड़ा होना और 'कर्त्ता' उनकी प्रधानताएँ है। इसके उलटे दूसरे वर्ग की संज्ञाओं की 'वस्तुत्व' 'मरण' 'निर्बलता' 'छोटी होना' 'अकर्त्ता' आदि विशेषताएँ हैं।

प्राफेसर मैंनहाफ द्वारा बनाया गया चित्र

ऊपर की कही बातें इस चित्र से स्पष्ट की जा सकती हैं—



चित्र में ऊपर और नीचे तीर द्वारा वचन परिवर्तन दिखाया गया है पर साथ ही यह भी स्पष्ट है वचन के परिवर्तन होने पर संज्ञा एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चली जाती है, अतः उसमें सभी उलटी बातें [यदि एक बचन में संज्ञा पुलिंग, व्यक्ति, सबल, और कर्त्ता आदि थी तो बहुवचन में (ऊपरी तीर) स्त्रीलिंग वस्तु, निर्बल, तथा अकर्त्ता आदि] आ जाती हैं।

[ग]

एसपिरैंतो (Esperanto)

विश्व भाषा के निर्माण के लिए कितने ही लोगों ने प्रयास किया, पर इस सम्बन्ध में सबसे सफल और स्तुत्य प्रयास डाक्टर एल० एल० जमेन-

हाफ़ (Zomenhof) का है। आप बहुत ही बड़े भाषा-विज्ञान-विशारद थे। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं को लिख पढ़ और बोल सकते थे, आपने अपना पूरा जीवन इस कृत्रिम विश्व भाषा एसपिरैंतो के लिए लगाया।

आरम्भ और प्रचार

सर्व प्रथम सन १८८७ ई० में डाक्टर महोदय ने अपनी इस अभूतपूर्व भाषा को विश्व के समक्ष रखा। पहले तो लोग इसकी ओर आकर्षित न हो सके पर शीघ्र ही इसकी उपयोगिता और महत्ता समझ में आने लगी और यूरोप के बड़े बड़े विद्वान इसकी प्रशंसा करने लगे। प्रचारार्थ एक इसी नाम की संस्था खुली। लीग आँव नेशन्स ने सभी राष्ट्रों से इसके लिए कहा और यह भी प्रार्थना की कि स्कूलों में इसका पढ़ाया जाना आरम्भ हो। सन् १९२५ में अंतराष्ट्रीय टेलिग्राफिक संघ ने इसकी बड़ी प्रशंशा की और इसे बहुत ही स्पष्ट भाषा कहा। २ वर्ष बाद सन् १९२७ में संसार के ४४ प्रधान रेडियो स्टेशनों से इसके विषय में और इस भाषा में भाषण दिए गए।

एसपिरैंतों का साहित्य

इसमें कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी गई, पर अनूदित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। सब मिलाकर लगभग चार हजार पुस्तकें और बहुत सी पत्रिकाएँ हैं। अनूदित पुस्तकों में बाइबिल का अनुवाद बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इसका साहित्य दिन पर दिन बढ़ रहा है। अभी निकट भूत में एस-पिरैंतों भाषा में १०० से भी अधिक पत्रिकाएँ निकलती रही हैं।

कमी

इस भाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह जीवित भाषा नहीं है, और न तो इसका स्वाभाविक विकास ही हुआ है। यदि किसी राष्ट्र या क्षेत्र की यह मातृभाषा होती तो इसका प्रचार और अधिक तेजी से होता, और इसके सर्वमान्य होने की भी संभावना होती।

उपर्युक्त कमी के कारण ही सरल, उपयोगी और स्तुत्य भाषा होने पर भी अभी तक विश्व क्या किसी एक देश की भी भाषा बनने में एसपिरैंतो सफल न हो सकी।

व्याकरण लिपि और शब्द समूह

स्वयं एसपिरैंतो शब्द लैटिन के एक शब्द से बना है और इसका अर्थ 'आशापूर्ण' है।

डा० ज़मेनहाफ ने इसको बनाने के पूर्व बहुत सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया था। उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के संबन्ध में उन्होंने सोलह नियम बनाये जिन्हें कोई भी पढ़ा लिखा आदमी आधे घंटे में पूर्णतः समझ सकता है। इसके व्याकरण में सादृश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। वाक्यरचना की दृष्टि से यह अश्लिष्ट योगात्मक भाषा है। तुर्की की भाँति इसमें भी सम्बन्धतत्व बिलकुल स्पष्ट रहते हैं। उदाहरणार्थ :—

कैट (Kat) = बिल्ली
इन (in) = स्त्रीलिंग का चिह्न
इड (id) = बच्चों का चिह्न
एट (et) = छोटे का चिह्न
ओ (o) = संज्ञा का चिह्न

इनके योग से—

एक बिल्ली (स्त्री०) = कैट–इन–ओ (Kat–in–o)
एक बिल्ली का बच्चा = कैट–इड–ओ (Kat–id–o)
एक छोटी बिल्ली (स्त्री०) का बच्चा = कैट–इन–एट–इड–ओ (Kat--in--et-- id-o)

इसी प्रकार सभी शब्दों को पद बनाने के लिये केवल प्रत्यय जोड़नी पड़ती है।

इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपवाद नहीं मिलते। इसी कारण एक सप्ताह में पढ़कर ही बोली जा सकती है।

इसकी लिपि रोमन है, पर अंग्रेजी की भाँति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं। निश्चित नियम के अनुसार जो कहा जाता है वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है।

शब्द समूहों के लिये विशेषतः आधार भारोपीय है। धातु पर शब्द आधारित हैं। इन धातुओं में आधी से भी अधिक लैटिन भाषा से ली गई हैं और शेष में आधी से कुछ अधिक ट्यूटानिक भाषाओं की हैं। बाकी लगभग १० प्रतिशत धातुएँ अन्य भाषाओं की हैं।

इडो (Ido) : एक शाखा

बीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ लोग एसपिरैंतो में कुछ परिवर्तन के

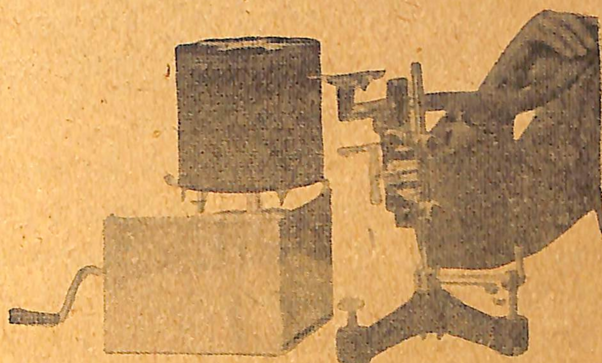
पक्षपाती हो गए। पर जब इसके प्रधान लोगों ने उन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं किया तो नए लोग एक नवीन परिवर्तित और अधिक उपयोगी तथा सरल भाषा को जन्म देने की बात सोचने लगे। इन लोगों में प्रधान काटुरट (Couturat) महोदय थे। इसी ध्येय से इस भाषा को और अधिक लचीली, वैज्ञानिक सरल और स्वाभाविक बनाकर सन् १९०७ में 'इडो' नाम से स्थापना की गई। 'इडो' शब्द स्वयं एसपिरैंतो भाषा का है, जिसका अर्थ 'बच्चा' या 'जन्मा हुआ' है।

एसपिरैंतो में जो कुछ कठिनाइयाँ थीं इडो में नहीं है, अतः यह विश्व भाषा होने के लिए और भी अधिक उपयोगी है। पर इन दोनों ही में कोई भी विश्व भाषा हो सकेगी यह विषय संदेहास्पद है। सत्य तो यह है, कि किसी भी कृत्रिम भाषा को यह स्थान प्राप्त हो सकेगा यह सोचना ही अस्वाभाविक और सत्य से दूर है।

[घ]

कायमोग्राफ् (Kymograph)

कायमोग्राफ में एक चौकोर बाक्स की तरह एक मशीन होती है। जिसके ऊपर सिगरेट के गोल डिब्बे की तरह एक बड़ी ढोल लगी होती है। ढोल के ऊपर चारों ओर धूएँ से काला किया हुआ एक चिकना कागज लपेट देते हैं। पास ही एक खड़े डंडे में छोटी सी मशीन और उसी से सबद्ध एक रबर की नली रहती है। रबर की नली के एक ओर एक चौड़ी



सी चीज़ लगी रहती है ताकि मुँह में ठीक से लगाया जा सके। दूसरी ओर एक पतली सी सूई रहती है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, सूई ढोल पर

लिपटे कागज़ पर लगी रहती है। मुँह में लगाए जाने वाले छोर को मुँह में लगाकर प्रयोगकर्ता बोलता है, इससे दूसरे छोर पर लगी सूई में कंपन होता है। उधर ढोल विद्युत् की सहायता से घूमने लगती है और सूई काले कागज़ पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर बनाने लगती है।

अनुनासिकता आदि देखने के लिए एक नली नाक से भी संबद्ध कर लेते हैं जो एक अलग निशान बनाती चलती है।

कायमोग्राफ़ का उपयोग

(क) घोष—अघोष

ध्वनियों के वर्गीकरण में हम देख चुके हैं कि कुछ ध्वनियाँ घोष और कुछ अघोष होती हैं। इसका निश्चय कायमोग्राफ़् की सहायता से पूर्णत: हो सकता है। अघोष ध्वनियों के उच्चारण करने पर ढोल वाले कागज़ पर बनी लकीर सीधी होती है। उसमें लहरें नहीं रहती हैं पर घोष ध्वनियों की लकीर लहरदार होती है। इसका कारण यह है कि घोष ध्वनियों में सूई नीचे ऊपर काँपती रहती है पर अघोष में नहीं।

(ख)·अल्पप्राण और महाप्राण

इन दोनों की लाइनों के कर्वों में भी स्पष्ट भेद रहता है। एक कुछ अधिक सीधा और दूसरा कम सीधा होता है।

(ग) स्पर्श तथा संघर्षी आदि

स्पर्श, स्पर्श संघर्षी, पार्श्विक आदि के कर्वों में भी सूक्ष्म अंतर रहता है जिसे लाइनों का अध्ययन करने वाला सरलता से पहचान सकता है।

(घ) अनुनासिकता

इसके लिये एक अन्य नली नाक में लगा लेते हैं। उसका भी दूसरा सिरा प्रथम की भाँति सूईयुक्त और ढोल पर लगा रहता है। अनुनासिक ध्वनि में नासिका से भी कुछ वायु निकलता है, अत: नासिका-नली की सूई अनुनासिक ध्वनि के समय लहरदार लकीर बनाती है, पर अननुनासिक ध्वनि में उसकी लकीर साधारण रहती है।

(ङ) मात्रा

एक घड़ी से संबद्ध करके एक तीसरी रबर की नली लगा लेते हैं। इससे एक लकीर समय प्रदर्शित करती चलती है। इसकी सूई एक सेकेंड

में सौ निशान बनाती है, जिसके देखने से पता चल जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में कितना समय लगा तथा यह वह दीर्घ है या लघु।

(च) शेष

इन सबके अतिरिक्त लकीरों के सूक्ष्म अध्ययन से विभिन्न बलाघातों तथा उच्चारण स्थानों की दृष्टि से भी ध्वनियों का अध्ययन हो सकता है। ध्वनि-प्रकरण में संगीतात्मक, बलात्मक एवं रूपात्मक स्वराघातों में विभिन्न लहरों के अंतर का जो वर्णन है उसके अध्ययन का भी आधार कायमोग्राफ् ही है। भविष्य में संभव है इसका प्रयोग और भी उपयोगी सिद्ध हो।

इसका प्रयोग पहले डाक्टर लोग करते थे, पर १८७६ में रोज़ापल्ली ने ध्वनि-अध्ययन में इसका प्रयोग किया और तब से इससे ध्वनि विज्ञान में बहुत सहायता मिलती आ रही है।

[ङ]

एक्सरे (X'Ray)

स्पर्श ध्वनियों के संबंध में जीभ के स्थान का पता कृत्रिम तालु से चलता है पर अन्य अस्पर्श व्यंजनों तथा स्वरों (अग्र, पश्च या संवृत, विवृत, अर्द्ध विवृत आदि के उच्चारण में जीभ की दशा तथा उसके कार्य का पता चलना इससे संभव नहीं। इसके लिये हमें एक्स' रे की सहायता लेनी पड़ती है।

बोलते समय इससे फोटो लेने पर प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में जीभ के स्थान का पता चल जाता है।

यह यंत्र भी कायमोग्राफ् की भाँति मूलतः डाक्टरों की चीज़ है, पर ध्वनियों के सम्बन्ध यह में भी भाषा के अध्ययन पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है।

लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope)

शीशे के आधार पर बना यह एक यंत्र होता है जिसे मुँह में डाल कर जब हम किसी ध्वनि का उच्चारण करते हैं तो उच्चारण करते समय स्वरतंत्री की दशा बाहर दिखाई पड़ती है।

यंत्र का इतिहास

सर्व प्रथम सन् १८०७ ई० में बोज़िनी (Bozzini) ने यह दिखाया

कि भीतर के बहुत से यंत्रों को शीशे के द्वारा बाहर दिखालाया जा सकता है। बाइस वर्ष बाद बोबिंगटन ने सर्वप्रथम इस प्रकार स्वर-यंत्र-मुख को देखने का प्रयास किया। १८५४ में प्रसिद्ध संगीतशास्त्रज्ञ गाशी ने इसी से अपने, और कई अन्य संगीतज्ञों के स्वर-यंत्र को देखा। इसके अधिक प्रचार का श्रेय उसी को है।

इसे कुछ और विकसित करके तर्क और ज़रमक आदि विद्वानों ने लैरिंगोस्कोप बनाया और १८८३ में सर्वप्रथम एल० ब्राउने ने इसके सहारे जीवित मनुष्य के स्वर-यंत्र की फ़ोटो ली।

इसके प्रयोग में अड़चन

लैरिंगोस्कोप से स्वरयंत्र, स्वर-यंत्र-मुख तथा स्वरतंत्री को बोलते समय देखकर ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु इसमें सबसे बड़ी अड़चन यह है कि मुँह में डालने पर ही यह संभव है और ऐसा करने पर स्वाभाविक रूप से बोलना असंभव हो जाता है। गले तक किसी यंत्र को मुँह में डालने पर हम असाधारण परिस्थिति में आ जाते हैं, अतः इस यंत्र का प्रयोग अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ।

फ़्लेटाउ (Flatu)

यों तो हिगनर, पैंकोनसेली आदि कई विद्वानों ने इस यंत्र को सुधारने का कार्य किया पर फ्लेटाउ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। इन्होंने इसे सुधार कर एंडोस्कोप (endoscope) बनाया, जिसके सहारे मुँह बन्द रहने पर भी स्वरयंत्र का अध्ययन हो सकता है।

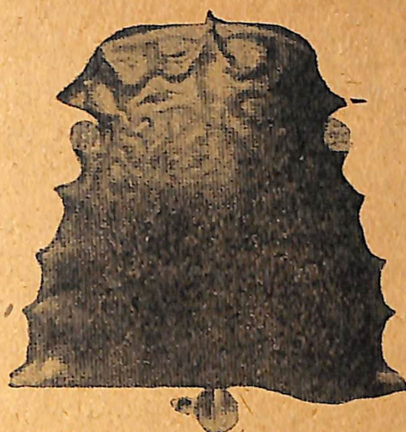
इस प्रकार ध्वनियों के मूलस्थान के अध्ययन में इस नवीन यंत्र एंडो-स्कोप से अब पर्याप्त सहायता मिलती है।

[छ]

कृत्रिम तालु (False palate)

प्रयोग

कायमोग्राफ् की भाँति कृत्रिम तालु भी प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (Experimental phonetics) के लिए बड़े काम की चीज़ है। प्रयोग करनेवाला इसे अपने मुँह की नाप का बनवाता है, जिससे कि बिना किसी अड़चन के यह तालु में बैठाया जा सके।



जैसा कि चित्र में दिखाई दे रहा है दाँतों की जड़ों में ठीक बैठ जाने के लिए दोनों ओर कोण निकले हैं। प्रयोग करने के पूर्व इसकी सतह पर खड़िया रगड़ कर सफेद कर लेते हैं और फिर मुँह में बैठा देते हैं। अब जिस अक्षर या जिस ध्वनि के विषय में जानना होता है उसका उच्चारण करते हैं। ऐसा करने में जीभ स्वाभाविक रूप से ध्वन्यानुसार तालु का स्पर्श करती है, पर वहाँ तालु के स्थान पर कृत्रिम तालु रहता है अतः फल यह होता है कि जीभ जिस स्थान पर स्पर्श करती है, वहाँ की खड़ियाँ जीभ में लग जाती है और वह स्थान बिना खड़िया के हो जाने से स्पष्ट हो जाता है। फिर हम कृत्रिम तालु को बाहर निकाल कर स्पर्श का अध्ययन करते हैं।

प्रयोग का उपयोग

कृत्रिम तालु की सहायता से यह देखा जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में जीभ तालु का कहाँ स्पर्श करती है। उदाहरणार्थ यदि हम कृत्रिम तालु मुँह में बैठाकर 'क' का उच्चारण करें तो कंठ के पास वाला तालु-भाग बिना खड़िया के दिखलाई देगा। इस प्रकार स्पर्श वर्णों का वैज्ञानिक अध्ययन इसकी सहायता से अच्छा हो सकता है।

विभिन्न भाषाओं में एक ही वर्ण के उच्चारण में क्या अंतर रहता है इसका भी पूर्ण ज्ञान स्पर्शों के संबंध में इसी से सम्भव है। यों हम समझते हैं कि अंग्रेजी के अक्षर T और हिंदी के 'ट' का स्पर्श स्थान एक

है पर कृत्रिम तालु से देखने पर पता चलेगा कि दोनों में महान अंतर है। हिन्दी का 'ट' मूर्द्धन्य है पर अंग्रेजी की 'टी' (T) वर्त्स्य है।

कायमोग्राफ और एक्स' रे की भाँति ही कृत्रिम तालु भी पहले डाक्टरों —विशेषतः दाँत की बीमारी में—के काम आता था। १८७१ में पहले पहल कोट्स ने प्रयोगात्मक भाषा-विज्ञान में इसका प्रवेश कराया और तब से इससे इस संबंध में काफी सहायता मिली है।

[ज]

ध्वनि-अध्ययन में सहायक कुछ नवीन यंत्र

स्वर-यंत्र के अध्ययन में सहायक प्लेटाउ द्वारा निर्मित एन्डो-स्कोप (endoscoqe) का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसी कार्य के लिए पैकोनसेली ने अपना आटोफोनोस्कोप (autophonoscope) बनाया।

प्रश्वास-किया के अध्ययन के लिए गट्ज़मैन (Gutzmann) का ग्रीदिगपलास्क तथा स्पिरोमीटर, स्टेथोग्राफ़, और न्यूमोग्राफ (Pneumograph) आदि हैं।

स्वरतंत्रियों को देखने के लिए लैरिंगोस्कोप के अतिरिक्त स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप नामक यंत्र भी बहुत ही उपयोगी है। विशेषतः स्वर-तंत्रियों के कार्य का अध्ययन इसके द्वारा बड़ी सरलता से किया जाता है।

[झ]

आइसोग्लास (Isogloss)

किसी भाषा या बोली में कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट शब्दों का या किसी एक शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। भाषा या बोली के नक्शे में उस विशिष्ट शब्द के प्रयोगस्थलों को मिलाती हुई जो रेखा खींची जाती है उसे आइसोग्लास कहते हैं। भाषा के नकशों में शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग आइसोग्लास का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में करते हैं। ब्लूमफील्ड के अनुसार आइसोग्लास उन रेखाओं को कहते हैं जो किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में भाषा संबंधी किसी भी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए खींची जाँय।

[ञ]

आइसोफोन (Lsophone)

जब किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में ध्वनि संबंधी कुछ विशेषताएँ कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही होती है तो नकशे में उनको एक रेखा के प्रदर्शित करते हैं। इन रेखाओं को ध्वनिरेखा या आइसो फोन कहते हैं।

आइसोग्लास की विस्तृत परिभाषा के अनुसार आइसो फोन भी एक प्रकार की आइसोग्लास हैं।

[ट]

ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic या onomatotoeic word)

किसी वस्तु या जानवर की ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द बना लिए जाते हैं उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। प्रत्येक भाषा में ऐसे बहुत से शब्द होते हैं। इसी अधार पर 'भाषा का आरंभ' ध्वन्यात्मक शब्दों मानने का एक सिद्धान्त है जो व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हिंदी के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। धड़धड़, छलछल, कलकल, भड़भड़, इत्यादि।

भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में इसका साधारण भाषा में प्रयोग मध्य भारतीय अर्थभाषा काल के तृतीय चरण के पूर्व नहीं मिलता।

[ठ]

प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-words)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। अभी तक ये साधारणतया बोलचाल में ही प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में इनको स्थान नहीं मिला है। पर ज्यों-ज्यों जन भाषा का साहित्य पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है, साहित्य में भी इनके प्रयोग की अधिक संभावना है।

इनमें किसी शब्द की ध्वनि के अनुकरण पर दूसरा शब्द बना कर उसी के साथ प्रत्युक्त होता है। इसका साधारणतया अर्थ 'इत्यादि' होता है। जैसे 'राम ओम' आए हैं। में ओम का अर्थ इत्यादि है। इसी प्रकार पानी-ओनी, खाना ओना, रुपया-उपया। मराठी (घोड़ा बीड़ा) बँगला तथा गुजराती आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है।

प्रतिध्वन्यात्मक शब्द केवल संज्ञा शब्दों के आधार पर ही नहीं बनते। 'जाना-अोना' आदि क्रियाओं के उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

[ड]

मैलाप्रापिज्म (Malaprr oism)

सुन्दर तथा बड़े शब्दों के प्रयोग की लालच से शब्दों का अनुचित प्रयोग करना मैलाप्रापिज्क कहलाता है। इसका नाम शेरिडान की पुस्तक मराइवल्स (The Riuals) के एक पात्र श्रीमती मैलाप्राप पर आधारित हैं, जिन्होंने इस प्रकार का बहुत प्रयोग किया है।

आज हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग बहुत हो रहे हैं। लोग उपसर्गों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। ज्ञान के स्थान पर अभिज्ञान, क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति, संधि के स्थान पर अभिसंधि इत्यादि अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं, जिनके अर्थ यथार्थतः कुछ दूसरे ही हैं।

[ढ]

आधार सिद्धान्त (Sugstratum thpory)

जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह (जाति या देश) अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भाषा को सीखता है तो नवीन भाषा पर अपनी भाषा के उच्चारण विषयक अनेक गुण आरोपित कर देता है। उसका सुर, बल आदि अपनी पुरानी भाषा का ही रहता है। इन सब कारणों से नवीन भाषा को कुछ परिवर्तित करके वह ग्रहण करता है। इसी को आधार सिद्धान्त कहते हैं।

आधार सिद्धान्त का प्रभाव

भाषा के परिवर्तन में इसका बहुत बड़ा हाथ है। जितनी ही भाषा विभाषियों द्वारा प्रयुक्त होगी उसमें विभाषी के मातृभाषा के आधार सीखने के कारण परिवर्तन आते जाएँगे।

बोलियों के बनने में भी इसका बड़ा हाथ है। एक भाषा जब विभिन्न वर्गों द्वारा ग्रहण की जाती है, तो आधार सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर काम करता है, और स्थानानुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। लैटिन भाषा को गाल और स्पेनी लोगों ने अपनाया और एक ही लैटिन भाषा आधार-सिद्धान्त के कारण (यद्यपि कुछ अन्य कारण भी साथ-साथ काम कर रहे

थे) स्पेनिश और फ्रेंच दो बोलियों में परिणत हो गई, जो आज स्वतन्त्र भाषाएँ बन गई हैं।

प्रथम जर्मन वर्ण-परिवर्तन आधार सिद्धान्त के ही कारण घटित हुआ कहा जाता है।

अंग्रेजी की ट् त् थ् आदि ध्वनियाँ हिन्दी से भिन्न हैं, पर यहाँ वे ट् त् थ् हो गई हैं। हमने अंग्रेजी को अपने आधार पर सीखा है, इसी कारण हमारे उच्चारण को न तो शीघ्रता से अंग्रेज समझ सकता है और न तो उसके उच्चारण को हम।

जेसपरसन आदि कुछ विद्वान तो भाषा के विकास में आधार सिद्धान्त को बहुत ही महत्वपूर्ण और बलशाली बतलाते हैं।

पारिभाषिक शब्द-सूची

क. हिन्दी-अंग्रेजी

अंक	Numerals
अंत अक्षरलोप	Apocope
अंत अक्षरागम	Coming of Syllable in the end
अंत योगात्मक	Suffix agglutinative
अंतर्मुखी श्लिष्ट	Internal Inflectional
अंतव्यंजनागम	Coming of Consonant in the end
अंतव्यंजन लोप	Elision of ending consonant
अंतस्वरागम	Coming of vowel in the end
अंत स्वर लोप	Elision of ending vowel
अकारण अनुनासिकता	Spontaneous Nazalization
अक्षर	Syllable
अक्षरलिपि	Letter writing
अक्षरलोप	Syllabic Elision
अघोष	Voiceless Breathed Unvoiced
अघोषीकरण	Devocalization
अनुकरणमूलकतावाद	Bow-wow theory
अनुरणनमूलकतावाद	Ding-dong theory
अनुदात्त	Grave
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकता	Nasalization
अनुरूपता	Assimilation
अनेकार्थता	Polysemia
अपवाद	Exception
अपश्रुति	Vocalic ablaut
आदि अक्षरागम	Coming of Syllable in the beginning

अपिनिहिति	Epenthesis
अपिश्रुति	Ablaut, Vowel gradation
अभिकाकल	Epiglottis
अभिश्रुति	Umlaut, Vowel Mutation
अयोगात्मक	Isolating
अर्थ	Meaning
अर्थतत्व	Semanteme
अर्थ संकोच	Contraction of meaning
अर्थादेश	Transference of meaning
अर्थोत्कर्ष	Ascending of meaning
अर्थापकर्ष	Descending of meaning
अर्थ परिवर्तन	Semantic change
अर्थ विचार	Semantics,Semasiology Rhemetology
अर्थविस्तार	Expansion of meaning
अर्द्ध संवृत	Half close
अर्द्ध विवृत	Half open
अर्द्ध स्वर	Semi vowel
अलिजिह्व	Uvula
अल्पप्राण	Unaspirated
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अव्यक्त योगात्मक	Holophrastic
अश्लिष्ट योगात्मक	Simple agglutinative
असार्वनामिक	Non-pronominalized
आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक	Partly Incorporative
आकृतिमूलक	Morphological, Syntactical
आगम	Coming
आदर्श भाषा	Standard language
आदि अक्षरलोप	Apheresis
आदि व्यंजनागम	Coming of the consonant in the beginning
आदि व्यंजनलोप	Elision of beginning Consonant

आदि स्वरागम	Prothesis
आदि स्वरलोप	Aphesis
आधार सिद्धान्त	Substratum theory
आधुनिक आर्यभाषा	New Indo-Aryan
आवृतमुखी	Unrounded
इतिहास	History
उच्चारण स्थान	Place of Articulation
उदात्त	Acute
उदासीन स्वर	Neutral vowel
उद्देश्य	Subject
उपपद	Article
उपमान	Analogy
ऊष्म	Sibilant
ऊष्मीकरण	Assibilation
एकांगी विपर्यय	Single-sided Metathesis
एकाक्षर	Monosyllabic
एक मूलीयभिन्नार्थक शब्द	Doublets
एसपिरेंतो	Esperanto
ऐतिहासिक	Historical
ऐतिहासिक वाक्य विचार	Historical syntax
ओष्ठ	Lip
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य	Analogy
कंठ	Gutter
कंठ्य	Velar, Gutteral,
कठोरतालु	Hard palate
कला	Art
काकल	Glottis
कीलाक्षर	Cuniform
कृत	Primary
कृत्रिमतालु	False palate

कोमलतालु	Soft palate
कौवा	Uvula
क्लिक	Click
क्रिया	Verb
ग्रंथिलिपि	Knot writing
ग्रिमनियम	Grim's Law
ग्रेसमैन नियम	Grassman Law
घोष	Voiced
घोषीकरण	Vocalization
चित्रलिपि	Hieroglythic, Picture writing
जिह्वा	Tongue
जिह्वा की नोक	Tip of the tongue
जिह्वाग्र	Front of the tongue
जिह्वामध्य	Middle of the tongue
जिह्वामूल	Root of the tongue
जिह्वामूलीय	Uvular
तद्धित	Secondary
तर्कशास्त्र	Logic
तालव्य	Palatal
तालव्य नियम	Palatal law
तालु	Palate
तुलनात्मक	Comparative
तुलनात्मक भाषाविज्ञान	Comparative Philology
तुलनात्मक वाक्य विचार	Comparative Syntax
तुलनात्मक व्याकरण	Comparative grammar
त्रयवाद	Trilogics
दंत	Teeth
दंत्य	Dental
दूरवर्ती अक्षर विपयर्य	Incontact syllabic Metathesis
दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण	Incontact regressive Assimilation
दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण	Incontact progressive Assimilation

दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय	Incontact Consonant Metathesis
दूरवर्ती स्वर विपर्यय	Incontact vowel metathesis
दैवी सिद्धान्त	Divine theory
द्वितीय वर्ण परिवर्तन	Second Teutonic sound-shifting
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
धातु	Root
धातु सिद्धांत	Root theory
ध्रुवाभिमुख नियम	Law of polarity
ध्वनि	Sound
ध्वनिग्राम	Phoneme
ध्वनितत्व	Phoneme
ध्वनि नियम	Phonetic Law
ध्वन्यानुकूल अनुलिपि	Phonetic Transcription
ध्वनि परिवर्तन	Phonetic change
ध्वनि प्रतीक	Sound symbolism
ध्वनि प्रवृति	Phonetic Tendency
ध्वनि रेखा	Isophone
ध्वनि लिपि	Phonogram
ध्वनि विज्ञान	Phonetics
ध्वनि विचार	Phonology
ध्वनि श्रेणी	Phoneme
ध्वनि सम्मिश्रण	Phonetic contamination
नव्य शाखा	Junggrammatiker
नासिका विवर	Nasal cavity
निपात प्रधान	Inorganic
नियम	Law
निरवयव	Inorganic
निर्णय सिद्धांत	Agreement theory
परस्पर विनिमय	Metathesis
पश्चगामी विषमीकरण	Regressive Dissimilation
पश्चजिह्वा	Rack of the tongue

पारस्परिक व्यंजन समीकरण	Mutual assimilation
पारिवारिक	Geneological
पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय	Contact Syllabic Metathesis
पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण	Contact regressive assimilation
पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण	Contact Progressive assimilation
पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय	Contact consonant metathesis
पार्श्ववर्यी स्वर विपर्यय	Contact vowel Metathesis
पार्श्विक	Lateral
पुरातत्त्व	Archaeology
पुरुष	Person
पुरोगामी विषमीकरण	Progressive Dissimilation
पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक	Completely Incorporative
पूर्ण शब्द	Full word
पूर्व योगात्मक	Prefix agglutinative
पूर्व सर्ग	Preposition
पूर्वान्त योगात्मक	Prefix suffix agglutinative
प्रतिध्वन्यात्मक शब्द	Echo word
प्रथमवर्ण परिवर्तन	First Teutonic sound-shifting
प्रधान स्वर	Cordinal vowel
प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान	Practical Phonetics
प्रश्लिष्ट योगात्मक	Incorporating
प्रागैतिहासिक खोज	Linguistic palaeontalogy, Urgeschichte.
बल	Stress
बल का अपसरण	Shift of emphasis
बलहीन (व्यंजन)	Weak (consonant)
बहिर्मुखी श्लिष्ट	External Inflectional
बलात्मक स्वराघात	Stress accent
बली (व्यंजन)	Strong (consonant)
बहुसंश्लेषात्मक	Polysynthetic
बोली	Dialect

भारोपीय कुल	Indo-European Family
भाव	Idea
भावलिपि	Ideography
भाषा	Language
भाषा का आरंभ	Origin of Language
भाषाओं का वर्गीकरण	Classification of Language
भाषा ध्वनि	Speech sound
भाषा परिवार	Family of speech or Language
भाषा विज्ञान	Linguistic, Philology
भूगर्भ विद्या	Geology
भूगोल	Geography
भेदभाव का नियम	Law of differentiation
भोजन नालिका	Gullet
भौतिक	Physical
भौतिक शास्त्र	Physics
भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति	Popular Etymology
भ्रामक व्युपत्ति	Popular Etymology
मध्य अक्षरागम	Coming of Syllable in the middle
मध्य अक्षरलोप	Elision of middle Syllable
मध्यकालीन आर्यभाषा	Middle Indo-Aryan
मध्य योगात्मक	Infix agglutinative
मध्य विन्यस्त प्रत्यय	Infix
मध्य व्यंजनागम	Coming of the Consonant in the middle
मध्य व्यंजन लोप	Elision of middle Consonant
मध्य स्वरागम	Anaptyxis
मध्य स्वरलोप	Syncope
मनोभावाभिव्यक्तिवाद	Pooh pooh Theory
मनोविज्ञान	Psychology
महाप्राण	Aspirated
महाप्राणीकरण	Aspiration

मात्राकाल (स्वर)	Quantity (vowel)
मानव विज्ञान	Anthropology
मानसिक	Mental
मान स्वर	Cordinal vowel
मिथ्या सादृश्य	False anology
मुख विवर	Mouth Cavity
मूर्द्धन्य	Cerebral, Retroflex
मूर्धा	Cerebrum
मैलाप्रापिज़्म	Malapropism
मौखिक	Oral
योगात्मक	Agglutinative
योग्यतमावशेष	Survival of the fittest
रचनात्मक भाषा	Building language
रज्जुलिपि	Thread writing
राष्ट्रभाषा	Lingua franca
रिक्त शब्द	Empty word
रूप परिवर्तन	Morphological change
रूप विचार	Morphology
रेखा लिपि	Line writing
लिखित	Written
लिपि	Script
लुंठित	Rolled
लोड़ित	Rolled
लोप	Elision
वर्गीकरण	Classification
वर्त्स्य	Alveolar
वर्त्स	Alveola
वर्नर नियम	Verner's Law
वाक्य	Sentence
वाक्य विचार	Syntax
विकासवाद	Evolution theory

विज्ञान	Science
विधेय	Predicate
विपर्यय	Metathesis
विभाषा	Foreign language
वियोगात्मक	Analytic
विशिष्ट भाषा	Special language
विशेषण	Adjective
विवृत	Open
विषमीकरण	Dissimlation
वृत मुखी	Rounded
व्यंजन	Consonant
व्याकरण	Grammar
व्युत्पत्ति शास्त्र	Etymology
शब्द	Word
शब्दांश विपर्यय	Spoonerism
शब्दार्थ विज्ञान	Semantics
शब्द समूह	Vocabulary
शरीर विज्ञान	Physiology
श्वास नलिका	Wind pipe
श्लिष्ट योगात्मक	Inflecting
श्रम परिहरणवाद	Yo-he-ho Theory
संगीतात्मक स्वराघात	Musical accent, Pitch Accent
संघर्षी	Fricative
संधि	Conjugation
संबंधतत्व	Morpheme
संयुक्त स्वर	Diphthong
संयोगात्मक	Synthetic
संवृत	Close
समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द या समध्वनीय शब्द	Homonym, Homophone
समस्वरागम	Epenthesis

समाक्षर लोप	Haplology ✓
समीकरण	Assimilation
सादृश्य	Analogy
सारूप्य	Assimilation
सार्वनामिक	Pronominalized
सावयव	Organic
सावर्ण्य	Assimilation
साहित्य	Literature
सूत्रलिपि	Thread writing
सुर	Tone
स्थान प्रधान	Positional
स्पर्श	Stop
स्वनंत	Sonant
स्वयंभू	Unconditional
स्वर	Vowel
स्वर अनुरूपता	Vowel Hormony
स्वरतंत्री	Vocal Cords
स्वरयंत्र	Larynx
स्वरयंत्र मुख	Glottis
स्वरयंत्र मुख आवरण	Epiglottis
स्वर संयोग	Vowel Combination
स्वराघात	Accent
स्वरित	Circumflex
स्वरीय अपिश्रुति	Vocalic Ablaut
स्वीकार वाद	Agreement Theory

———

ख. अंग्रेजी-हिंदी

Ablaut	अपिश्रुति
Accent	स्वराघात

Acute	उदात्त
Adjective	विशेषण
Agglutinative	योगात्मक
Agreement theory	स्वीकारवाद, निर्णय सिद्धांत
Alveolar	वर्त्स्य
Alveola	वर्त्स
Analogy	औपम्य, सादृश्य, उपमान
Analytic	वियोगात्मक
Anaptyxis	मध्य स्वरागम
Anthropology	मानवविज्ञान
Apheresis	आदि अक्षरलोप
Aphesis	आदि स्वरलोप
Apocope	अन्त अक्षरलोप
Archaeology	पुरातत्त्व
Aspiration	महाप्राणीकरण
Art	कला
Article	उपपद
Ascending of meaning	अर्थोत्कर्ष
Aspirated	महाप्राण
Assibilation	ऊष्मीकरण
Assimilation	समीकरण, सावर्ण्य, सारूप्य, अनुरूपता
Back of the tongue	पश्चजिह्वा
Bilabial	द्वयोष्ठ्य
Bow-wow theory	अनुकरणमूलकतावाद
Breathed	अघोष
Building language	रचनात्मक भाषा
Cerebral	मूर्द्धन्य
Cerebrum	मूर्द्धा
Circumflex	स्वरित
Classification	वर्गीकरण

Classification of language	भाषाओं का वर्गीकरण
Click	क्लिक
Close	संवृत
Coming	आगम
Coming of consonant in the beginning	आदि व्यंजनागम
Coming of consonant in the end	अन्त व्यंजनागन
Coming of consonant in the middle	मध्य व्यंजनागम
Coming of Syllable in the beginning	आदि अक्षरागम
Coming of Syllable in the end	अन्त अक्षरागम
Coming of syllable in the middle	मध्य अक्षरागम
Coming of vowel in the end	अन्त स्वरागम
Comparative	तुलनात्मक
Comparative grammar	तुलनात्मक व्याकरण
Comparative philology	तुलनात्मक भाषाविज्ञान
Comparative syntax	तुलनात्मक वाक्य विचार
Completely Incorporative	पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक
Conjugation	संधि
Consonant	व्यंजन
Contact consonant Metathesis	पार्श्ववर्ती व्यंजन विपर्यय
Contact syllabic Metathesis	पार्श्ववर्ती अक्षर विपर्यय
Contact progressive Assimilation	पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण
Contact regressive assimilation	पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण
Contact vowel Metathesis	पार्श्ववर्ती स्वर विपर्यय
Cordinal vowels	प्रधान स्वर, मानस्वर
Contraction of meaning	अर्थ संकोच
Cuniform	कीलाक्षर
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Dental	दंत्य
Descending of meaning	अर्थापकर्ष

Devocalization	अघोषीकरण
Dialect	बोली
Ding-dong theory	अनुरणनमूलकतावाद
Dissimilation	विषमीकरण
Diphthong	संयुक्त स्वर
Divine theory	दैवी सिद्धांत
Doublets	एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द
Echo words	प्रतिध्वन्यात्मक शब्द
Elision	लोप
Elision of beginning consonant	आदि व्यंजनलोप
Elision of ending consonant	अन्त व्यंजन लोप
Elision of ending vowels	अन्त स्वरलोप
Elision of middle consonant	मध्य व्यंजनलोप
Elison of middle syllable	मध्य अक्षरलोप
Empty word	रिक्त शब्द
Epenthesis	समस्वरागम, अपिनिहिति
Epiglottis	स्वरयंत्र मुख आवरण, अभिकाकल
Esperanto	ऐसपिरेंतो
Etymology	व्युत्पत्तिशास्त्र
Evolution theory	विकासवाद
Exception	अपवाद
Expansion of meaning	अर्थ विस्तार
External Inflectional	बहिर्मुखी-श्लिष्ट
False analogy	मिथ्या सादृश्य
False palate	कृत्रिम तालु
Family of speech or language	भाषा कुल, भाषा परिवार
First Teutonic sound shifting	प्रथमवर्ण परिवर्तन
Foreign language	विभाषा
Fricative	संघर्षी
Front of the tongue	जिह्वाग्र
Full word	पूर्ण शब्द

Geneological	पारिवारिक
Geography	भूगोल
Geology	भूगर्भ विद्या
Glottis	स्वरयंत्रमुख, काकल
Grammar	व्याकरण
Grassman law	ग्रैसमैन नियम
Grave	अनुदात्त
Grim's law	ग्रिम नियम
Gullet	भोजन नालिका
Guttur	कंठ
Half close	अर्द्ध संवृत
Half open	अर्द्ध विवृत
Hard palate	कठोरतालु
Haplology	समाक्षर लोप
Hieroglyphics	चित्रलिपि
Historical	ऐतिहासिक
Historical syntax	ऐतिहासिक वाक्य विचार
History	इतिहास
Holophrastic	अव्यक्त योगात्मक
Homonym	समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द
Homophone	समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द
Idea	भाव
Ideography	भावलिपि
Incontact consonant Metathesis	दूरवर्ती व्यंजन विपर्यय
Incontact progressive Assimilation	दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण
Incontact regressive Assimilation	दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण
Incontact syllabic Metathesis	दूरवर्ती अक्षर विपर्यय
Incontact vowel Metathesis	दूरवर्ती स्वर विपर्यय
Incorporating	प्रश्लिष्ट योगात्मक, बहुसंश्लेषात्मक, अव्यक्त योगात्मक
Indo-European Family	भारोपीय-कुल

Infix	मध्य विन्यस्त प्रत्यय
Infix agglutinative	मध्य योगात्मक
Inflecting	श्लिष्ट योगात्मक
Inorganic	निरवयव, निपात प्रधान
Internal Inflectional	अंतर्मुखी श्लिष्ट
Isolating	अयोगात्मक
Isophone	ध्वनि रेखा
Junggrammatiker	नव्य शाखा
Knot writing	ग्रंथिलिपि
Labial	ओष्ठ्य
Language	भाषा
Larynx	स्वरयंत्र
Lateral	पार्श्विक
Law	नियम
Law of differentiation	भेदभाव का नियम
Law of Polarity	ध्रुवाभिमुख नियम
Letter writing	अक्षर लिपि
Line writing	रेखा लिपि
Linguistics	भाषाविज्ञान
Linguistic Palaeontology	प्रागैतिहासिक खोज
Lingua franca	राष्ट्रभाषा
Lip	ओष्ठ
Literature	साहित्य
Logic	तर्क शास्त्र
Malapropism	मैलाप्रापिज़्म
Metathesis	विपर्यय, परस्पर विनिमय
Meaning	अर्थ
Mental	मानसिक
Middle Indo-Aryan	मध्यकालीन आर्यभाषा
Middle of the tongue	जिह्वा मध्य
Monosyllabic	एकाक्षर

Morpheme	संबंध तत्व
Morphological	आकृति मूलक
Morphological change	रूप परिवर्तन
Morphology	रूप विचार
Mouth Cavity	मुख विवर
Musical Accent	संगीतात्मक स्वराघात
Mutual assimilation	पारस्परिक व्यंजन समीकरण
Nasal	अनुनासिक
Nasal cavity	नासिका विवर
Nasalization	अनुनासिकता
Neutral vowel	उदासीन स्वर
New Indo-Aryan	आधुनिक आर्य भाषा
Non-pronominalized	असार्वनामिक
Numerals	अंक
Open	विवृत
Oral	मौखिक
Origin of language	भाषा का आरंभ
Organic	सावयव
Palatal	तालव्य
Palatal law	तालव्य नियम
Palate	तालु
Partly Incorporative	आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक
Person	पुरुष
Philology	भाषा विज्ञान
Phoneme	ध्वनितत्व, ध्वनि श्रेणी, ध्वनि ग्राम,
Phonetic contamination	ध्वनि सम्मिश्रण
Phonetic change	ध्वनि परिवर्तन
Phonetic law	ध्वनि नियम
Phonetics	ध्वनि विज्ञान
Phonogram	ध्वनि लिपि
Phonology	ध्वनि विचार

Phonetic tendency	ध्वनि प्रवृत्ति
Phonetic Transcription	ध्वन्यानुकूल अनुलिपि
Physical	भौतिक
Physics	भौतिक शास्त्र
Physiology	शरीर विज्ञान
Picture writing	चित्रलिपि
Pitch accent	संगीतात्मक स्वराघात
Place of Articulation	उच्चारण स्थान
Polysemia	अनेकार्थता
Polysynthetic	बहुसंश्लेषात्मक
Pooh Pooh Theory	मनोभावभिव्यक्तिवाद
Popular Etymology	भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति, भ्रामक व्युत्पत्ति
Positional	स्थान प्रधान
Practical Phonetics	प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान
Predicate	विधेय
Prefix agglutinative	पूर्व योगात्मक
Prefix suffix agglutinative	पूर्वान्त योगात्मक
Preposition	पूर्व सर्ग
Primary	कृत
Progressive Dissimilation	पुरोगामी विषमीकरण
Pronominalized	सार्वनामिक
Prothesis	आदि स्वरागम
Psychology	मनोविज्ञान
Quantity (vowel)	मात्राकाल (स्वर)
Regressive Dissimilation	पश्चगामी विषमीकरण
Retroflex	मूर्द्धन्य
Rhematology	अर्थ विचार
Rolled	लुंठित या लोड़ित
Root	धातु
Root of the tongue	जिह्वामूल
Root theory	धातु सिद्धान्त

Rounded	वृत्तमुखी
Science	विज्ञान
Script	लिपि
Secondary	तद्धित
Second Teutonic Sound-shifting	द्वितीय वर्ण परिवर्तन
Semanteme	अर्थ तत्व
Semantic change	अर्थ परिवर्तन
Semantics	अर्थ विचार, अर्थ विज्ञान, शब्दार्थ विज्ञान
Semi vowel	अर्द्धस्वर
Sentence	वाक्य
Sibilant	ऊष्म
Simple agglutinative	अश्लिष्ट योगात्मक
Single sided Metathesis	एकांगी विपर्यय
Shift of emphasis	बल का अपसरण
Soft palate	कोमल तालु
Sonant	स्वनंत
Sound	ध्वनि
Sound symbolism	ध्वनि प्रतीक
Special language	विशिष्ट भाषा
Speech sound	भाषा-ध्वनि
Spontaneous nasalization	अकारण अनुनासिकता
Spoonerism	शब्दांश विपर्यय
Standard language	आदर्श भाषा
Stop	स्पर्श
Stress	बल
Stress accent	बलात्मक स्वराघात
Strong (consonant)	बली (व्यंजन)
Subject	उद्देश्य
Substratum Theory	आधार सिद्धान्त
Suffix agglutinative	अन्त योगात्मक

Survival of the fittest	योग्यतमावशेष
Syllabic elision	अक्षर लोप
Syllable	अक्षर
Syncope	मध्य स्वरलोप
Syntactical	आकृतिमूलक
Syntax	वाक्य विचार
Synthetic	संयोगात्मक
Teeth	दंत
Tip of the tongue	जिह्वा की नोक
Thread writing	सूत्र या रज्जु लिपि
Tone	सुर
Tongue	जिह्वा
Transference of meaning	अर्थादेश
Trilogics	त्रयवाद
Umlaut	अभिश्रुति
Unaspirated	अल्पप्राण
Unconditional	स्वयंभू
Unrounded	आवृत्तमुखी
Unvoiced	अघोष
Urgeschichte	प्रागैतिहासिक खोज
Uvula	अलिजिह्व, कौवा
Uvular	जिह्वामूलीय
Velar	कंठ्य
Verb	क्रिया
Verner's Law	वर्नर नियम
Vocabulary	शब्द समूह
Vocal cords	स्वरतंत्री
Vocalic Ablaut	स्वरीय अपिश्रुति, अपिश्रुति
Vocalization	घोषीकरण
Voiced	घोष
Voiceless	अघोष

Vowel	स्वर
Vowel combination	स्वर संयोग
Vowel gradation	अपिश्रुति
Vowel hormony	स्वर अनुरूपता
Vowel mutation	अभिश्रुति
Weak (consonant)	बलहीन (व्यंजन)
Windpipe	श्वास नलिका
Word	शब्द
Written	लिखित
Yo-he-ho theory	श्रमपरिहरण सिद्धांत

———

अनुक्रमणी

व्यक्तियों के नाम

[पुस्तक में प्रयुक्त भाषा-विज्ञान के विद्वानों तथा अन्य व्यक्तियों के नामों की यह अक्षर क्रम से सूची है। संख्याएँ पृष्ठ संख्या प्रकट करती हैं। सामान्य अनुक्रमणी या विषय अनुक्रमणी इसलिये नहीं दी जा रही है कि विषय-तालिका इतने विस्तार से है कि उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती।]